"स्वामी विवेकानंद के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का एक आलोचनात्मक अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशक :
डा० के० के० मिश्र
(प्रोफेसर राजनीति विज्ञान-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्त्री :
कविता मिश्रा
(एम० ए०, राजनीति शास्त्र)

राजनीति-विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
1997

CERTIFICATE

This is to certify that the work embodied in this dissertation intitled "स्वामी विवेकानंद के सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों का एक आलोचनात्मक अध्ययन" is the original work of the candidate **KM. KAVITA MISHRA,** and is suitable for the award of D.Phil Degree in Political Science of the University of Allahabad. The candidate has fulfilled the requirements of attendance, and stay.

K. K. Misra

(DR. K.K. MISRA)
Supervisor

-: आभार :-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध - **"स्वामी विवेकानंद के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का एक आलोचनात्मक अध्ययन"** को पूर्ण करने में अनेक विद्वतजनों, प्राध्यापकों, विशिष्ट व्यक्तियों, शोधकर्त्ताओं, स्वजनों तथा शुभचिन्तकों से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रोत्साहन, सहायता एवं मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ । शोधकर्त्री इन सभी के प्रति कृतज्ञ है, जिनके मार्ग-दर्शन, सहयोग, स्नेह तथा आशीर्वाद के बिना यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण कर पाना अत्यंत दुष्कर कार्य था ।

सर्वप्रथम मैं अपने शोध - निर्देशक प्रोफेसर (डॉ0) के0के0 मिश्रा जी के प्रति विनम्र आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने प्रस्तावित विषय पर शोध की प्रेरणा से लेकर पूर्ण होने तक शोध के प्रत्येक चरण में विद्वतापूर्ण निर्देशन तथा पथ - प्रदर्शन किया । उनके प्रति आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं है। गुरूपत्नी श्रीमती माया मिश्रा द्वारा प्राप्त स्नेह एवं आशीर्वाद ने भी समय-समय पर मार्ग-दर्शन का कार्य किया । उनके स्नेह एवं आशीर्वाद के प्रति मैं पूर्ण हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

मैं अपने विभागाध्यक्ष डॉ0 उमाकान्त तिवारी - राजनीति शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ । जिन्होंने समय-समय पर अपना सहयोग प्रदान किया । इसके अतिरिक्त भूतपूर्व प्रोफेसर डॉ0 हर्षनाथ मिश्रा- (राजनीति - शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) तथा स्वर्गीय डॉ0 माता बदल जायसवाल (प्रोफेसर हिन्दी, विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का असीम स्नेह व दिशा - निर्देशन सदैव ही अविस्मृत रहेगा । मेरे दिशा निर्देशकों में प्रो0 के0पी0 दुबे (अवकाश प्राप्त)- विभागाध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग, इलाहाबाद डिग्री कालेज तथा श्री कुंज बिहारी मिश्र,

प्राध्यापक, जवाहर लाल नेहरू स्मारक इण्टरमीडिएट कॉलेज जारी, इलाहाबाद का नाम भी शामिल है जिन्होंने निराशा व दिग्भ्रमित क्षणों में प्रोत्साहित कर दिशा बोध प्रदान किया ।

इसके अतिरिक्त पुस्तकालयाध्यक्ष प्रोफेसर एच0आर0 सिंह, उप0पु0अ0 एस0के0 रिज़वी इ0वि0वि0 तथा गुरूमहाराज स्वामी निखिलात्मानंद जी (रामकृष्ण मिशन आश्रम) व पुस्तकालय, इलाहाबाद रामकृष्ण मिशन के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा वहाँ के कार्यकर्त्ताओं के सहयोग को भी नहीं भुलाया जा सकता है जिन्होंने समय-समय पर मुझे शोध - साहित्य उपलब्ध कराया । रामकृष्ण मिशन में होने वाले सम्भाषणों, सभाओं व प्रवचनों से भी स्वामी विवेकानंद के जीवन को भली-भाँति समझने में सहायता प्राप्त हुई । रामकृष्ण मिशन (आश्रम) इलाहाबाद से प्राप्त सहयोग के प्रति मेरा हृदय सदैव ही अनुगृहीत रहेगा ।

स्वजनों में सर्वप्रथम मैं अपनी बड़ी बहन श्रीमती सविता मिश्रा (स0अ0 जवाहर कालेज) के प्रति आभार व्यक्त करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ जिनके पूर्ण सहयोग से एकाग्रचित्त होकर मुझे शोध-प्रबंध सर्जन करने में सहायता प्राप्त हुई । इसके अतिरिक्त मेरे पिता श्री प्रभाकर मिश्र, माँ श्रीमती शारदा मिश्रा, छोटी बहन कु0 सरिता मिश्रा तथा दो भाइयों में - रवीन्द्र कुमार व सत्येन्द्र कुमार से भी नित्य प्रति जो पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ उसके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

मेरे शुभचिन्तकों व मित्रों मे श्रीमती ममता द्विवेदी, श्री रवीन्द्र कुमार श्रीवास्तव व श्री संजीव कुमार जी का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है जिनके प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग से मेरा शोध - कार्य सकुशल सम्पन्न हो सका ।

उपरोक्त सहयोगियों, मार्ग-दर्शकों के अतिरिक्त कार्य को परिपूर्णता प्रदान करने में श्री राम प्रकाश साहू **(आस्था इलेक्ट्रानिक टाईपिंग, पुराना कटरा, मनमोहन पार्क, इलाहाबाद)** का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है । जिन्होंने अपने स्नेहिल सहयोग से शोध प्रबन्ध को टंकित करके मेरे लक्ष्य का अन्तिम चरण पूर्ण किया ।

इसके अतिरिक्त अपने देश की गौरवमयी संस्कृति की पुर्नव्याख्या वह महान प्रेरणा स्रोत है जिसने मुझे स्वामी विवेकानंद पर शोध कार्य करने को प्रेरित किया । अंत में मैं उन समस्त विद्वानजनों, लेखकों के प्रति हृदय से आभारी हूँ, जिनके ग्रन्थों से सहायता प्राप्त कर मेरा शोध-प्रबंध पूर्ण हुआ ।

दिनांकः 22.12.1997

(कविता मिश्रा)
शोधार्थिनी

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ मध्ययुग का अंत और आधुनिक युग का सूत्रपात माना जाता है । सन् 1757 ई0 के प्लासी युद्ध के बाद भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति के अधिकाधिक संसर्ग में आती गई । संघर्ष एवं समन्वय की इस स्थिति में भारत की सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ । इस सांस्कृतिक चेतना के उदय के पीछे अनेक प्रेरणादायक शक्तियाँ कार्य कर रही थीं, जिनमें कुछ साहित्यिक संस्थाएँ, नवीन शिक्षा प्रणाली, प्रेस और पत्र - कारिता, राजनैतिक चेतना तथा अनेक समाज - सुधार आन्दोलनों का नाम लिया जा सकता है । ब्रह्म - समाज आर्य समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, मुस्लिम - सुधार आन्दोलन, बहावी आन्दोलन, सिक्ख सुधार - आन्दोलन सहित अनेकों आन्दोलनों के द्वारा सामाजिक-व्यवस्था में परिवर्तन के लिये कार्य किया गया ।

ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी इत्यादि संस्थाओं के द्वारा जो भी कार्य किया गया वह पूर्णतया भारतीयता के रंग में रंगा हुआ नहीं था । राजा राम मोहन राय, केशव चन्द्रसेन, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर सहित कई अन्य समाज सुधारक पाश्चात्य सभ्यता व रीति-रिवाजों को ही अपनाने के लिये दृढ़ - प्रतिज्ञ थे । इन आन्दोलनों में रामकृष्ण - मिशन ने भारतीयों को यह विश्वास दिलाया कि हमारा प्राचीन धर्म तथा सांस्कृतिक विरासत बहुत महान है । इस आन्दोलन ने भारतीयों को बहुत से पुराने सड़े-गले तथा जर्जर रीति-रिवाजों को त्यागने के लिए प्रेरित किया। रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का प्रचार सम्पूर्ण विश्व में किया और भारतीय धर्म-दर्शन की पताका शिकागो धर्म-महासभा में फहराई ।

यह शोध-प्रबन्ध स्वामी विवेकानन्द द्वारा "सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में" सुधार हेतु प्रस्तुत अनुपम विचारों का एक संकलन है । शोध-प्रबन्ध का प्रणयन सात अध्यायों में किया गया है ।

प्रथम-अध्याय में आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चेतना का विवरण है। यह सांस्कृतिक-चेतना उन्नीसवीं शताब्दी और उसकी पूर्ववर्ती घटनाओं का ही परिणाम थी जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी को राष्ट्रवादी भावना से परिपूर्ण नवीन भारत का निर्माण करने के लिये एक ठोस पृष्ठ भूमि प्रदान की थी ।

द्वितीय-अध्याय में स्वामी विवेकानन्द जी के गुरू श्री राम कृष्ण-परमहंस का जीवन-परिचय तथा उनके प्रमुख विचारों का वर्णन किया गया है । श्री राम कृष्ण पर विचार किये बिना विवेकानन्द को नहीं समझा जा सकता है । रामकृष्ण द्वारा प्रस्तुत विचार ही विवेकानन्द जी के विचारों की प्रमुख आधारशिला हैं ।

तृतीय-अध्याय में स्वामी विवेकानन्द का जीवन-परिचय तथा उनके कुछ प्रमुख विचारों का निरूपण किया गया है । स्वामी राम कृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों में समानता का भी जगह-जगह उल्लेख किया गया है ।

चतुर्थ-अध्याय के अन्तर्गत स्वामी विवेकानन्द के विचारों को जन्म देने वाले प्रमुख स्रोतों पर विचार किया गया है । स्वामी जी का दृष्टिकोण पूर्णतया आध्यात्मिक था । इस दृष्टिकोण के निर्माण के पीछे जिन प्रमुख तत्वों का सहयोग है - उनमें पारिवारिक वातावरण का प्रभाव विशेष रूप से महत्वपूर्ण है । भारतीय धर्म-दर्शन तथा भारतीय सांस्कृतिक धरोहर ने भी उनके विचारों को प्रमुख आधारशिला प्रदान की । इसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख स्रोतों का भी प्रस्तुत अध्याय में विश्लेषण किया गया है।

पंचम-अध्याय में स्वामी विवेकानन्द जी के सामाजिक विचारों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है । इस अध्याय में अनेक सामाजिक समस्याओं का उल्लेख कर स्वामी विवेकानन्द द्वारा उन समस्याओं का निराकरण प्रस्तुत किया गया है । सामाजिक समस्याओं में जिन प्रमुख समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया गया है उनमें जाति तथा वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता, धार्मिक अव्यवस्था, शिक्षा, स्त्री दशा, विवाह आदि प्रमुख हैं ।

षष्ठ-अध्याय में स्वामी विवेकानन्द जी के प्रमुख राजनीतिक विचारों का सुविस्तृत विवेचन किया गया है । अंग्रेजों ने भारत में मौर्यों तथा मुगलों के साम्राज्य से भी बड़ा राज्य स्थापित कर लिया था। अंग्रेजी शक्ति ने भारत पर राजनीतिक एकता लाद दी थी । एक सी अधीनता, एक सी समस्यायें, एक से कानूनों ने भारत को एकता के ढ़ाँचे में ढ़ालना आरम्भ कर दिया था । यही कारण है कि भारतीय जन-मानस अनेक राजनीतिक विचारों से ओत-प्रोत हो गया । देश में आत्म-निर्णय के अधिकार की लहर फैल गई । स्वामी रामकृष्ण ने युवकों का एक दल तैयार किया, जो देश की आज़ादी के लिये आगे आया । स्वामी विवेकानन्द जी ने गुरूदेव के कार्यों को आगे बढ़ाया और स्वतंत्रता, समानता, समाजवाद, राष्ट्रवाद, अंतर्राष्ट्रवाद तथा सार्वभौमिकता जैसे विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये । प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत स्वामी विवेकानन्द जी के इन्हीं विचारों को समाविष्ट किया गया है ।

सप्तम-अध्याय में स्वामी विवेकानन्द के "सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों" का समीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि स्वामी विवेकानन्द जी न केवल तत्कालीन भारत के बल्कि आधुनिक भारत के भी आध्यात्मिक पिता हैं ।

*****

-: विषयानुक्रमणिका :-

*****

प्रथम - अध्याय

आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चेतना

भारत भूमि वह प्राचीन और पवित्र भूमि है, जहाँ से सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान का प्रसार हुआ । तत्व-ज्ञान ने भी सर्वप्रथम इसी भूमि को वास भूमि बनाया। यहीं से अध्यात्मिक प्रवाह हिमालय की उच्च शिखर से सम्पूर्ण विश्व में प्रवाहित हुआ । यह वही भारत भूमि है, जहाँ संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरणराज पड़ चुकी है । यहीं सबसे पहले मनुष्य, प्रकृति तथा अन्तर्जगत के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे । इसी प्रकार आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एवं जगह प्रपंच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा - विषयक मतवादों का पहले-पहल यहीं उद्भव हुआ था । यहीं पर धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी ।[1] भारत की इसी पुण्य भूमि को पुराणों में "भरतवर्ष" या "भारतवर्ष" कहा गया है । खारवेल के अभिलेख में इस शब्द को "भरधवस" कहा गया है । मार्कण्डेय पुराण (57/59) के अनुसार भारतवर्ष के पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में समुद्र एवं उत्तर में हिमालय है । विष्णु पुराण (2/3/1) में भी यही उल्लेख है । मत्स्य, वायु आदि पुराणों में भारतवर्ष कुमारी अन्तरीप से गंगा तक कहा गया है । जैमिनी के भाष्य में शंकर ने कहा है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भाषा एवं संस्कृति में एकता है ।[2] विष्णु पुराण ने भारतवर्ष को स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म भूमि माना है । (कर्म भूमि रियं स्वर्गमयवर्ग च गच्छताम्) वायु पुराण में भी यही बात दुहराई गई है ।

अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परम्परा के कारण ही सैकड़ों वर्षों तक पराजित रहने के बाद भी भारतीय संस्कृति अपने पुण्य प्रताप एवं ईश्वर की कृपा से विलुप्त नहीं हुई । सैकड़ों विपरीत परिस्थितियों के बीच रहने पर भी भारतीय संस्कृति अपनी रक्षा करने में समर्थ सिद्ध हुई है । बौद्ध-धर्म के अवसान-काल में ऐसे अनेक तत्व

---

1. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ - 179
2. धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन एवं काणे, पृष्ठ-107, 108

हमारे देश की संस्कृति में प्रवेश कर गये जिनसे देश का पूर्णतया पतन हो सकता था उनमें से कई दोष हमारे हिन्दू धर्म में भी समाहित हो गये थे । बौद्धों के नैतिवाद और बिना विचार के सन्यास ग्रहण की प्रथा ने भारतीय समाज को कर्म - विमुख और दुर्बल कर दिया था ।[1] समाज में अनेकों कुप्रथाएँ व्याप्त थी । ऐसे वातावरण में हिन्दू-समाज अपने को विविध बन्धनों में बांधने लगा था । विदेश-गमन प्रायः निषिद्ध हो गया तथा हिन्दू राजशक्ति के अभाव की पूर्ति करने के लिये समाज के संरक्षण की व्यवस्था पुरोहितों ने अपने हाथ मे ले ली । मुसलमानों के द्वारा जबर्दस्ती धर्म - परिवर्तन कराये जाने से अपनी रक्षा के लिये हिन्दुओं की जाति भेद प्रथा और अधिक दृढ़ रूप से कंधे पर लाद दी गई थी । मुसलमानों का अनुकरण करते हुए नारियों की पर्दा - प्रथा को हिन्दू समाज ने भी स्वीकार कर लिया था । धीरे-धीरे ऐसी अव्यवस्था हो गयी थी कि स्वाभाविक और सबल मार्ग के सहारे आत्म-विकास का अवसर न प्राप्त होने के कारण समाज ने वीभत्स - वामाचार आदि गोपनीय क्रिया-कर्मों का सहारा ले लिया । धर्म के नाम पर एक अन्तर्घाती दुराचार भारतीय समाज में आसीन हो गया । विदेशियों के द्वारा भारतीयों के सुख और स्वच्छन्दता की अपेक्षा अपनी धन-सम्पदा की वृद्धि और भोग व्यवस्था में मन लगाने से भारत में दरिद्रता बढ़ गयी । रोग, अकाल मृत्यु, दुर्भिक्ष आदि धीरे-धीरे बढ़ने लगे । वस्तुतः धर्म, शिक्षा, समाज-व्यवस्था, उद्योग, वाणिज्य, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में उन दिनों भारत-पतित और पदभ्रान्त हो गया था । ऐसा लगता था, मानों भारतीयों की भारतीयता शीघ्र ही पूरी तरह मिट जाएगी ।[2]

तत्कालीन भारतीय दुर्व्यवस्था के युग में अनेक विदेशी शक्तियों ने यहाँ पर अपना प्रभाव बढ़ाया । इसी समय पश्चिमी जातियों का भी आगमन हुआ । डच,

---

1. युगनायक विवेकानन्द (प्रथम भाग), स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 4
2. युगनायक विवेकानन्द (प्रथम भाग), स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 5

पुर्तगाली, फ्राँसीसी आदि विदेशियों के बाद अंग्रेजों का आगमन हुआ । इन पश्चिमी जातियों की एक अलग ही प्रकार की संस्कृति थी । ये जातियाँ प्रमुख रूप से व्यापार के बहाने धन लूटने के लिये यहाँ आई थी ।[1] अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया । अंग्रेजों ने अपनी संस्कृति को भारतीय संस्कृति की अपेक्षा श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास किया । उन्होंने न केवल वाह्य जगत में बल्कि - मनोजगत पर भी अधिकार स्थापित कर, एक दीर्घ-काल तक अपने शासन-करने का सुख-स्वप्न देखा ।

यूरोपीय शक्तियों के आने के पहले जिन विदेशियों ने भारत में अपने राज्य का विस्तार किया था, उन्होंने सभ्यता के क्षेत्र में भारत की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता का दावा नहीं किया ।[2] अंग्रेजों के पहले जिन शक्तियों ने भारत पर आधिपत्य स्थापित किया था उन्होंने अन्ततः भारतीय संस्कृति में अपने आपको आत्मसात कर लिया था। यहाँ तक कि भारतीय समाज में अपने अस्तित्व को ही विलीन कर दिया था । मुसलमानों ने धर्म और संस्कृति को छोड़कर अर्थ, राजनीति और शिक्षा आदि के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के साथ समन्वय स्थापित कर लिया था । किन्तु अंग्रेजों की कार्य-प्रणाली का स्वरूप अन्य शक्तियों से सर्वथा अलग था । अंग्रेजों के सांस्कृतिक-अभियान का उद्देश्य ही यही था कि भारतीय, क्षेत्रीय स्तर पर तो अपनी भाषा और संस्कृति को बनाये रखें किन्तु अखिल भारतीय स्तर पर पश्चिमी संस्कृति का ही विस्तार हो ।[3]

अपने इसी दृष्टिकोण को क्रियान्वित करने के लिये अंग्रेजों ने भारत में, शिक्षा, यातायात, विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में सुधार करना आरम्भ कर दिया ।

---

1. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 5
2. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 6
3. आधुनिक भारत का इतिहास, एक नवीन मूल्यांकन, यशपाल, ग्रोवर, पृष्ठ - 35।

उन्होंने भारत में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली स्थापित करने की योजना बनाई जो उन्हीं के उद्देश्य को पूरा करने में सहायक सिद्ध हो । अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की स्थापना कर वे पाश्चात्य - संस्कृति समर्थक एक वर्ग तैयार करना चाहते थे । पाठ्य - पुस्तकों, समाचार - पत्रों एवं धर्म - प्रचार के माध्यम से सरल भाषा में भारतवासियों को यह समझाने का प्रयास किया जाता था कि भारत वर्ष की अपनी कोई विशेषता नहीं है, जिसे आधुनिक विश्व में बचाकर रखना आवश्यक हो । प्रगतिशील बनने के लिए भारत को सब कुछ विदेशों से ही ग्रहण करना होगा । वेश-भूषा, भोजन, शिष्टाचार, व्यक्तिगत धर्म आदि सभी क्षेत्रों में पश्चिमी संस्कृति का सम्मान बहुत अधिक है ।[1]

अंग्रेजों ने अतीत काल में भारतीयों द्वारा की गई विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति के विषय में कहा कि यह उन्नति वस्तुतः दूसरी सभ्यताओं की सहायता से ही सम्भव हुई थी । मौलिकता भारत की नहीं, बल्कि ग्रीस, मिश्र या अरब की थी । भारत की जो निजी वस्तु है, उसका मूल्य तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य है । पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति, वेदान्त, वेद और धर्म की तीव्र आलोचना की । उस समय जिस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की गई थी उसे स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में "नेति मूलक-शिक्षा" कहा जा सकता है ।[2] नेति मूलक शिक्षा व्यवस्था से किसी देश का कल्याण नहीं हो सकता । क्योंकि यह शिक्षा प्रणाली अपने देश की संस्कृति पर आधारित न होकर दूसरे देश की संस्कृति पर आधारित और अन्धे अनुकरण का परिणाम होती है ।

तत्कालीन परिस्थितियों में अग्रेजों ने भारतीयों में दास-सुलभ दुर्बलता का बीज बो दिया था । उन दिनों शिक्षित वर्ग अंग्रेजों के समान खान-पान, वेश-भूषा आदि को ही अपनाने में व्यस्त रहता था । खुलेआम अभक्ष्य भोजन और मदिरापान

---

1. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 6
2. विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड, पृष्ठ - 249

करना सभ्यता का अंग माना जाता था ।[1] अंग्रेजों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की तीखी आलोचना की । परिणाम स्वरूप 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही भारतीय सामाजिक, व्यवस्था का वातावरण कई प्रकार की विरोधी आलोचनाओं, भौतिकवाद और घोर नास्तिकता के द्वारा विषाक्त हो गया था । जहाँ एक ओर ईसाई-मिशनरियाँ हिन्दू-धर्म की निन्दा कर रही थीं । वे छल-बल का प्रयोग कर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन करवाने में लगी हुई थीं । वहीं दूसरी ओर धर्म-विमुख पश्चिमी विज्ञान अपनी सफलता के गर्व से चूर-चूर होकर श्रद्धा - भक्ति, गुरू - परम्परा, इतिहास, पुराण, रीति-नीति आदि को लुप्त कर देने का जैसे निश्चय कर चुका था ।[2] इस पश्चिमी धर्म और विज्ञान के दुहरे आक्रमण के समक्ष भारतीय धर्म और संस्कृति का टिके रहना बहुत आसान नहीं था ।

हमारे देश ने अपनी अन्तरात्मा में हजारों वर्षों के अतीत के गौरव को संजोए रखा है । पूर्व कालीन मनीषियों और शास्त्रों के द्वारा दिखाए गए पथ पर चलकर ही हमने सैकड़ों बाधा-विपत्तियों को लांघते हुये, युगोपयोगी नई साधना पद्धतियों का अविष्कार किया है । यही कारण है कि अंग्रेजों द्वारा चलाये गये दुष्प्रचार और कु-व्यवस्थाओं के होते हुए भी यह देश इतनी आसानी से नष्ट नहीं हो सका ।[3] भारत के भाग्य-विधाता ऐसा होने भी नहीं देंगें, क्योंकि ऐसा होने पर संसार से एक ऐसी वस्तु सदा के लिये लुप्त हो जायेगी, जिसकी पूर्ति असम्भव है ।

अतः निराशापूर्ण बदलाव की दिशा में प्रतिक्रिया की शुरूआत हुई । भारत की आत्म-रक्षा की शक्ति धीरे-धीरे स्थिरता के लिये तत्पर हुई । आरम्भ में इस शक्ति की स्थापना पूरी तरह सफल न हो सकी । परिस्थितिवश पश्चिमी भावों के

---

1. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 111
2. युगनायक विवेकानन्द (प्रथम खण्ड), स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 7
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए0आर0 देसाई, पृष्ठ - 8

साथ परस्पर तालमेल कर चलने का मार्ग ही चुनना पड़ा । एक पराजित जाति सुलभ मनोवृत्ति को लेकर तत्कालीन भारतीय-समाज सभ्य जगत में बहुत ऊँचा न होने पर भी, अपने अनुरूप सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हुआ था । वह हीन परिस्थितियों मे पड़कर प्राचीन परम्पराओं से अपना नाता तोड़ चुका था । उस समय भारतीयों को एक और धक्का लगा । वह था - ईसाईयों का धार्मिक जोश ।[1] वे भारतीयों को और भारतीय संस्कृति को अत्यंत गिरा हुआ समझते थे । ईसाई - धर्म और संस्कृति को वे भारतीयों पर थोपने में जुटे थे । फलस्वरूप पश्चिमी प्रभाव भारतीय सामाजिक संस्कृति पर इतना गहरा पड़ा कि सम्पूर्ण भारतीय समाज एक संक्रमण की स्थिति में आ गया । पश्चिमी प्रभाव से लोग प्राचीन धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक प्रथाओं, नैतिक संहिताओं, पारम्परिक नियमों, सांस्कृतिक आदर्शों को छोड़कर नए जीवन मूल्य अपनाने लगे । संक्रमण की इस स्थिति ने भारतीय समाज को मध्य-काल से आधुनिक काल में परिवर्तित कर दिया ।[2]

उन्नीसवीं सदी में अनेकों ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई जिनसे समाज में पुनर्जागरण का कार्य आरम्भ हुआ । उदाहरण स्वरूप प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों तथा कर्मकाण्डों का क्रमशः जटिल तथा कष्ट कर होते जाना, पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार, ईसाई पादरियों के द्वारा मिशनरी प्रचार, पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों का भारतीय बौद्धिकजनों पर प्रभाव । नयी आर्थिक परिस्थितियों का सृजन, भारतीय समाज में समाचार पत्रों का प्रभाव । सामाजिक क्षेत्र में विविध कुप्रथायें संस्कार, रूढ़ियों, भेद-भाव का पक्षपात का बोलबाला था । सामाजिक विघटन व विश्रृंखलता की स्थिति थी सती, बाल-विवाह, विधवाओं की निर्मम दुर्दशा, कुलीन प्रथा, बहु पत्नीत्व आदि का पूर्ण साम्राज्य था ।[3]

---

1. भारतीय धर्म और संस्कृति - डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 113
2. भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन, ओम प्रकाश वर्मा, डॉ0 जय सिंह, पृष्ठ - 109
3. भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 800

राजनैतिक दृष्टि से भारत दासता की बेड़ियों में कसता जा रहा था । केन्द्रीय शासन का सर्वथा अभाव था । राजाओं की अलग सत्ता थी । जो परस्पर लड़ने-झगड़ने में व्यस्त रहा करते थे । इन नरेशों में आपस मे अविश्वास व्याप्त था । भारतवासियों में राष्ट्रीयता के भावों का शोकजनक अभाव था दूसरी ओर अंग्रेजों मे कूटनीति और भेद-नीति का पल्ला भारी था ।[1]

अंग्रेजी राज्य में सर्वसाधारण की मुसीबतें अनेक प्रकार की थीं । उदाहरण के तौर पर उस समय आर्थिक-शोषण अधिक होता था । रियासत के सुख-दुःख की बात कोई सुनने वाला न था । सरकारी कर्मचारी लूटमार करना ही जानते थे । उनके खिलाफ फ़रियाद करने वाला कोई न था । साधारण लोग दिन-पर-दिन गरीब होते जा रहे थे । इस प्रकार सर्वत्र अभाव, निर्धनता, शोषण का बोलबाला था । उद्योग - धन्धों का विनाश हो जा रहा था । कृषि पर बोझ बढ़ता जा रहा था । इस स्थिति में पश्चिमी दर्शन व सभ्यता से भारतीयों का चकाचौंध हो जाना अवश्यम्भावी था ।[2]

प्राचीन काल में भारत की जिस प्रकार व्यावसायिक उन्नति हुई थी, उसका प्रमाण विदेशी इतिहासकारों के बहुत से लेखों में भी मिलता है । उन दिनों सूती, ऊनी और रेशमी तीनों ही प्रकार का अच्छा से अच्छा कपड़ा इस देश में तैयार होता था । चीनी-मिट्टी के बरतन लकड़ी की वस्तुएँ, चमड़े के सामान, अच्छी से अच्छी वार्निश, नारियल का तेल, मजबूत और खूबसूरत रस्सियाँ, चाय, अरारोट, चटाइयाँ, साबुन और कागज आदि भारतीय व्यवसाय के प्रमुख अंग थे । ये सभी चीजें भारत से इंग्लैण्ड को जाया करती थीं । इसके अतिरिक्त चीन, जापान, लंका, ईरान, अरब, मिश्र, इटली और अफ्रीका भारतीय व्यवसाय के केन्द्र हो गए थे । इस बढ़े हुए व्यापार ने ही

---

1. भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 814
2. भारत के अंग्रेजी राज के दो सौ वर्ष, केशव कुमार ठाकुर, पृष्ठ - 216

संसार के दूसरे देशों के मुकाबले भारत को सम्मानित स्थान प्रदान कर रखा था ।[1]

कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भारतीय व्यापार के साथ जो नीति अपनायी, उसका नतीजा यह हुआ कि उससे भारतीय व्यवसाय अपनी अन्तिम अवस्था में पहुँच गया ।[2] औरंगजेब के समय तक भारत के अन्दर अंग्रेज व्यापारियों की हालत करीब-करीब वैसी ही थी जैसी कि 1928 में भारत में हींग बेचने वाले काबुलियों या शिलातीत बेचने वाले तिब्बतियों की । हिन्दोस्तान उस समय अपने देश की आवश्यकताओं के लिए किसी भी अन्य देश पर निर्भर न था । ईश्वर ने भारतवासियों को उपयुक्त जलवायु प्रदान की है । उनकी भूमि अत्यन्त उपजाऊ है, उस पर यहाँ के लोग काफी दक्ष हैं । इन्हीं सब कारणों से भारतवासी अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते थे । उस समय अंग्रेजी उद्योग-धन्धों की स्थिति भारतीय उद्योग-धन्धों के मुकाबले जर्जर थी। अंग्रेज अपने देश में बने हुए कपड़े भारत में लाकर बेंचने का स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकते थे ।[3]

अंग्रेजी राज में भारतीय जनमानस अत्यन्त दुःखी था । ब्रिटिश भारत में जमीन का लगान इतना अधिक बढ़ा दिया गया था जितना पहले कभी नहीं था । अंग्रेजों के पूर्व किसी किसान को लगान अदा न करने के जुर्म में जमीन से बेदखल नहीं किया जाता था, कोई किसान भूखा नहीं रहता था । किन्तु अंग्रेजों ने भारतीय किसानों को लगान न दे सकने की स्थिति में अपनी जमीन से ही बेदखल कर दिया।[4] भरतपुर के आस-पास गंगा और यमुना के बीच दोआब का क्षेत्र अंग्रेजों ने महाराजा

---

1. भारत में अंग्रेजी राज के दो सौ वर्ष, केशव कुमार ठाकुर, पृष्ठ - 22।
2. भारत में अंग्रेजी राज के दो सौ वर्ष - केशव कुमार ठाकुर, पृष्ठ - 226
3. भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 878
4. द रूलर.ऑफ, द मुगल अम्पायर, सर यदुनाथ सरकार, पृष्ठ - 10

सिंधिया से छीनकर अपने राज मे मिला लिया था । वहाँ एक वर्ष के भीतर ही त्राहि-त्राहि मच गई थी । भूमि का लगान इतना बढ़ा दिया गया था कि वहाँ के निवासी आश्चर्य चकित रह गए । मुगल साम्राज्य के अन्तिम दुर्बल सम्राटों के निर्बल शासन में भी प्रजा से इतना अधिक लगान नहीं लिया जाता था । इसके अतिरिक्त दोआब के अंग्रेजी अफ़सरों ने भारतीय प्रजा पर और भी तरह - तरह के अत्याचार शुरू कर दिये थे ।[1]

अंग्रेजों ने गोवध की शुरुआत करवाई । सम्राट बाबर ने, जो अपनी प्रजा का सच्चा शुभचिन्तक था और समस्त हिन्दू, मुसलमानों और अन्य धर्मावलम्बियों को समान दृष्टि से देखता था अपने साम्राज्य में गाय का वध बन्द करवा दिया था । उसके उत्तराधिकारियों ने भी इसी नीति का पालन किया था । किन्तु अंग्रेजों ने मथुरा जैसे पवित्र स्थल पर गाय का वध करवाया । मद्रास प्रान्त की हिन्दोस्तानी सेना को आज्ञा दी गई थी कि कोई सिपाही परेड के समय, ड्यूटी पर या वर्दी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाए और न ही कानों में बालियाँ ही पहने । हिन्दू - मुसलमान सभी सिपाहियों को हुक्म दिया गया कि अपनी दाढ़ियाँ मुड़वा लें।[2] इसी प्रकार से सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रत्येक क्षेत्र में अंग्रेजों ने भारतीयों का शोषण किया ।

अंग्रेजों द्वारा दिये गए उत्पीड़न का भारतीयों पर सकारात्मक प्रभाव भी पड़ा ।[3] जिसके परिणाम स्वरूप देश में नवीन सांस्कृतिक चेतना का सूत्रपात हुआ । भारतीय संस्कृति के इस नवजागरण के कारण ही 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम भारतीय इतिहास के जीवन में पुनर्निर्माण और पुनर्संस्कार की प्रबल आकांक्षा की अभिव्यक्ति

---

1. भारत में अंग्रेजी राज (प्रथम भाग), डॉ० सुन्दर लाल, पृष्ठ - 756
2. भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ० सुन्दर लाल, पृष्ठ - 820
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, ए०आर० देसाई, पृष्ठ - 10

पातें हैं । यह अभिव्यक्ति 19 वीं शताब्दी के अन्त (उत्तरार्द्ध) एवं 20 वीं शताब्दी में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के संघर्ष या प्रतियोगिता और समन्वय की प्रक्रिया द्वारा हुई ।

इस नवीन चेतना को मुखरित करने वाली प्रेरक शक्तियों पर संक्षिप्त रूप मे विचार कर लेना अत्यधिक प्रासंगिक है ।

नवीन प्रेरक शक्तियाँ:-

(अ) साहित्यिक संस्थाऐं:-

(1) एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल:-

भारत में प्रवेश करने के पश्चात् अंग्रेजों ने जहाँ एक ओर अपनी राजनैतिक प्रभुता प्रसार और आर्थिक वृद्धि की ओर ध्यान दिया । वहीं दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया । अनेक अंग्रेज साहित्य प्रेमियों ने भारतीय संस्कृति के मूल्यांकन के लिये भी प्रयत्न किया जिसकी अभिव्यक्ति नवीन साहित्यिक संस्थाओं द्वारा हुई । ऐसी संस्थाओं में सर्वप्रथम स्थान "एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" का है ।

प्राच्य भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रेमी सर विलियम जोन्स की प्रेरणा से इस संस्था की स्थापना हुई । वे बहुभाषा विद् थे । प्राच्य विद्या में अभिरूचि के कारण ही उन्होंने "एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" की स्थापना की । जिसका उद्देश्य था एशिया के साहित्य, कला, विज्ञान और प्राचीन इतिहास का अध्ययन तथा खोज करना ।[1] वे ही इस संस्था के प्रथम अध्यक्ष हुए । इन्हीं उद्देश्यों को लेकर

---

1. द रूलर ऑफ द मुगल अम्पायर, सर यदुनाथ सरकार, पृष्ठ - 10

बम्बई और मद्रास में भी इसी प्रकार की सस्थाओं की स्थापना हुई । 1823 मे हेनरी टामस कोल बुकर (1765-1839) ने लदन मे रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयर लेण्ड की स्थापना की । इन सस्थाओं क द्वारा भारत की प्राचीन भाषा (संस्कृत), संस्कृति (इतिहास ओर दर्शन) से परिचय प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । इन संस्थाओं से प्रेरणा प्राप्त करके अनेक देशी और विदेशी विद्वानों ने इस दिशा में अपना अमूल्य योगदान दिया और उन विद्वानों का ध्यान देशी भाषाओं और साहित्यों की खोज और उनके अध्ययन की ओर भी गया ।

(2) फोर्ठ विलियम कॉलेज:-

देशी भाषाओं के माध्यम से प्राच्य विद्या का ज्ञान प्राप्त कराने में फोर्ठ विलियम कॉलेज का महत्वपूर्ण स्थान है । इस कॉलेज की स्थापना 1800 में लार्ड वेलेजली ने की थी । इस कॉलेज के तत्वाधान मे उन ब्रिटिश प्रशासकों को भारतीय भाषा और भारतीय रीति - रिवाजों की शिक्षा दी जाती थी जिन्हें भारत में शासन करना था । इस कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के प्रथम प्रिन्सिपल डॉ0 जान बौर्थविक गिलक्राइस्ट हुए जो 1784 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वास्थ्य विभाग में चिकित्सक के रूप में आए थे । उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दुस्तानी शैली (उर्दू) को प्रश्रय दिया । वे हिन्दुस्तानी को देशी भाषा या हिन्दवी या हिन्दुई की शैली मानते थे । जिसका झुकाव न तो संस्कृत की ओर था और न फरसी - अरबी की ओर । इसलिए उन्होंने संस्कृत शैली को हिन्दुई और फारसीमय शैली को उर्दू के नाम से अभिदित किया । हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी इन तीन शैलियों को मान्यता देने का श्रेय डॉ0 गिलक्राइस्ट को है ।

कॉलेज के तत्वाधान में सबसे पहले केवल उर्दू शैली को प्रश्रय मिला, किन्तु ज्यों-ज्यों अंग्रेजों को इस बात का अनुभव होता गया कि उर्दू शैली इस देश में सर्वव्यापक नहीं है, त्यों-त्यों उन्होंने हिन्दवी या हिन्दुई (आधुनिक हिन्दी) को

भी अपनाया । 1824 में विलियम प्राइस द्वारा हिन्दवी या हिन्दुई को आधुनिक रूप में हिन्दी की संज्ञा मिली । फोर्ट विलियम कॉलेज के द्वारा हिन्दी साहित्य और भाषा का कोई महत्वपूर्ण कार्य तो नहीं हो सका, किन्तु फिर भी सचेष्ट रूप से भारतीय पंडितों, मौलवियों और मुंशियों की सहायता से, देशी भाषाओं के विधिवत अध्ययन का यह प्रथम सरकारी प्रयत्न था । यह कॉलेज सन् 1854 में ही समाप्त हो गया । यह कॉलेज अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल तो न हो सका । फिर भी हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के इतिहास में उसका विशेष महत्व है ।[1]

(आ) नई शिक्षा नीतिः-

भारत में अंग्रेजों के राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा भारत में एक नवीन सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात करने मे आधुनिक शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान है ।

प्रारम्भ में ईसाई मिश्नरियों ने नवीन शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु इस प्रयत्न में उन्हें सफलता प्राप्त न हो सकी क्योंकि नवीन शिक्षा के माध्यम से वे ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहते थे । भारतवासियों को ईसाई धर्म की उतनी आवश्यकता नहीं थी जितना कि ऐसी शिक्षा की, जिससे वे भौतिक जीवन में प्रगति प्राप्त कर सकते ।[2]

पाश्चात्य शिक्षा को कार्यान्वित करने में लार्ड मैकाले (1835 ई0) का विशेष हाथ था । मैकाले से पूर्व अंग्रेजों का उद्देश्य सुचारू रूप से शासन चलाना

---

1. फोर्ट विलियम कॉलेज, डॉ0 लक्ष्मी शंकर वार्ष्णेय, पृष्ठ - 10
2. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, ए0आर0 देसाई, पृष्ठ - 80

ही था । किन्तु शिक्षा के उद्देश्य एवं क्षेत्र में क्रमशः विस्तार होता गया । अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एव विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तकों के निर्माण की दृष्टि से 1817 में कलकत्ता बुक सोसायटी की स्थापना हुई और 1820 में बंगाल में नारी शिक्षा के प्रसार हेतु "जुविनाइल सोसायटी फॉर बगाली फीमेल स्कूल' की स्थापना की गई । 1823 में 'पब्लिक इन्स्ट्रक्शन कमेटी' का निर्माण हुआ । किन्तु उस कमेटी के सदस्यों में परस्पर इस बात पर मतभेद उत्पन्न हो गया कि धन प्राच्य शिक्षा पर खर्च किया जाय या अथवा पाश्चात्य शिक्षा पर । यह विवाद 1834 तक चलता रहा । उस समय समिति के पाँच सदस्य पूर्वी शिक्षा के पक्ष में थे ।[1]

राजाराम मोहन राय जैसे प्रगतिशील भारतीयों ने उस समय अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया ।[2] इसी समय सन् 1835 में कमेटी के अध्यक्ष लार्ड मैकाले ने पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया जिसके फलस्वरूप उपयुक्त धनराशि को पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए खर्च करने का आदेश लार्ड बैंटिक ने दिया।

नवीन शिक्षा प्रणाली के फलस्वरूप देश के प्रशासन में अंग्रेजी का महत्व बढ़ा क्योंकि 1829 में ही सरकार की ओर से यह घोषणा की जा चुकी थी कि अंग्रेजी ही राज्य की भाषा होगी ।[3] इस विधि के लागू हो जाने से फारसी राज्य भाषा के पद से च्युत हो गई क्योंकि अंग्रेजी एक विदेशी भाषा थी इसलिए अंग्रेजी के साथ उर्दू, हिन्दी, बंगाली आदि का ज्ञान आवश्यक हो गया । अंग्रेजी शिक्षा के कारण शिक्षित वर्ग में क्रमशः उनके बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र

---

1. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली, पृष्ठ - 115
2. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली, पृष्ठ - 111
3. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली, पृष्ठ - 117

में नया परिवर्तन हुआ । अंग्रेजी शिक्षित वर्ग नई महत्वाकाक्षाएँ, नवीन आदर्श, नए फैशन तथा जीवन के नए मापदण्ड का स्वप्न देखने लगा । बंगाल में और विशेष रूप से कलकत्ते में अंग्रेजी शिक्षा को विशेष प्रश्रय मिला ।

अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पहले लिखना पढ़ना और गणित का ज्ञान ही कराया जाता था । किन्तु क्रमशः अंग्रेजी के माध्यम से भिन्न-भिन्न विषयों यथा कानून, चिकित्साशास्त्र तथा अन्य प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाने लगी । 1854 में कम्पनी के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की ओर से भारत के लिए एक नवीन शिक्षा योजना का निर्माण किया गया, जिसे चार्ल्स वुड ने प्रस्तुत किया था । इस योजना के अनुसार भारत में शिक्षा को कई संस्थाओं में वर्गीकृत किया गया । जैसे - ग्रामीण वार्नाक्यूलर स्कूल, ऐंग्लो वार्नाक्यूलर, हाईस्कूल, कॉलेज, युनिवर्सिटी । प्राचीन पद्धति से चलने वाली हिन्दू-मुस्लिम शिक्षण संस्थाओं को सरकारी नियंत्रण में लाया गया । इस योजना के द्वारा अंग्रेजी के माध्यम से यूरोपीय ज्ञान का प्रसार सामान्य वर्ग, मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग में करने का प्रयत्न किया गया ।

सन् 1857 में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की और 1860 में लाहौर मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई । इन सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त केनिंग लखनऊ कॉलेज (1864) तथा मुस्लिम ऐंग्लो ओरियन्टल कॉलेज, अलीगढ़ भी स्थापित हुए । सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों में शिक्षा के प्रसार के लिये अलीगढ़ में एक धार्मिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किया । यही कॉलेज आगे चलकर 1920 में युनिवर्सिटी में परिवर्तित हो गया । 1882 में पंजाब विश्वविद्यालय स्थापित हुआ और 1887 में प्रयाग विश्वविद्यालय का विधान स्वीकृत हो गया था । इन समस्त विश्वविद्यालयों ने भारत में इंग्लैण्ड की शिक्षा का ही अनुकरण किया । धीरे-धीरे शिक्षा के प्रचार-प्रसार, नियंत्रण तथा योजना निर्माण में भारतीय विद्वान भी भाग लेने लगे । शिक्षा नीति का निर्धारण किये जाने में उनके भी प्रस्ताव रखे जाने लगे ।

(इ) प्रेस और पत्रकारिता:-

अंग्रेजों ने अपने लाभ की दृष्टि से भारत में मुद्रण कला और पत्रकारिता को प्रोत्साहन दिया था । किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में भारतवासियों ने प्रेस ऐक्ट के अन्तर्गत अनेक कठिनाइयों और बाधाओं के रहने पर भी प्रेस से लाभ उठाया ।

भारतवर्ष में 18 वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मुद्रण कला और पत्रकारिता दोनों का एक साथ प्रादुर्भाव हुआ । श्री विल्किन्सर (1750-1830) को मुद्रणकला का जनक कहा जा सकता है । उन्होंने 1778 के पूर्व ही फ़ारसी और बंगाली टाइपों का निर्माण किया । इनके द्वारा ही श्रीमद्भगवद्गीता और हितोपदेश का अंग्रेजी अनुवाद हुआ । जिसका प्रकाशन 1785-87 म हुआ ।[1] श्री रामपुर मिशनरियों ने भी प्रेस और पत्रकारिता की वृद्धि में महत्वपूर्ण कार्य किया । उन्होंने प्रेस की सहायता से भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद मुद्रित कर प्रकाशित किया[2]।

प्रेस की सहायता से ही कलकत्ता (1817), आगरा (1832) तथा अन्य प्रमुख सोसायटियों ने पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान संबंधी ओर भारतीय साहित्य संबधी अनेक पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित कीं ।[3]

देश में मुद्रण कला के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण समाचार पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ । प्रारम्भ में अंग्रेजी भाषा में ही समाचार पत्र प्रकाशित हुए । जेम्स आगस्टस डिकी प्रथम अंग्रेज था, जिसने भारत में समाचार - पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया । उसी के द्वारा 1780 में बंगाल में गजट प्रकाशित किया गया, किन्तु दो वर्ष

---

1. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली - 194
2. दि ग्रोथ एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दी लिटलेचर - डॉ0 लक्ष्मी शंकर वार्ष्णेव - (परिशिष्ट - प्रबंध)
3. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली - 87-88

बाद ही इसे बन्द करना पड़ा । इसके पश्चात् 'एशियाटिक मिस्सेलेनी' नामक त्रैमासिक पत्र प्रकाशित हुआ । उसका प्रकाशन भी दो वर्ष ही चल सका । कलकत्ते से प्रकाशित कलकत्ता गज़ट सरकार का मुख्य पत्र कहा जा सकता है ।[1]

कुछ समय बाद दिल्ली, लखनऊ आदि शहरों से हिन्दी समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ । 1826 ई0 में "उतण्डमार्तण्ड" हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ । इसी प्रकार उर्दू अखबार 1856 से प्रकाशित हुआ ।[2]

19वीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते अनेक धर्म तथा समाज-सुधारकों ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिये समाचार-पत्रों का सहारा लेना आरम्भ कर दिया । राजाराम मोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशव चन्द्र सेन आदि अनेक समाज-सुधारकों द्वारा पत्रों का प्रकाशन आरम्भ किया गया । 1857 के पश्चात् लगभग बीस वर्षों में देशी भाषाओं में मुद्रण कला के माध्यम से सार्वजनिक जीवन धीरे-धीरे प्रभावित होने लगा । 20वीं शताब्दी में अनेक देशी भाषाओं मे भी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हो गया ।

इस प्रकार प्रेस तथा पत्रकारिता में नवीन सांस्कृतिक चेतना का सूत्रपात करने में विशेष योगदान दिया ।

{घ} राजनैतिक चेतना:-

19वीं शताब्दी के द्वितीय चरण तक राजनैतिक दृष्टि से अंग्रेजों का प्रभुत्व सारे देश में फैल गया । अत्याचार व शोषण के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए 1857 ई0

---

1. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली - 88
2. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली - 89

में सर्वप्रथम भारतीय नरेशों, सैनिकों तथा देश के कुछ विशिष्ट लोगों ने विदेशी शासन को भारत से सदैव के लिये समाप्त करने का प्रयास किया । जिसे भारतीय इतिहास में गदर या भारत के प्रथम स्वतन्त्रता - संग्राम की संज्ञा दी जाती है । यद्यपि भारतीय इस स्वतंत्रता - संग्राम मे सफलता प्राप्त करने में असफल रहे किन्तु भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त हो गया । ज्यों-ज्यों भारतीयों ने अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर नई प्रकार की शिक्षा और संस्कृति तथा यूरोपीय राजनैतिक विचार-धारा का प्रभाव स्वीकार किया, त्यों-त्यों भारत मे नवीन राजनैतिक - संस्कृति का निर्माण होने लगा ।

नवीन शिक्षा प्रणाली के प्रभाव से भारतीयों को जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा मिली । अंग्रेजों की सामाजिक चेतना, स्वतंत्र-प्रियता, राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अनुशासन आदि बातों ने भारतीयों को बहुत प्रभावित किया । मुद्रण-कला के बढ़ते प्रभाव से बड़ी सरलता से ग्रन्थ आदि उपलब्ध होने लगे, जो मध्य-काल में केवल राजाओं एवं राजमंत्रियों के हाथों में ही हस्तलिखित एवं सुशोभित होते थे । इस प्रकार समस्त नवीन ज्ञान प्रेस के माध्यम से मध्यवर्गीय लोगों के लिए सहजता से सुलभ हो गया । जिससे नवीन धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय चेतना के विकास में सहायता मिली ।

इसी युग में गमनागमन के आधुनिक साधन विशेष रूपसे रेल आदि का आरम्भ हुआ । जिसके फलस्वरूप देश में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना अत्यंत सुलभ हो गया । जो राष्ट्रीय एकता के लिए सहायक सिद्ध हुआ । इस प्रकार जहाँ एक ओर भारतवासियों का राजनैतिक और आर्थिक शोषण हो रहा था, जिसके फलस्वरूप महामारी, दुर्भिक्ष, आर्थिक - दरिद्रय और बेगारी बढ़ती जा रही थी वहीं दूसरी ओर भारतीयों को अपनी राजनैतिक अधोगति का भी अनुभव होने लगा था । कुछ उदारवादी अंग्रेज जिन्हें भारतीयों से सहानुभूति थी, परोक्ष रूप से राजनैतिक चेतना के विकसित

होने में सहायक हो रहे थे । 1876 में "इण्डियन एसोसिएशन" की स्थापना हुई जिसके मुख्यतः तीन उद्देश्य थे -

(1) राजनैतिक प्रश्नों और समस्याओं पर भारतीय जनता की सम्मति की स्थापना करना ।

(2) भारतीयों में राजनैतिक एकता का प्रयत्न करना ।

(3) हिन्दू-मुस्लिम ऐक्ता स्थापित करना ।[1]

इस प्रकार इन सभी स्रोतों से समाज मे एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ । समाज में एक चेतना जागृति हुई । साहित्य, शिक्षा तथा कला मे बौद्धिक जागृति आई । नई पीढ़ी में आन्दोलन पर उत्तेजना की नैतिक शक्ति का विस्तार हुआ । आर्थिक क्षेत्र में भी आधुनिकीकरण को अपनाया गया । धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों को त्यागने पर जोर दिया जाने लगा और धर्म का नवीनीकरण किया जाने लगा । समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगे । तार्किकता पर अधिक जोर दिया जाने लगा । भारतीय भाषा साहित्य और दर्शन में परिवर्तन होने लगा । अंग्रेजी बोलना लोग अपनी प्रतिष्ठा समझने लगे । मैगिनी और गैरोल्ड लोगों के आदर्शन बन चुके थे । विदेशी शैली और भारतीय-प्राचीन चिन्तन में तालमेल बिठाकर एक नए साहित्य का सृजन हुआ । शकुन्तला, कादम्बरी, मेघदूत, रामायण आदि सभी धर्मग्रन्थों का विदेशी भाषाओं मे अनुवाद हुआ । चारों वेदों का पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद हुआ ।[2] इसके अतिरिक्त नव हिन्दुत्व की लहर का संचार हुआ । प्राचीन ग्रन्थों का पुनर्मूल्यांकन एवं अध्ययन, ओद्योगीकरण एवं नगरी -करण का विकास, लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास साथ ही ललित कलाओं

---

1. भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन, ओम प्रकाश वर्मा, डॉ0 जय सिंह, पृष्ठ - 115

2. मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, प्रो0 यदुनाथ सरकार, पृष्ठ - 150

का भी बहिर्मुखी विकास हुआ ।[1]

तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित होकर समाज में, अनेक समाज सुधार आन्दोलन आरम्भ हुए - जिनमें ब्रह्म समाज आन्दोलन, आर्य-समाज आन्दोलन, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी, पारसी-सुधार आन्दोलन मुस्लिम-सुधार आन्दोलन आदि का नाम लिया जा सकता है । इस शताब्दी के सुधार आन्दोलनों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया । यहाँ कुछ समाज सुधार आन्दोलनों एवं नवीन संस्थाओं का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय देना भी आवश्यक प्रतीत होता है ।

(1) ब्रह्म समाजः-

ब्रह्म-समाज की स्थापना 1828 ई0 मे धर्म तथा सामाजिक उद्देश्य को लेकर स्वर्गीय राजाराम मोहन राय (1772-1833) द्वारा हुई । अनेक हिन्दू मनीषियों की भाँति इन्होंने निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया । उनके उद्देश्य का यही सार था कि समस्त धर्मावलम्बियों के बीच एकता के सूत्र को दृढ़ बनाया जाय ।[2]

राममोहन राय संस्कृत के प्रकांड पंडित और अंग्रेजी के विद्वान भी थे तथा फ्रेन्च, लैटिन, ग्रीक और हिब्रू का उन्हें पूर्ण ज्ञान था । राजाराम मोहन राय आधुनिक संस्कृति के जन्मदाताओं में से थे । उन्होंने हिन्दू-धर्म की स्थूलता को हटाकर उसे सूक्ष्म रूप दिया । धर्म के नकारात्मक स्वरूप को बदल कर सक्रिय रूप देने का श्रेय इन्हीं को है । राजाराम मोहन राय के बाद केशव, चन्द्रसेन (सन् 1838-1884 तक) ने ब्रह्म समाज का कार्य आगे बढ़ाया । ईसाई न होते हुए भी वे प्रथम भारतीय थे,

---

1. भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन, ओम प्रकाश वर्मा, डॉ0 जय सिंह पृष्ठ - 118
2. कल्चरहिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली, पृष्ठ - 136

जो ईसाईयत से सर्वाधिक प्रभावित थे । धर्म तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में इन्होंने राजाराम मोहन राय के मिशन को आगे बढ़ाया ओर मूर्ति पूजा तथा कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया । महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर (सन् 1817-1905) ने सन् 1839 ई0 में "तत्व-बोधिनी" नामक एक स्वतंत्र-सभा की स्थापना की । सन् 1842 ई0 में महर्षि देवेन्द्र ने ब्रह्म समाज में प्रवेश किया। इन्होंने जाति-पाँति से परे समस्त मानव-जाति को ब्रह्म की उपासना का अधिकारी माना ।[1]

केशवचन्द्र - सेन के पश्चात् प्रताप मजूमदार ने केशवचन्द्र के सिद्धान्तों का प्रचार इस देश में ही नहीं वरन् विदेश में भी किया । केशव चन्द्रसेन ने जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना-समाज की स्थापना की । इसी समाज से कालान्तर में "सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी" का जन्म हुआ । महाराष्ट्र प्रदेश में बम्बई, पूना तथा गुजरात प्रदेश मे अहमदाबाद में इसकी विभिन्न शाखाएँ खोली गईं। यद्यपि उत्तर प्रदेश और पंजाब में प्रार्थना-समाज का विशेष प्रचार न हो सका ।

(2) आर्य-समाजः-

स्वामी दयानंद सरस्वती (सन् 1824-1893) ने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ एवं हिन्दू समाज में सुधार के उद्देश्य को लेकर सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना की । दो वर्ष बाद लाहौर में आर्य-समाज की स्थापना हुई । स्वामी जी ने वेदों का नवीन भाष्य लिखा और सारे देश का भ्रमण कर वैदिक धर्म का प्रचार किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने "सत्यार्थ प्रकाश" नामक ग्रन्थ का प्रणयन भी किया, जिसमें उनके समस्त सिद्धान्तों का संग्रह है । पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश में आर्य समाज आन्दोलन का विशेष प्रभाव पड़ा । उन्होंने वेदों पर ब्राह्मणों के विशेषाधिकार का खण्डन किया

---

1. कल्चर (हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया - युसुफअली - पृष्ठ-138

और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्री और पुरूष सबको वेदों के अध्ययन का अधिकारी माना । वे स्थूल कर्मकाण्ड एवं मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे । आर्य समाज के प्रभाव में आकर बहुत से लोगों ने अपने घर के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को तोड़ कर बाहर फेंक दिया बहुतों ने श्राद्ध की पद्धति बन्द कर दी और बहुतों ने पुरोहितों को अपने यहाँ से विदा कर दिया ।[1]

अपरोक्ष रूप से स्वामी जी ने राष्ट्रीयता के प्रचार में भी काफी योग दिया। सामाजिक कुरीतियों का निवारण करते हुए भारतीयों को स्वतंत्रता - संग्राम में कूद पड़ने की प्रेरणा दी । वे प्रथम - भारतीय थे, जिन्होंने 'स्वदेशी' का प्रचार आरम्भ किया । उन्होंने भारतीयों को उनके गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण कराते हुए भविष्य के नव-जीवन निर्माण का संदेश दिया । आर्य-समाज ने आगे चलकर सार्वजनिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया । उसने अपने अनुयाइयों एवं समाज को आगे बढ़ाने के लिए नव-स्फूर्ति एवं नव-उत्साह प्रदान किया । "शुद्धि" द्वारा समाज की सुरक्षा इसका अपना मौलिक प्रयास था ।

(3) थियोसॉफिकल सोसायटी: -

थियोसॉफिकल सोसायटी का जन्म सन् 1875 में मैडम ब्लावाटस्की एवं कर्नल आल कॉट द्वारा अमेरिका में हुआ था । सन् 1879 में डॉ0 एनीबेसेन्ट ने इस सोसायटी में प्रवेश किया और अपना सारा जीवन जनसेवा में समर्पित कर दिया । सर्वप्रथम सन् 1879 में मद्रास के निकट अड्यार में इस सोसायटी का केन्द्र खोला गया । डॉ0 एनी बेसेन्ट के अनुसार - "भारतीयों का कर्त्तव्य है कि सर्वप्रथम प्राचीन हिन्दू धर्म, पारसी एवं बौद्ध-धर्म का पुनरूद्धार कर उन्हें पुनः शक्तिशाली बनाया जाय ।[2]

---

1. भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह "दिनकर", पृष्ठ - 400
2. भारतीय संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह "दिनकर", पृष्ठ - 410

इस उद्देश्य के फलस्वरूप देशवासियों मे एक नवीन आत्म गौरव की चेतना, अतीत के प्रति गर्व तथा भविष्य के प्रति अखण्ड विश्वास की भावना जागृत हुई और परोक्ष रूप से धर्म सुधार, समाज-सुधार और राष्ट्र-भक्ति के द्वारा एक नए राष्ट्र-निर्माण की प्रेरणा उत्पन्न हुई । डॉ0 एनी बेसेन्ट - अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की महान महिला थीं । सन् 1907 में वे सोसायटी की अध्यक्ष चुनी गईं । उनके नेतृत्व में थियोसॉफिकल सोसायटी ने भारतीय जीवन के राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

(4) रामकृष्ण मिशनः-

स्वामी रामकृष्ण परमहंस की (सन् 1836 - 1886) पुण्य स्मृति में स्वामी विवेकानन्द (सन् 1862 - 1902) ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की । स्वामी विवेकानन्द पहले ब्रह्म समाज के सदस्य थे किन्तु परमहस से प्रभावित होकर इनके शिष्यत्व में आ गए । विवेकानन्द ने वेदान्त का विशेष रूप से प्रचार किया। सन् 1893 में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में हिन्दू-वेदान्त को सर्वोपरि सिद्ध किया । रामकृष्ण मिशन ने नवयुग के अनुसार हिन्दू धर्म का नए रूप मे प्रचार किया एवं सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में भी उसे स्थान दिया । रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखाएं भारत के कोने-कोने में फैल गईं जिन्होंने धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा शिक्षा के क्षेत्र में देश की बहुत सेवा की । मिशन के शिष्यों के कई वर्ग थे एक उन सन्यासियों का वर्ग जो आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर ईश्वर और मानवजाति की सेवा में अपना सारा जीवन अर्पित कर देते हैं, दूसरा वर्ग उन सांसारिक एवं सामाजिक जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों का जो अपनी जीविका स्वयं उपार्जित करते हैं किन्तु अपने जीवन को परमहंस के सिद्धान्तों के अनुसार ही व्यतीत करते हैं । इस प्रकार दूसरे वर्ग के लोग प्रत्यक्ष रूप से धर्म सुधारक या समाज सुधारक नहीं कहे जा सकते किन्तु फिर भी मिशन के सन्यासी उनके सुधार के संदेश के प्रचार

एवं प्रसार में पर्याप्त सहायता पहुँचाते थे ।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी-छोटी संस्थाओं ने भी समाज के किसी न किसी क्षेत्र में सुधार के कार्य को आगे बढ़ाया । इन संस्थाओं में रानाडे का "डेकन एजूकेशन सोसायटी" (सन् 1884), गोखले का "सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी" (सन् 1905), सोशल रिफार्म एसोसिएशन (1888), बम्बई और मद्रास का सामाजिक सुधार संघ, भारतीय महिला परिषद् (1904), सोशल सर्विस लीग एवं दलित वर्ग आन्दोलन आदि मुख्य थे जिन्होंने अपनी संस्थाओं द्वारा । सामाजिक क्षेत्र के शिक्षा सम्बन्धी सुधार करने एवं स्त्री जाति की दशा उन्नत करने के अनेक प्रयत्न किए और ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि समाज सुधार आन्दोलनों के कार्य को आगे बढ़ाया ।

इन समाज सुधार आन्दोलनों के अतिरिक्त कांग्रेस ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त योगदान दिया । सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई, उस समय देश की प्रगति के लिए सामाजिक सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया गया । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् 1888 में कॉंग्रेस की प्रत्येक बैठक के साथ प्रतिवर्ष 'राष्ट्रीय समाज सुधार-परिषद' के अधिवेशन भी होने लगे । इस परिषद के प्राण थे महादेव गोविन्द रानाडे । इसमें प्रत्येक वर्ष स्त्री-शिक्षा के प्रसार पर बाल-विवाह निषेध, पर्दा-प्रथा विरोध, विधवाओं एवं अस्पृश्यों की दशा सुधारने, अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह संबंधी विषयों पर प्रोत्साहन देते हुए प्रस्ताव पास होते थे । सन् 1890 में समाज सुधार का एक प्रबल समर्थक साप्ताहिक पत्र 'सोशल रिफार्म' निकाला गया । सन् 1897 में बम्बई, मद्रास में समाज सुधार के प्रान्तीय संगठन भी बने । इस प्रकार समाज सुधार का कार्य कॉंग्रेस द्वारा भी पर्याप्त रूप में हुआ ।

उन्नीसवीं शताब्दी में समाज-सुधार का जो कार्य आरम्भ हुआ । राजाराम मोहन राय इन समाज सुधारकों में अग्रणी थे । अनेक विषयों में भारत के पथ-प्रदर्शक

होते हुए भी वे भारत की प्राचीन संस्कृति को उसके समग्र रूप मे ग्रहण नहीं कर सके थे । हिन्दू-धर्म को भी उन्होंने पूर्ण सम्मान नहीं किया था । उन्होंने संस्कृत के स्थान पर अंग्रेजी को उच्च आसन प्रदान किया । यद्यपि वे समाज में परिवर्तन करना चाहते थे किन्तु यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि परिवर्तन की यह चिन्तन पद्धति उनके निजी जीवन-धारा मे ही सीमित होकर रह गयी थी ।

सती दाह-प्रथा को समाप्त करने और समुद्र यात्रा को आरम्भ करने में निश्चय ही उनका अधिक योगदान था । प्राचीन पंथी हिन्दुओं की दृष्टि से, राममोहन के द्वारा सामाजिक-सुधार का यह प्रयास धर्म विरोधी लगने पर भी मानना पड़ेगा कि वे तत्कालीन भारत में एक उदारता पूर्ण गतिशील मनोभाव का संचार करना चाहते थे, और इस कार्य में उन्हें थोड़ी बहुत सफलता भी मिली । लेकिन पश्चिमी - शिक्षा में शिक्षित मुठ्ठी भर लोगों के द्वारा इस नये नेतृत्व को मान लेने पर भी विराट हिन्दू समुदाय पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । राम मोहन राय की विचारधारा में मानों एक विदेशी मनोभावना ने ही प्रकट होकर हिन्दुओं की आत्मश्रद्धा पर चोट की थी, जिसे हिन्दू जाति सादर स्वीकार नहीं कर सकी । राम मोहन राय मुसलमान और ईसाइयों की भाँति प्रतिमा पूजन को मूर्ति पूजा कहा करते थे । वे उन्हीं की भाषा में उनकी निन्दा किया करते थे । उनके विचार के अनुसार प्रतिमा की पूजा करने वाले देश में नैतिकता की कमी हो जाती है । इससे अवैध सम्बन्धों का मार्ग खुल जाता है तथा आत्म हत्या, नारी हत्या, नरमेध यज्ञ आदि-आदि होने लगते हैं, मूर्ति पूजक देश में बुद्धि की उन्नति नहीं हो पाती ।[1]

. इसलिये वेदान्त विहित धर्म की फिर से स्थापना की आवश्यकता का अनुभव करने पर भी राम मोहन राय उपनिषद का सहारा लेकर सगुण, निराकार की

---

1. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 राम जी उपाध्याय - पृष्ठ-114

उपासना में रत हुए । सगुण उपासना को उनके द्वारा संशोधित धर्म सिद्धान्त में कोई जगह न मिली । अंग्रेजों की भाँति राम मोहन राय ने भी मान लिया कि सांसारिक उन्नति के लिये हिन्दुओं को अपने धर्म में सुधार करना चाहिये ।[1]

राजनैतिक जीवन में सुअवसर और सुविधा पाने तथा सामाजिक जीवन में सुख - स्वच्छन्दता की व्यवस्था की इच्छा ने राम मोहन राय की विचारधारा को इस प्रकार का स्वरूप प्रदान किया था । वे एक उन्नति प्रदान करने वाले सर्वव्यापी धर्म के सहारे भारतीय समाज को सुसम्बद्ध और सतेज कर देना चाहते थे । राजा राम मोहन राय भारत में पश्चिमी शिक्षा फैलाकर अपने देश को पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से समृद्ध करना तथा इसे एशिया महादेश के नेता के पद पर प्रतिष्ठित देखना चाहते थे ।

राजा राम मोहन राय में जो भाव धारा कभी क्षीण और कभी सबल रूप में बहती थी उसी ने बाद में ब्रह्म समाज के द्वारा एक साकार रूप धारण किया । राजा राम मोहन राय ने अपने को अहिन्दू नहीं कहा । वे आदि ब्रह्म समाजी सनातन भावधारा से पूरी तरह से अलग नहीं होना चाहते थे ।[2]

देवेन्द्र नाथ ठाकुर का नाम भी समाज सुधारकों में अग्रणी रहा है । वे मूल रूप से भारतीय थे । किन्तु साधारण ब्रह्म समाज और नव-विधान बाद में उग्र पथ का सहारा लेकर वे हिन्दू समाज से अलग हो गये । साधारण ब्रह्म समाज में विवाह और आहार-विहार में जाति भेद को अस्वीकार कर दिया । नव विधान समाज विभिन्न धर्मों का निचोड़ लेकर विशेष रूप से ईसा मसीह को प्रमुखता देकर एक नया

---

1. स्वामी राकृष्ण - रोमां रोलां, पृष्ठ - 105
2. स्वामी रामकृष्ण - रोमां रोलां, पृष्ठ - 105

धर्म - सिद्धान्त गढ़ने में लग गया ।[1] युवा-काल में केशवचन्द्र सेन (1838-84) देवेन्द्रनाथ के ही शिष्य और सहयोगी थे । किन्तु शिष्य के मन में उठ रहे इन सब नये भावों के कम्पन्न को देवेन्द्रनाथ देख रहे थे । 1866 ई0 में दोनों अलग-अलग रास्ते पर चल पड़े । केशव चन्द्रसेन ने खुलकर ईसा मसीह का धर्म प्रचार भारत में करना आरम्भ कर दिया । इससे ब्रह्म समाज में घोर आन्दोलन छिड़ गया । परिणाम स्वरूप केशवचन्द्र दूसरे सम्प्रदायों के महापुरूषों के प्रति भी श्रृद्धा व्यक्त करने लगे। विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों को भी ब्रह्म समाज में प्रवेश करने का अधिकार प्रदान किया गया । हिन्दुओं के देवी-देवताओं को भी महत्व प्रदान किया गया । केशव चन्द्र सेन ने 1865 ई0 से "नवविधान" का प्रचार करना आरम्भ कर दिया । किन्तु उनके कार्य और विचारों में अन्तर्विरोध विद्यमान रहा । बाल-विवाह के विरोधी होकर भी उन्होंने अपनी कम उम्र की पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजा के पुत्र से कर दिया । जिसके कारण दल के सदस्य केशवसेन के विरूद्ध हो गये ।

इस प्रकार ब्रह्म समाज का उद्देश्य आशा के अनुरूप सफल सिद्ध नहीं हो सका । इसका प्रभाव उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों तक ही सीमित रह गया । 1884 ई0 में केशवचन्द्र के निधन के समय ब्रह्म समाज के सदस्यों की संख्या 6,400 थी।

केशवचन्द्र सेन के समय से ही ब्रह्म समाज के द्वारा पश्चिम का अनुकरण किये जाने के विरोध में हिन्दू समाज का ही एक व्यक्ति सिर उठाकर खड़ा हो गया। वे व्यक्ति थे स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-83) उन्होंने 10 अप्रैल 1875 ई0 को "आर्य समाज की स्थापना की । यद्यपि अनेक विषयों में आर्य - समाज और ब्रह्म समाज में समानता दिखाई देती है ।[2] दयानन्द रूढ़िवादिता और कुसंस्कार के विरोधी,

---

1. स्वामी रामकृष्ण परमहंस, रोमां रोलां, पृष्ठ - 115
2. भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 248

जाति-भेद की प्रथा को समाप्त करने के लिये दृढ - प्रतिज्ञ, मूर्ति-पूजा विरोधी, और एकेश्वरवादी थे । ब्रह्म समाज ने उपनिषद के ब्रह्म-तत्व का अवलम्बन किया था। दयानन्द ने उपनिषद की प्रमाणिकता को अस्वीकार कर वेद की संहिता का अवलम्बन ले प्रचीन - यज्ञ आदि गौण विधियों के विन्यास में अपने को अर्पित कर दिया ब्रह्म समाज की भाँति आर्य-समाज भी बहुतांश मे सनातन धर्म-विरोधी था । तथापि दयानन्द के संस्कृत साहित्य में पाण्डित्य-विरोध की प्रबल आकांक्षा, अपने सिद्धान्त में विश्वास, सामाजिक बोध और वीरता पूर्ण प्रचार अभियान के फलस्वरूप इस समाज का प्रभाव, उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ भागों मे तेजी से फैल गया ।[1]

इन संस्थाओं के क्रियाकलापों से ईसाई - मिशनरियों का प्रचार कार्य विशेष रूप से बाधित हुआ । किन्तु विराट हिन्दू समाज इस विचार-धारा से भी पूरी तरह जागृत नहीं हो सका । फिर नया ज्ञान और कार्य-प्रणाली का सहारा लेने पर जिस प्रकार ब्रह्म-समाज एक संकीर्ण नये सम्प्रदाय में परिणत हो गया था, आर्य-समाज का वैसा ही भाग्य हुआ । दोनों समाजों के सदस्यों के मन में और तटस्थ दर्शकों के हृदय में यह सन्देह बना ही रहा कि ये दोनों सम्प्रदाय हिन्दू हैं या नहीं । ब्रह्म समाज के द्वारा असवर्ण विवाह तथा सिविल मैरेज को स्वीकार कर लिए जाने एवं आर्य-समाजियों के द्वारा जाति-भेद को समाप्त करने के फलस्वरूप यह अलगाव और भी अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा था । इस प्रकार पश्चिमी देशवासियों के आगमन से उत्पन्न तत्कालीन परिस्थिति के साथ हिन्दुओं के विचार में सामूहिक रूप से समझने योग्य समस्या और उसका समाधान पहले की भाँति ही अविवेचित एवं अपूर्ण रह गया ।[2]

समाज-सुधारकों के आधार स्तम्भों में ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का नाम भी

---

1. भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 248
2. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 117

अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उन्होंने धर्म की सहायता लिए बिना कानून के माध्यम से समाज-सुधार करना चाहा था । निश्चय ही उन्होंने इसके लिए स्मृति-शास्त्र की सहायता ली थी । किन्तु उनके इस प्रयास के साथ प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर में विश्वास, मूर्ति पूजा आदि विषयों का सम्बन्ध नहीं था । ईश्वर चन्द्र विद्या सागर का ह्दय अत्यन्त उदार था इसी कारण वे सबकी श्रद्धा के पात्र थे । तथापि उनके विधवा-विवाह आदि समाज सुधार के कार्यों ने हिन्दू समाज के एक छोटे हिस्से को ही परिवर्तित कर दिया था । क्योंकि सीमित उद्देश्य की परिकल्पना से युक्त क्रियाकलापों का प्रभाव और प्रतिक्रिया कुद ही दिनों में समाप्त हो जाते हैं अतः विधासागर के इस प्रयोग का भी यही परिणाम हुआ । कानून क्या कहता है ? इस ओर विशेष दृष्टिपात न कर हिन्दू समाज अपने चिर परिचित मार्ग पर ही चलता रहा ।[1]

उन दिनों कई हिन्दू प्रचारक भी हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये प्रयत्नशील हुए थे । इन सभी लोगों ने हिन्दू धर्म की तर्क पूर्ण व्याख्या कर हिन्दुओं के मन में अपने धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा की थी । किन्तु इन सभी लोगों का कार्य समाज में प्रचार कार्य तक ही सीमित रहा उससे समाज में वास्तविक रूप में कोई परिवर्तन न हो सका । इनके द्वारा किये गए सुधार-कार्यों में आध्यात्म का सहारा नहीं लिया गया था ।[2]

इस प्रकार समाज में अव्यवस्था की स्थिति में हिन्दुओं ने धर्म का अवलम्बन किया । हिन्दू धर्म ने समाज में नव जागरण का पथ-प्रशस्त किया ।[3]

जिस वर्ष पश्चिमी भावों का वाहन करने वाली अंग्रेजी भाषा को कानून के बल पर भारत में प्रतिष्ठित किया गया था, उसी वर्ष 1836 ई0 में श्री रामकृष्ण परमहंस

---

1. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 118
2. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 118
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, ए0आर0 देसाई, पृष्ठ - 110

भारत में अवतरित हुए । कम उम्र मे ही वे दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में साधना करने लगे । सिद्धि प्राप्त कर उन्होंने यह प्रमाणित किया कि हिन्दू मात्र मूर्ति पूजक नहीं हैं वे जड़-पत्थर मिट्टी से बनी हुई प्रतिमा के द्वारा परम् चैतन्यमयी - सत्ता की उपासना करते हैं । उन्होंने लोगों को जागृत किया कि धर्म कहने की बात नहीं है, बल्कि अनुभूति की वस्तु है ।

श्री राम कृष्ण देव जी एक अत्यंत निष्ठावान ब्राह्मण के पुत्र थे । उनके पिता ब्राह्मणों की एक जाति विशेष को छोड़कर अन्य किसी जाति का दान नहीं ग्रहण करते थे । अपनी पारिवारिक स्थिति अत्यन्त विपन्न होने के कारण श्री रामकृष्ण बहुत छोटी अवस्था में एक मन्दिर में पुजारी होने के लिये बाध्य हुए । मन्दिर में जगज्जननी की मूर्ति प्रतिष्ठित थी - जिन्हें 'प्रकृति' या 'काली' कहा जाता है । श्री रामकृष्ण देव ने इस मूर्ति के विषय में कहा कि एक स्त्री मूर्ति एक पुरूष मूर्ति पर खड़ी है - इसका अर्थ यह है कि 'माया' के आवरण को हटाये बिना हम ज्ञान लाभ नहीं कर सकते । ब्रह्म निर्लिंग है - वह अज्ञात और अज्ञेय है ।[1]

प्रतिदिन माँ काली की सेवा तथा पूजा अर्चना करने पर इस तरूण पुरोहित के हृदय में क्रमशः ऐसी तीव्र व्याकुलता तथा भक्ति का सागर उमड़ा कि वे नियमित रूप से मन्दिर में पूजा आदि कार्य करने में असमर्थ हो गये । इसलिये वे उसे छोड़कर मन्दिर के अहाते के भीतर ही एक छोटे से जंगल में जाकर दिन-रात ध्यान धारणा करने लगे । साधना में वे इतने लीन हो जाते थे कि उन्हें अपने शरीर की भी चिन्ता न रहती । उन्होंने लगभग सभी सम्प्रदायों के धर्मगुरूओं से शिक्षा ली थी । इतना होने पर भी वे केवल जगन्माता की ही उपासना किया करते थे । वे सभी में जगन्माता को ही देखा करते थे ।[2]

---

1. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 31
2. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 32

उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य हैं । वे कहते थे कि - धर्मजगत में सभी धर्मों का स्थान है । "श्री रामकृष्ण देव" वर्तमान युग में उपयुक्त धर्म की शिक्षा देने आये थे । जो कि विधायक हैं न कि विध्वंसक । उन्होंने एक नये ढंग से प्रकृति के समीप जाकर सत्य जानने की चेष्टा की थी । जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने वैज्ञानिक धर्म को प्राप्त कर लिया था । वैज्ञानिक - धर्म वह धर्म होता है जो किसी को कुछ भी (प्रमाणित हुए बिना) मान लेने को नहीं कहता बल्कि जाँच-पड़ताल कर, सत्यता का पर्यवेक्षण कर ही किसी बात को स्वीकार करने का आग्रह करता है[1] । श्री रामकृष्ण जो भी उपदेश दे गये, वह सब हिन्दू धर्म का सार-स्वरूप है। उन्होंने अपनी ओर से कोई नई बात नहीं कही । वे कोई नया वाद चलाने के आकांक्षी नहीं थे ।[2] यौवन् काल में विवाह होने के बाद भी एक गृहस्थ की भाँति रहते हुए उन्होंने सन्यासी जीवन बिताया ।

स्वामी रामकृष्ण जी तत्कालीन भगत की मूल आवश्यकता को समझते थे यही कारण है कि उन्होंने कहाकि "मनुष्य सभी व्यवस्थाओं से स्वतंत्र है । वास्तव में पूरा जीवन का मुख्य लक्ष्य ईश्वर को प्राप्त करना है । सभी धर्म ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं । सभी धर्मों के लोगों के बीच सद्भावना की स्थापना की आवश्यकता है । सरलता और विवेक बुद्धि द्वारा विवेचना कर ही भक्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ।[3] वर्तमान युग में सामाजिक व्यवस्था में आये परिवर्तनों को स्वीकारते हुए ही स्वामी रामकृष्ण जी ने कहा कि आज के युग में प्राचीन युग की कठिन तपश्चर्या या यज्ञादि विभिन्न साधना - पद्धतियों के अनुरूप आचरण करना असम्भव है । अद्वैत-ज्ञान, धर्म-साधना की अंतिम बात है । संसार की सभी वस्तुओं को चाहे वे जिस प्रकार के भी जीव हों उन्हें अन्ततः ब्रह्म मय ही होना है । संसार का उपकार

---

1. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 33
2. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 37
3. युगनायक विवेकानन्द (प्रथम भाग) स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ - 14

ईश्वर करते हैं । मनुष्य केवल शिवभाव से जीव की सेवा कर सकता है और इससे उसका अपना ही उपकार होता है ।[1]

दक्षिणेश्वर के परमपुरूष श्री रामकृष्ण उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चौथे भाग मे इन्हीं वचनों का प्रचार करते थे । उन्होंने अपने जीवन मे त्याग, वैराग्य, सरलता, ईश्वर - प्रेम, सत् - असत् विवेक एवं शिव भाव से जीव की सेवा आदि की पराकाष्ठा दिखाकर मानव मन को ईश्वर के चरण-कमल की ओर आकृष्ट किया ।[2]

हिन्दू समाज के लिये ये अत्यंत गौरवमय एवं सौभाग्य के दिन थे । हिन्दू पुनः अपने मूल स्वरूप को पहचानने लगे थे, उनमें उन्नति करने की लालसा फिर से पलने - बढ़ने लगी थी । ऐसे समय में इन्हीं महापुरूष के आकर्षण से खिंचकर उनके ही भावी संदेशवाहक के रूप मे बंगाल का युवावर्ग दक्षिणेश्वर में आ उपस्थित हुआ ।

भक्तों के साथ ईश्वर - चर्चा करने को व्याकुल श्री रामकृष्ण अटारी की छत से भावी भक्तों को पुकारा करते थे । जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही सब दक्षिणेश्वर में इकठ्ठे हुए । उस पुकार पर नवयुग के प्रतिनिधि - स्वरूप बाह्य भक्तगण पहले दल-बल के साथ दक्षिणेश्वर में उपस्थित हुए, किन्तु वे सब दक्षिणेश्वर के परम पुरूष का पूर्ण परिचय नहीं ले सके । उन लोगों की शिक्षा-दीक्षा, साम्प्रदायिक विधि-निषेध और प्रयोजन आदि इसके बाधक थे । उन सब ने श्री रामकृष्ण को ईश्वर भक्तों में से एक मानकर ही पहचाना था । फिर भी यह बात निश्चय ही स्वीकार करने योग्य है कि श्री रामकृष्ण के प्रभाव से अनेक बाह्य भक्तों के जीवन में विशेष परिवर्तन

---

1. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 34
2. भारतीय धर्म तथा संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 130

घटित हुआ था । समाज के अन्तर्द्वन्द के कारण हो या दूसरा जो कोई भी कारण हो स्थानीय अनेक वाह्य भक्त केवल समाज-सुधार और प्रचार से सन्तुष्ट नहीं रह सके । उनमें से अनेक खासकर केशवचन्द्र सेन, विजय कृष्ण गोस्वामी आदि का मन अनुभूति-मूलक धर्म के प्रति आकृष्ट हुआ था । इसी कारण उन लोगों ने श्री रामकृष्ण के चरित से मुग्ध होकर दक्षिणेश्वर आना-जाना शुरू किया था ।

इस प्रकार श्री रामकृष्ण को केन्द्र में रखकर नव-जागृत सनातन धर्म नवीन पंथी ब्रह्म पर एक गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हुआ था । किन्तु नवयुग के लिये इतना पर्याप्त नहीं था । समाज में पूर्ण परिवर्तन लाने के लिये बंगाल के विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले नवयुवकों की आवश्यकता थी, जिनके शरीर में असीम बल, मन में अदम्य उत्साह भरा हुआ हो । जिन्होंने अपने देश की परम्पराओं को त्यागने का संकल्प न किया हो तथा सत्य को स्वीकार करने के लिये जिन्होंने अपने हृदय के सारे द्वार खुले रखे हों ।[1]

इस श्रेणी के युवकों में सबसे आगे थे श्री नरेन्द्र नाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द)। इन युवकों का उद्देश्य केवल आत्मरक्षा ही नहीं बल्कि आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धा और आत्म-समाधि प्राप्त करना था तथा समाज के अन्य लोगों को इस दिशा में लाभ पहुँचाना था ।

इस क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द जी ने वह कार्य कर दिखाया, जिसे शंकराचार्य के बाद अन्य किसी महापुरूष ने करने का साहस नहीं किया था । तत्कालीन परिस्थितियों में यह सोचा भी नहीं जा सकता था प्राचीन भारतीय आर्यों की एक सन्तान अपनी तपस्या

---

1. भारतीय धर्म तथा संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 130

के बल पर इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के विद्वानों को यह कर दिखायेगी कि प्राचीन हिन्दू-धर्म अन्य सब धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।[1]

स्वामी विवेकानन्द जी प्राचीन भारत के गौरव को पुनर्स्थापित करना चाहते थे । वे अपने देश की अव्यवस्था से अत्यन्त चिन्तित थे । उन्होंने कहा कि यह एक अस्तव्यस्तता का युग है । समाज की बिगड़ी हुई अवस्था का सुधार करने के लिये जो भी सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन हुए वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल सिद्ध नहीं हो पाये । इन आन्दोलनों की भी वही परम्परा थी, जो दिल्ली साम्राज्य के प्रभुत्व काल में उत्तर-भारत के सम्प्रदायों की थी । इन दिनों विजयी जाति के साथ आध्यात्मिक असमानता की अपेक्षा सामाजिक असमानता बहुत अधिक थी । गोरे शासकों का समर्थन प्राप्त करना ही इस शताब्दी के हिन्दू सम्प्रदायों ने अपना प्रमुख लक्ष्य बना रखा था । इन सम्प्रदायों की स्थिति भी कुकुरमुत्तों जैसी हो गयी थी । ये सम्प्रदाय भारतीय जनमानस से अलग होते जा रहे थे ।[2]

स्वामी विवेकानन्द जी ने गुरु रामकृष्ण देव के द्वारा निर्धारित किये गये मार्ग पर चलते हुए समाज-सुधार के कार्य को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया । वे मानते थे राष्ट्र के पास धर्म और परम्पराओं की वह अमूल्य धरोहर है जिसके आधार पर ही देश की सभी सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है ।[3]

शिकागो की विश्व-धर्म महासभा में संसार के विभिन्न धर्म प्रतिनिधियों

---

1. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ - 241
2. विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, पृष्ठ - 125
3. विवेकानन्द साहित्य, दशमखण्ड, पृष्ठ - 125

के सम्मुख उन्होंने बताया कि, "भारतीय सनातन धर्म" ही श्रेष्ठ है । वैदिक-धर्म का सामना संसार का कोई भी धर्म नहीं कर सकता । इतना ही नहीं, उन्होंने कई महाद्वीपों के भिन्न-भिन्न स्थानों पर वैदिक ज्ञान का प्रचार करके वहाँ के बहुत से विद्वानों का ध्यान प्राचीन धर्म तथा दर्शन की ओर आकर्षित कर दिया, जिसका अब वहाँ से हटना असम्भव है ।[1] आज तक यूरोप तथा अमेरिका के आधुनिक सभ्य राष्ट्र हमारे धर्म के असली स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञ थे, परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अपनी आध्यात्मिक शिक्षाओं द्वारा उन सभी की आँखें खोली थीं । आज पाश्चात्य राष्ट्रों को यह मालूम हो गया कि हमारा प्राचीन धर्म, जिसे वे अज्ञानतावश 'पाखन्डियों की रूढ़ियों का धर्म' अथवा 'केवल मूर्खों के लिय पोथों का ढेर" ही समझा करते थे ।[2] स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार से उन सभी के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया ।

स्वामी जी ने विश्व को यह बताया कि - प्राचीन भारतवासियों ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तर व्यापी संग्राम में जो असंख्य जय-पताकाएं संग्रह की थीं वे झंझावात के झकोरे में पड़कर यद्यपि आज जीर्ण हो गयी हैं, किन्तु फिर भी वे भारत के अतीत गौरव की जय घोषणा कर रही है ।

स्वामी जी ने कहा कि - भारत सम्राट अशोक के समय से ही अपने धर्म प्रचारक बाहर भेजता आया है । उन दिनों जब बौद्ध धर्म नया था और उसके पास आस-पास के राष्ट्रों को सिखाने के लिये कोई बात थी कालान्तर में स्वार्थ बढ़ जाने के कारण यह कार्य अवरूद्ध हो गया है । यह सिद्धान्त भुला दिया गया कि - राष्ट्र

---

1. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ - 242
2. विवेकानन्द साहित्य, दशम् खण्ड, पृष्ठ - 132

और व्यक्ति समान रूप से आपस में लेन-देन के द्वारा ही कायम रहते हैं और उन्नति करते हैं[1], संसार के प्रति उनका संदेश सदैव एक ही रहा है । वह आध्यात्मिक है, अन्तर्मुखी विचारों का क्षेत्र युगों से उसका रहा है । अमूर्त विज्ञान, तत्व -मीमांसा, न्याय उसके अपने विशेष क्षेत्र रहे हैं । भारत भविष्य का महान विजेता होगा । एक समय था, जब भारत धर्म - प्रचार कार्य की एक महान शक्ति थी । इंग्लैण्ड के ईसाई धर्म स्वीकार करने के सैकड़ों वर्ष पहले से ही भारत विश्व में धर्म प्रचार करता रहा है ।[1]

स्वामी विवेकानन्द जी समग्र रूप से भारतीय हैं, उनके समस्त विचारों मे उनकी राष्ट्र के प्रति अटूट श्रद्धा और भारत की समस्त जनता का संगठन सम्मिलित है । उनके विचारों ने बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत योगदान किया है । वे अंग्रेजों से युद्ध करने के अतिरिक्त इस बात पर जोर देते थे कि एक ऐसा जनमानस तैयार होना चाहिये जो परतन्त्रता को नहीं वरन् स्वतन्त्रता को स्वीकार करे और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करे । इसके लिये वे राजनीति और समाज सुधार में विश्वास नहीं करते थे, क्योंकि राजनीति और सामाजिक सुधार केवल आंशिक परिवर्तन ला सकते हैं । समस्याओं का जड़ से अन्त करने के लिये प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक प्रवृत्ति को अपनाया जाना ही उन्होंने आवश्यक बताया जिससे कि देश में एक जागृति पैदा हो । "प्रत्येक राष्ट्र का अपना कर्त्तव्य होता है और स्वभावतः प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशेषता है अपना व्यक्तित्व है, प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध रखने के लिए भी अपनी एक धारणा रखता है । यही राष्ट्रीय जीवन का आधार है ।[2]

स्वामी जी का विश्वास था कि भारतीय संस्कृति का ही विकास कर हम महान से महान कार्य कर सकते हैं । भारत स्वयं विचारों के मामले में धनी है । विश्व की समस्त संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति से बहुत कुछ लिया है । स्वामी

---

1. विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ - 235
2. विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ - 233

विवेकानन्द जी की यही धारणा आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चेतना का मूलाधार है । स्वामी जी ने अपने संदेश से सोये हुए भारत की तन्द्रा भंग कर नवीन भारत का निर्माण किया ।

*****
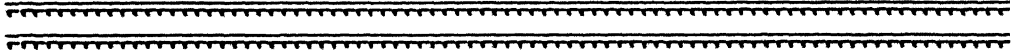
अध्याय - द्वितीय

स्वामी रामकृष्ण - जीवन परिचय व प्रमुख विचार
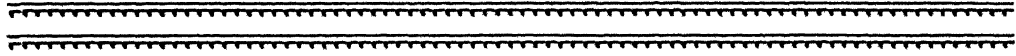
भारत का आध्यात्मिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब भारत के आध्यात्मिक जीवन पर जड़वाद रूपी संकट आया, तब-तब भगवान ने नरदेह धारण कर अवतीर्ण हो उसे उबारा । पूर्व युगों की अपेक्षा वर्तमान युग का संकट अधिक भयंकर था, क्योंकि यह केवल साधारण भोगवाद नहीं था, यह तो वैज्ञानिक जड़वाद था, जो अतिद्रुत गति से असंख्य नर-नारियों के अन्तस्थल तक पैठता हुआ उनके हृदय से श्रद्धा-विश्वास को समूल नष्ट करने पर तुला हुआ था । इसके आकर्षक मोहजाल में फंसकर भारतवासी त्याग पर अधिष्ठित अपने सनातन धर्म मार्ग से दूर चले जा रहे थे ।

मानव जाति को इस महान संकट से बचाने के लिये सनातन धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा आवश्यक थी, किन्तु यह प्रतिष्ठा इस रूप में करनी थी जिससे वैज्ञानिक भावयुक्त आधुनिक मानव उसकी प्रक्रिया को सरलता से समझ सके और अपना सके । इस कार्य की पूर्ति के लिये भगवान श्री राम कृष्ण देव का अविर्भाव हुआ । उन्होंने अपने दिव्य जीवन द्वारा भारत की सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को पुनः जागृत किया । न केवल हिन्दू बल्कि संसार के प्रायः सभी विख्यात धर्मों को पुर्न-जीवित कर उन्होंने सम्पूर्ण संसार की धर्मग्लानि को दूर किया तथा भ्रान्त, अशान्त, अतृप्त जगद्वासियों को अमृतत्व का दान दिया ।

जीवन-वृत्तः-

श्री रामकृष्ण देव जी का जन्म पश्चिम बंगाल के हुगली जिले के अन्तर्गत कामारपुकुर ग्राम में एक निर्धन किन्तु, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में बंगला फाल्गुन 6, 1242, शकाब्द 1757, दिनांक 17 फरवरी 1836 ई0, शुक्लपक्ष, बुधवार रात की 31 घड़ी व्यतीत होने के बाद अर्धघटिका काल में हुआ था । उस समय शुभ द्वितीया तिथि पूर्व भाद्रपद नक्षत्र के साथ संयुक्त रहने के कारण सिद्धियोग का उदय हुआ था ।[1]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग-(प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 56

श्री रामकृष्ण देव जी के बचपन का नाम गदाधर था । उनके पिता क्षुदिराम चटोपाध्याय एक धर्म परायण, निष्ठावान एवं सदाचार सम्पन्न ब्राह्मण थे । वे रघुवीर के उपासक थे ।[1] उनकी माता चन्द्रमणि देवी स्नेह, सरलता तथा दयालुता की मूर्ति थीं । गदाधर के परिवार के अन्य सदस्यों में श्रीरामकुमार, श्री रामेश्वर उनके दो भाई तथा दो बहनें कात्यायनी और सर्वमंगला थीं ।[2]

ईश्वर अवतार श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, चैतन्य महाप्रभु आदि के जन्म के समय जिस प्रकार अनेकों अलोकिक घटनाएँ घटित हुईं साथ ही इनके माता-पिता को जिस प्रकार की दिव्य अनुभूतियाँ हो रही थीं कुछ इसी प्रकार की घटनाएँ गदाधर के जन्म के समय भी घटी थीं । यहाँ एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है । गदाधर के जन्म के पूर्व एक दिन माता चन्द्रमणि शिव मन्दिर के समक्ष खड़ी हुई थीं । उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि शिवजी के अंग से एक उज्ज्वल ज्योति निकलकर तरंग वेग से बढ़ती हुई उनके उदर में प्रविष्ट कर गई है । वे मूर्छित हो गिर पड़ी परन्तु शीघ्र ही उन्हें प्रतीत होने लगा कि उनके उदर में गर्भ संचार हुआ है । इस आधार पर श्री रामकृष्ण देव को भगवान शंकर का अवतार रूप भी स्वीकार किया जाता है ।[3] धर्मग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अवतारों के जन्म के पूर्व उनके माता-पिता को दिव्य दर्शनादि हुआ करते थे ।

गया के गदाधर की कृपा से यह पुत्र प्राप्त हुआ है यह सोचकर क्षुदिराम ने उनका नाम गदाधर रखा । बालक गदाधर अपनी मधुर बाल-लीलाओं द्वारा माता-

---

1. अमृत वाणी-(स्वामी रामकृष्ण के उपदेशों का बृहद संग्रह), पृष्ठ - 4
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 25
3. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का बृहद संग्रह), पृष्ठ-10

पिता तथा समस्त ग्रामवासियों को आनन्द देने लगा । उनमें दूसरों के चित्त को आकृष्ट करने की एक अलौकिक शक्ति थी ।

बाल्य-काल और शिक्षा-दीक्षा:-

गदाधर का व्यक्तित्व बचपन से ही अन्य बालकों से भिन्न था । उसका स्वाभाविक एकाग्रचित्त जब जिस विषय की ओर आकर्षित होता उस समय वह उसी ओर तल्लीन हो जाता । उसमें अद्भुत स्मरण शक्ति थी । श्री क्षुदिराम जी चंचल बालक को गोद में लेकर जब अपने पूर्वजों के नाम एवं देव-देवियों के छोटे स्त्रोत तथा प्रणामादि अथवा रामायण, महाभारत के कोई विचित्र उपाख्यान सुनाते तो गदाधर उसे केवल एक बार में ही सुनकर याद कर लेते थे । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ उनमें कुछ विषयों को अत्यंत आग्रहपूर्वक ग्रहण करने की उत्कंठा रहती थी वहीं दूसरी ओर कुछ विषयों के प्रति उनका अनुराग अंकुरित ही नहीं हुआ ।

बालक को समय आने पर गाँव की एक पाठशाला में भर्ती करवा दिया गया । उस समय यदुनाथ सरकार जी वहाँ के शिक्षक थे । कुछ दिनों के पश्चात् श्री राजेन्द्र नाथ सरकार ने वहाँ का कार्य - भार संभाला । पढ़ना-लिखना तो गदाधर ने थोड़े ही दिनों में सीख लिया किन्तु गणित के प्रति उसके मन में उदासीनता बनी रही । रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ, भजन-कीर्तन आदि को केवल एक बार सुनते ही वह आत्मसात कर लेते थे । वे धार्मिक नाटकों को केवल एक बार देखकर यथोचित हाव-भाव के साथ उनका सही-सही अभिनय कर लिया करते थे।

जब गदाधर सात वर्ष के थे, उनके पिता श्री क्षुदिराम जी का देहान्त हो गया । अब परिवार का उत्तरदायित्व गदाधर के बड़े भाई श्रीरामकुमार जी के कन्धों पर आ गया । इस परिस्थिति में गदाधर के स्वभाव की सहज गम्भीरता चिन्तन में

परिवर्तित होने लगी । प्रारम्भ से ही गदाधर का हृदय एक कलाकार की भावुकता से परिप्लावित था ।[1]

जब गदाधर किशोरावस्था में थे, तो उनका हृदय नारी हृदय के समान कोमल था । नौ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार होने पर उन्हें देव पूजा का अधिकार प्राप्त हो गया । अब वे अपना अधिकतर समय सन्ध्या-वंदन, पूजा ध्यानादि में बिताने लगे । दस वर्ष की अवस्था में शिवरात्रि में आयोजित शिव-विषयक नाटक में शिवजी का अभिनय करते समय वे शिवजी के भाव में इतना अधिक तन्मय हो गये कि उनकी अवस्था रंगमंच पर खड़े होते ही बाह्य ज्ञान शून्य हो गयी ।[2]

शिक्षा के प्रति उनका अलग ही दृष्टिकोण था । प्रारम्भ से ही उनका मन पढ़ाई-लिखाई में बिल्कुल भी न लगा । प्रखर - बुद्धिमता के कारण उन्हें यह समझने में देर न लगी कि लोग मात्र पैसा कमाने के लिये ही विद्या-लाभ लेते हैं।[3]

उनका विचार था कि कठोर परिश्रम और अध्ययन करके शास्त्रों में लिखी बातों का पठन-पाठन मात्र करने से कोई लाभ नहीं है । इससे शास्त्र निहित सत्य की उपलब्धि नहीं होती । श्रीरामकुमार जी गदाधर की शिक्षा सुव्यवस्थित रूप से करवाने के उद्देश्य से उन्हें कलकत्ता शहर ले गये, किन्तु स्कूल की आधुनिक शिक्षा उनके हृदय की पिपासा को शांत न कर सकी । जीवन की गहराई में उन्हें कुछ दूसरी ज्योति दिखाई दी । उसमें उन्होंने जीवन का एक ही लक्ष्य देखा, वह था- "भगवत् शक्ति" । उन्होंने मन ही मन यह निश्चय किया कि मात्र "रोटी" अर्जित

---

1. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 2
2. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का बृहद् संग्रह), पृष्ठ - 14
3. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 4

करने वाली इस शिक्षा को लेकर मैं क्या करूँगा । यह विद्या मुझे नहीं चाहिये । मुझे तो मात्र वही शिक्षा चाहिये जिससे हृदय में ज्ञान का उदय होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाय ।[1]

अत. गदाधर की शिक्षा सुचारू रूप से नहीं हो सकी । वे पढ़ाई-लिखाई का कार्य छोड़कर यजमानों के घर देव-पूजा का कार्य करने लगे और इस कार्य में उन्हें पूर्ण सन्तोष भी प्राप्त होता था । उनका विश्वास था कि जिस कार्य को करने से सन्तुष्टि प्राप्त न हो सके उसे नहीं करना चाहिये यही कारण है कि बाल्यकाल से ही उनमें यह प्रवृत्ति थी कि उन्हें जब तक हृदय स्पर्शी तथा सन्तोषपूर्ण कारण ज्ञात नहीं होता था वे उसे मानने को तैयार नहीं होते थे ।[2]

परमेश्वर की अचिन्त्य-योजना से इसी समय वैश्य जाति की एक सम्पन्न विधवा-महिला रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में भव-तारिणी काली माता का मन्दिर-प्रतिष्ठित करवाया और श्रीरामकुमार जी को उसका पुजारी नियुक्त किया गया । इस मन्दिर में ऊँच-नीच की भावना से रहित प्रत्येक जाति और प्रत्येक धर्मावलम्बी को देव पूजन का अवसर प्राप्त था । इस मन्दिर के निर्माण से जाति के नाम पर सामाजिक यातनाओं से पीड़ित जनता को संतोष और आनन्द प्राप्त हुआ ।[3]

कालान्तर में श्री रामकुमार. . ने गदाधर को केनाराम भट्टाचार्य नामक एक शक्ति साधक से दीक्षा दिलवा दी और काली मन्दिर का पुजारी पद उन्हें प्राप्त हो

---

1. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का बृहद् संग्रह), पृष्ठ - 15
2. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 5
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 67

गया ।[1] कुछ समय बाद अग्रज श्री रामकुमार का देहान्त हो गया जिसके कारण पूजक गदाधर की अन्तर्निहित वैराग्य-शक्ति और भी प्रज्ज्वलित हो गयी । मंदिर में आनन्दमयी जगज्जननी की पूजा-अर्चना में तन्मय हो वे समस्त संसार को भूल जाते थे ।[2]

एक बार उनकी हृदय - वेदना इतनी असह हो उठी कि भगवत् दर्शन के बिना इस जीवन का क्या मोल है ? यह सोचकर माँ काली के मन्दिर में लटकती हुई तलवार को अपने हाथ में लेकर कहने लगे कि "तलवार" बस तुम्ही इस जीवन का अन्त करने में सहायक हो सकती हो" । किन्तु तुरन्त ही एक अत्यन्त प्रखर एवं उज्ज्वल प्रकाश-पुंज उनके चारों ओर फैल गया, वे उसमें डूबने लगे । उनका पूरा परिवेश माँ काली का मन्दिर, द्वार खिड़की आदि सब कुछ उस आलोक की लहर में खो गया । उनकी अपनी चेतना खो गयी । इस प्रकार उन्हें दिव्य-दर्शन प्राप्त हुआ और वे बेसुध होकर जमीन पर गिर पड़े । वे एक असीम अनन्त चैतन्यमय ज्योति समुद्र में निमग्न हो अपना अस्तित्व ही खो बैठे ।[3]

इसके बाद समय-समय पर उन्हें देवी माँ के प्रायः दर्शन होने लगे ।

विवाह-संस्कार:-

सांसारिकता की ओर उनका मन आकर्षित करने के लिए लोगों ने उन्हें विवाह के बंधन में बांधना चाहा । माँ काली की इच्छा समझकर रामकृष्ण ने इस

---

1. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 5
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 67
3. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 6

पुनीत कार्य के लिए खुशी से अपनी सम्मति दे दी, और उनका विवाह 'जयरामवटी' नामक गाँव के रामचन्द्र मुखोपाध्याय की पुत्री 'शारदापाणि' से हुआ । यह विवाह सन् 1859 ई0 के मई माह में सम्पन्न हुआ । उस समय गदाधर की अवस्था साढ़े तेईस वर्ष और वधू शारदापाणि की अवस्था मात्र साढ़े पाँच वर्ष की थी ।[1]

माँ शारदापाणि के विषय में यह उपयुक्त ही कहा जाता है कि "वे इस युग की समग्र नारी-जाति का आदर्श हैं ।" उनका जीवन अत्यन्त अद्भुत था । नर-देह धारण कर साधारण गृहस्थ की भाँति वे रहती थीं, किन्तु वे साक्षात् आद्याशक्ति, जगज्जननी थीं, शास्त्रों में जो काली, दुर्गा, महाविद्या आदि दस महाविद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है, माता शारदापाणि उन्हीं दस महाविद्याओं में से एक थीं । ठाकुर (श्री रामकृष्ण देव) की युगधर्म स्थापना हेतु नर लीला को पूर्ण करने के लिये वे जगत में अवतीर्ण हुई थीं ।[2]

अपने ईश्वरीय रूप को वे इतना अधिक छिपाकर रखती थीं कि उनको समझने का कोई उपाय ही नहीं था । वे क्या थीं ? यह तो एकमात्र ठाकुर (रामकृष्ण देव) ही जानते थे और स्वामी विवेकानन्द जी ने उनको थोड़ा-थोड़ा समझा था । स्वामी जी ने पाश्चात्य देशों में जाने के पहले एकमात्र माँ को ही अपना उद्देश्य बताया था और आशीर्वाद लेकर समुद पार गये थे, और विश्वविजयी होकर लौटे थे । स्वामी विवेकानन्द माँ शारदापाणि के विषय में कहा करते थे कि माँ तो ठाकुर से भी बड़ी हैं ।[3]

---

1. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद संग्रह), पृष्ठ - 20
2. धर्म प्रसंग में स्वामी शिवानंद, स्वामी अपूर्णानन्द, पृष्ठ - 184
3. धर्म प्रसंग में स्वामी शिवानन्द, स्वामी अपूर्णानन्द, पृष्ठ - 185

इस प्रकार जगत की समस्त स्त्री-जाति को जगाने के लिये माँ नर-देह धारण कर अवतरित हुई थीं । वैदिक और पौराणिक युग में जैसे- गार्गी, मैत्रेयी, सीता, सावित्री आदि अद्भुत नारियाँ हुई थीं । माँ शारदापाणि भी इस युग की अद्भुत महिला थीं ।

गदाधर का कठोर धार्मिक-जीवनः-

गदाधर सुदीर्घ बारह वर्षों तक अविरत कठोर साधना करते रहे । प्रथम चार वर्ष के साधना-काल में वे केवल अपनी तीव्र व्याकुलता के सहारे जगज्जननी पर अपना समस्त भार सौंपकर चल रहे थे और एक मात्र इस व्याकुलता के बल पर ही उन्हें जगज्जननी के दर्शन हुए थे ।

श्री जगदम्बा के दर्शन होने के बाद अपने कुल देवता रघुवीर के दर्शन की इच्छा उनके मन में उदित हुई और वे दास्य-भक्ति की साधना में डूब गये । इस समय उनकी अवस्था हनुमान जी की तरह हो गयी और उन्हें सीता जी के दर्शन हुए ।[1]

इसी समय काम-कांचनाशक्ति को पूर्णतया नष्ट करने के लिये उन्होंने अद्भुत साधनाएँ कीं । उस समय उनका मन ही उनके गुरू का काम कर रहा था। बाह्य गुरू की कोई आवश्यकता नहीं थी । उनके शरीर के भीतर से उन्हीं के जैसा दिखायी देने वाला एक युवक सन्यासी बाहर प्रकट हो उन्हें प्रत्येक विषय में उपदेश दिया करता था । बाद में भैरवी ब्राह्मणी, तोतापुरी आदि गुरूओं ने आकर उन्हें उपदेश दिए ।[2]

---

1. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद् संग्रह), पृष्ठ - 19
2. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द, स्वामी अपूर्वानन्द, पृष्ठ - 180

साधना के प्रथम चार वर्षों के अन्तिम भाग में उन्हे श्री चैतन्य और नित्यानन्द के दर्शन हुए तथा दोनों उनके शरीर मे प्रविष्ट कर गए ।

1861 ई0 में जगज्जननी की अनुभूति लेकर गदाधर ने भैरवी ब्राह्मणी के निर्देशानुसार यथाशास्त्र, तत्र साधना आरम्भ की । ये साधनाएँ अत्यन्त कठिन और गूढ़ थीं । इन्हें करते हुए गदाधर इतने तन्मय हो जाते कि महीनों उन्हें दिन और रात का भी पता नहीं रहता था । अनेकों दिव्य दर्शन, अलौकिक अनुभूतियाँ एवं सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुई । उन्हें चौंसठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं ।[1] इन सिद्धियों के परिणाम स्वरूप ही उनमें विभिन्न भाव और महाभाव दिखायी दिये ।

1863 में वे वात्सल्य भाव की साधना में और आगे मधुरभाव की साधना में प्रवृत्त हुए । वैष्णवशास्त्र में मधुरभाव को शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य भावों की सार-समष्टि अथवा परिपूर्ति माना जाता है । मधुरभाव की साधना के समय वे स्त्री-वेश धारण किए रहते थे । उस समय उनके शरीर और मन के प्रत्येक क्रियाकलाप से स्त्री जनोचित भाव ही प्रकट होता था । श्रीराधा के भाव में मग्न हो श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए व्याकुल होकर वे करूण विलाप करते । इस अवस्था में उन्हें श्री राधिका और श्रीकृष्ण के दर्शन हुए ।[2]

वे मधुर-भाव में सिद्धि प्राप्त करने के बाद पंचभाव साधना में तल्लीन हुए और इस प्रकार वे पंचभाव साधना के सर्वोच्च-शिखर पर आरूढ़ हो गए । यह शिखर अद्वैत-भाव की साधना का था जहाँ उन्होंने परिव्राजक श्री तोतापुरी जी से शिक्षा ली । अद्वैत-भाव की शिक्षा देने वाले तोतापुरी ने ही गदाधर को 'श्री रामकृष्ण' की

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 322
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 323

उपाधि दी थी ।[1]

सन् 1866-67 ई0 में इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत सूफी सम्प्रदाय के अनुयायी गोविन्द राय नामक एक साधक से श्री रामकृष्ण ने इस्लाम धर्म की शिक्षा ली । तीन ही दिनों में उन्हें इस्लाम धर्म के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति हुई । उन्हें एक लम्बी दाढ़ी वाले गम्भीर ज्योतिर्मय दिव्य-पुरूष का दर्शन हुआ और फिर उनका मन अद्वैत भूमि में लीन हो गया ।[2]

इस्लाम धर्म की शिक्षा लेने के कुछ वर्षों के बाद श्री रामकृष्ण देव के मन में ईसाई - धर्म के गूढ़ मर्म को जानने की इच्छा हुई । एक दिन वे दक्षिणेश्वर काली-मन्दिर के निकट स्थित यदुमल्लिक के बैठकखाने में गये हुए थे । वहाँ दीवार पर टंगी 'माता मेरी की गोद में विराजमान शिशु ईसा' के चित्र की ओर देखते हुए वे भावाविष्ट हो गये । इस अवस्था में उन्होंने देखा कि वह चित्र मानो सजीव हो ज्योतिर्मय हो उठा हो तथा उसमें से दिव्य ज्योति निकल कर उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी हो । वे गम्भीर ध्यान में निमग्न हो गये ओर उन्हें कुछ अपूर्व अनुभूतियाँ हुई उन्हें ईसामसीह ने आलिंगन किया और उनकी देह में विलीन हो गये ।[3]

श्री रामकृष्ण देव ने बौद्ध, जैन, सिक्खादि धर्मों की भी साधना की थी या नहीं इस बात का कोई उल्लेख तो नहीं प्राप्त होता किन्तु इन धर्मों पर उनकी श्रृद्धा को देखकर ऐसा लगता है कि अवश्य ही उन्हें इन धर्मों की भी अनुभूतियाँ प्राप्त हुई होंगी ।

---

1. श्री रामकृष्ण, रोमां रोलां, पृष्ठ - 58
2. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद् संग्रह), पृष्ठ - 24
3. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद् संग्रह), पृष्ठ - 25

इस प्रकार विभिन्न धर्म मार्गों की साधना द्वारा उसी एक चरम सत्य की उपलब्धि कर उन्होंने संसार के सम्मुख सर्व-धर्म-सम्भाव का आदर्श प्रतिष्ठित किया ।[1]

उन्होंने तीर्थ-यात्रा के क्रम में वैद्यनाथ धाम, काशी, वृन्दावन, श्री चैतन्य देव के जन्म स्थान नवद्वीप की भी यात्रा की ।[2]

इस प्रकार जब उनके भीतर अन्तर्निहित दिव्य-भाव पूर्ण विकसित हो चुका था तब वे जगद्गुरू पद पर प्रतिष्ठित हो जीव-कल्याण के कार्य में रत हुए। विभिन्न सम्प्रदायों एवं श्रेणियों के साधकों के भीतर यथार्थ सत्य को जागृत करते हुए वे उन्हें अपनी अभिनव उदार भावधारा से परिप्लावित करने लगे । इस समय अनेक पाश्चात्य शिक्षा-सम्पन्न सुप्रसिद्ध व्यक्तियों से सम्बन्धित, ब्रह्म-समाज के केशव सेन, विजय कृष्ण गोस्वामी, शिवनाथ शास्त्री आदि नेताओं के सम्पर्क में आकर श्री रामकृष्ण देव को बंगाल के शिक्षित समुदाय के मनोभावों से परिचित होने का अवसर मिला ।

वे सुविख्यात व्यक्तियों से परिचित हो गये । जिनमें पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, बंकिम चन्द्र चटर्जी, माइकल मधूसूदन दत्त, चूड़ामणि, कृष्णदास पाल, अश्विनी कुमार दत्त के नाम उल्लेखनीय हैं । इसके अतिरिक्त संसार के विभिन्न वर्गों के लोग उनके सम्पर्क में आये । इन भक्तों के जीवन को गठित कर इन्हें युगधर्म प्रचार का योग्य माध्यम बनाने के लिये तथा संसार-ताप तप्त असंख्य जीवों का दुःख दूर

---

1. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद संग्रह), पृष्ठ - 25

2. श्री रामकृष्ण, रोमां रोलां, पृष्ठ - 56

करने के लिये श्री रामकृष्ण देव ने अपनी आयु के अन्तिम छः वर्षों में मनों छः युगों का कार्य सम्पादित किया ।[1]

1885 ई0 में उन्हें गले की बीमारी हो गयी और यह रोग असाध्य कैंसर में परिवर्तित हो गई । कलकत्ते ले आये जाने पर उन्हें पहले श्यामापुकुर नामक मुहल्ले में फिर दो महीने में काशीपुर मे रखा गया । यहाँ भी बीमारी की अवस्था में उनकी भाव-समाधि, उपदेश-दान आदि का क्रम जारी ही रहा । उन्होंने असंख्य नर-नारियों को अभय-दानादि देते हुये अमृतत्व का सन्धान किया । इसी मकान में उन्होंने ग्यारह त्यागी भक्तों को गेरूआ वस्त्र प्रदान कर आडम्बर रूप से रहित रामकृष्ण संघ की स्थापना की ।[2]

रविवार 15 अगस्त 1886 को मध्य-रात्रि के बाद भगवन्नाम का उच्चारण कर वे समाधि मग्न हो गये और उनकी यह समाधि, महासमाधि में परिवर्तित हो गयी ।

श्री रामकृष्ण देव का मानसिक गठनः-

श्री रामकृष्ण देव का मन किसी पार्थिव वस्तु में आसक्त न रहने के कारण जब जिसे ग्रहण करने या त्यागने की ओर बढ़ता था तो वह सम्यक् युक्त भावना से ही प्रेरित होता था । उनकी अदृष्टपूर्ण निष्ठा, अद्भुत विचारशीलता तथा आन्तरिक एकाग्रता उनके मन को पकड़कर उसे जो भी इच्छा हो, जितने भी दिन इच्छा हो एवं जहाँ की इच्छा हो स्थिर भाव से निश्चल बना कर रखती थी । किसी विषय

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 85
2. श्री रामकृष्ण देव, रोमां रोला, पृष्ठ - 57

को त्यागने या ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होते ही उस मन का एक अंश कह उठता था कि 'बताओ तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?' उस प्रश्न की यथार्थ - युक्त संगत-मीमांसा प्राप्त होने पर तब कहीं वह कहता था कि - 'ठीक है, इसको करो ।'[1]

उनका मानसिक गठन कुछ इस प्रकार से ईश्वर प्रेरित था कि एकाग्रता के साथ एक निष्ठ होकर तद्नुकूल आचरण करवाता था । मन के द्वारा पूर्णतया सहमत न होने पर श्री रामकृष्ण देव कोई भी कार्य करने को तैयार नहीं होते थे। उनका मन एक प्रेरणा के द्वारा उनकी इन्द्रियों को बांधकर रखता था । शिक्षा के क्षेत्र में, धर्म-दीक्षा के क्षेत्र में, जगदम्बा पूजन के समय उन्होंने इसी प्रेरणा से कार्य किया ।[2]

इस प्रकार उनके मन में अनासक्ति, विचारशीलता, एकाग्रता तथा निष्ठा सहज एवं स्वाभाविक थी । इन तत्वों से मिलकर ही उनका मानसिक गठन हुआ था ।

श्री रामकृष्ण देव और उनका विभिन्न-भाव:-

श्री रामकृष्ण देव जी ने धर्म को पूरी तरह से जानने के लिये तथा जनसाधारण को सरलता पूर्वक समझाने के लिये विभिन्न भावों के द्वारा अनुभव कर एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया । उनका यह विचार था कि हम ईश्वर को एक भाव के रूप में ही अनुभव कर सकते हैं । मनुष्य अपने जीवन में, अपने विभिन्न सम्बन्धों में बंधा रहकर ही एक - दूसरे से प्रेम कर पाता है । वह चाहे सन्तान के रूप

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 395
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 397

में हो, पिता के रूप में हो, गुरू के रूप मे हो, स्त्री के रूप मे हो या दास के रूप मे । आवश्यकता इस बात की है, हम ईश्वर से भी अपना किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करे तभी उसे हम सही और सच्चे रूप में पहचान सकते है ।

श्री रामकृष्ण देव का यही विचार उनके विभिन्न भाव-रूपों में प्राप्त होता है । अपने कठोर धार्मिक साधनाकाल में उन्होंने कभी अपने आप को ईश्वर की सन्तान समझ कर उसकी पूजा की तो कभी स्त्री भाव से उसे समझा । उनमें कहीं मानव-मानव के प्रति प्रेम का प्रदर्शन दिखाई दिया तो कभी एक सच्चे गुरू की भाँति उन्होंने लोगों को उपदेश देकर ईश्वर को पहचानने का मार्ग प्रशस्त किया ।

(1) श्री रामकृष्ण देव का सन्तान-भावः-

श्री रामकृष्ण देव ईश्वर के बारे में कहा करते थे कि उनको कौन जान सकता है ? मैं तो जानने की चेष्टा भी नहीं करता । मैं तो केवल माँ कहकर पुकारता हूँ । माँ जो भी करे । उनकी जो इच्छा होगी वह मुझे स्वयं ही उस बात से अवगत करवायेगी । वे इसी परिप्रेक्ष्य में आगे कहते हैं कि मेरा स्वभाव तो बिल्ली के बच्चों जैसा है जो केवल म्याऊँ - म्याऊँ करके पुकारता है । तत्पश्चात् माँ जहाँ पर रख देती है वहाँ वह पड़ा रहता है । मेरी भी वही स्थिति है । एक नन्हा बच्चा केवल माँ को चाहता है, माँ का कितना ऐश्वर्य है, वह नहीं जानता । जानना चाहता भी नहीं । नौकरानी का लड़का भी जानता है कि मेरी माँ है । बाबू के लड़के के साथ यदि झगड़ा होता है तो कहता है कि, "मैं माँ से कह दूँगा । मेरी माँ है ।" मेरा भी यही सन्तान भाव है ।[1]

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण अनेकों स्थलों पर प्राप्त होते हैं, जिनके

---

1. श्री रामकृष्ण कथामृत, (द्वितीय खण्ड), श्री महेन्द्र नाथ गुप्त, पृष्ठ - 94

आधार पर श्री रामकृष्ण देव के सन्तान-भाव की पुष्टि होती है । वे माँ काली को अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर एक सच्ची सन्तान की भाँति माँ के चरण-कमलों की सेवा किया करते थे । उन्होंने लोगों को उपदेश दिया कि पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से पूर्ण समर्पण के साथ ईश्वर से अपने आपको जोड़कर ही मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होगा और इसी मार्ग पर कल्याण भी है ।[1]

(2) श्री रामकृष्ण देव का स्त्री-भावः-

श्री रामकृष्ण देव जी की अनेक साधनाओं में एक साधना स्त्री-पुरूष के भेदभाव को समूल नष्ट कर दिये जाने की भी थी । उनका विचार था कि आत्मा निर्लिंग है । वह न स्त्री है और पुरूष है । स्त्री-पुरूष का भेद केवल शरीर से ही है । जो व्यक्ति यह आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, वह यह भेदभाव कभी नहीं मान सकता । विवेकानन्द जी कहते हैं कि हमारे गुरूदेव ने पुरूष-शरीर में जन्म अवश्य लिया था, किन्तु वे अपने कार्य के सभी विषयों में स्त्री-भाव लाने की चेष्टा करने लगे थे । यहाँ तक कि वे स्वयं यह सोचने लगे थे कि वे पुरूष नहीं स्त्री हैं । वे स्त्रियों के समान सुशील नारी की भाँति कुटुम्ब की स्त्रियों के बीच में जाकर रहने की नियमित साधना करने लगे । वे स्त्रियों के समान ही बोलते थे । इस प्रकार की साधना के बाद उनके मनका स्वरूप पलट गया ।[2] वे प्रत्येक स्त्री में जगन्माता का ही रूप देखते थे । श्री रामकृष्ण देव उन स्त्रियों के चरणों में गिर पड़ते जिन्हें समाज स्पर्श तक नहीं करता और उन स्त्रियों से भी रोते-रोते यही पुकारते थे, हे जगन्माता । एक रूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे रूप में तुम जगद्-व्यापिनी हो । हे जगदम्बे । हे माता । मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ।[3]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 245
2. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 256
3. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 257

(3) श्री रामकृष्ण देव का मानव-भाव:-

श्री रामकृष्ण देव के जीवन की मीमांसा एवं विवेचना करने पर यह भली-भाँति विदित होता है कि दूसरों का मार्ग दर्शन करने के निमित्त ही उनका अविर्भाव हुआ था । भोग साधना अथवा मुक्ति प्राप्त करना उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था । दूसरों के दुःख में सहानुभूति तथा दूसरों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम ही उन्हें विभिन्न कार्यों मे प्रेरणा प्रदान कर दूसरों के दुःख निवारक-मार्ग का अविष्कार करने का हेतु बनाता था ।[1]

विभिन्न धर्म-मार्गों की धर्म साधना कर उन्होंने मानव-मानव के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटने का मार्ग प्रशस्त किया । एक सच्चे अवतारी पुरूष होने पर भी उन्होंने जीवन की अनेक कठिनाइयों का निर्वाह कर मानव-जीवन का सच्चा आदर्श प्रस्तुत किया । इन परिस्थितियों के कारण उनके मानव-भाव की पुष्टि होती है । उनके देवत्व भाव को देखकर यह विश्वास नहीं किया जा सकता था कि उन्हें भी हम सभी की भाँति रोगादि हो सकते हैं । एक साधारण मानव की भाँति उनमें भी हर्ष-शोकादि विद्यमान थे । उनके भीतर भी हमारी तरह प्रवृत्तियों का देवासुर संग्राम-चलता रहता था ।[2]

(4) श्री रामकृष्ण देव जी का गुरू-भाव:-

श्री रामकृष्ण जी के अनेक भावों में गुरू भाव एक श्रेष्ठ भाव है । यद्यपि सबके प्रति उनका समान विनम्र भाव था । अपने को वे सबसे छोटा मानते थे । उनके भीतर अहंकार का नाम तक नहीं था । व कहा करते थे कि ईश्वर ही एक मात्र, गुरू पिता या माता है वह ही कर्त्ता है मैं हीन से भी हीन हूँ दास का भी दास

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 500
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 501

शरीर के एक रोयें के बराबर हूँ और एक रोयें के भी बराबर नहीं हूँ ।[1]

इस प्रकार का भाव व्यक्त कर श्री रामकृष्ण देव जी ने मनुष्य को अभिमान रहित हो ईश्वर को सम्पूर्ण समर्पण कर अपने आप को प्रभु का दास समझने की शिक्षा दी । उनका सम्पूर्ण जीवन इसी शिक्षा से ओत-प्रोत था । इस प्रकार का भाव जब वे साधारण भाव में होते थे तभी प्रायः देखने को मिलता था ।

किन्तु जब वे अदृष्ट पूर्ण दिव्य भावावेश में होते थे तब स्वयं यन्त्र बनकर किसी को स्पर्श मात्र से समाधि, गहन ध्यान अथवा भगवत् - आनन्द के अभूत-पूर्ण नशे में निमग्न कर देते थे ।[2] वे आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा उसके मन से तमोगुण या मालिन्य को ऐसा खींच लेते थे कि वह तत्काल ही उस प्रकार की एक मानसिक-एकाग्रता, पवित्रता तथा आनन्द-तन्मयता में विभोर हो जाता था ।[3] रामकृष्ण देव के इस प्रकार के कार्यों से उनके अन्दर एक ईश्वरी - शक्ति का आभास होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ही मानवों के गुरू, बाबा तथा भगवान के परमपद के प्रदर्शक हैं ।[4]

उनकी इसी भावना को लक्ष्य करके भक्त-वृन्द उन्हें गुरू, कृपामय, भगवान आदि शब्दों का प्रयोग करते थे । इस प्रकार यथार्थ दीनाभाव तथा दिव्य ईश्वरीय भाव का एक साथ एक ही व्यक्ति में रहना भी सम्भव है, यह केवल उन्हें ही देखकर सिद्ध हो सकता है ।[5]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ संख्या - 87
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ संख्या - 87
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड) स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 88
4. श्री रामकृष्ण वचनामृत (द्वितीय खण्ड), श्री महेन्द्र नाथ गुप्त, पृष्ठ-210
5. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (द्वितीय खण्ड), श्री महेन्द्र नाथ गुप्त, पृष्ठ-482

स्वामी रामकृष्ण देव के भीतर गुरू-भाव बाल्यकाल से ही देखने को मिलता है किन्तु युवावस्था में निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर ही उनमे यह भाव पूर्ण-रूप से प्रकट हुआ। "आगे फल तदनन्तर फूल" समस्त: अवतार पुरूषों के जीवन में ही यह भाव विद्यमान है -

स्पर्शभाव से धर्म जीवन में संचार की घटनाएँ ईसा मसीह, चैतन्य देव तथा श्री रामकृष्ण देव सभी के जीवन में देखने को मिलती हैं।

श्री रामकृष्ण देव के जीवन में गुरूभाव का प्रथम ज्वलन्त उदाहरण उनकी जन्मभूमि कामार पुकुर में देखने को मिलता है। जब उनकी आयु मात्र 9-10 वर्ष की थी और उनका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका था। गाँव के जमींदार लाहा बाबुओं के घर पर श्राद्ध के उपलक्ष्य पर पण्डित वर्ग के बीच तर्क-वितर्क होने लगा बहुत तर्क-वितर्क होने पर भी किसी शास्त्रीय प्रश्न विशेष पर कोई मीमांसा न होते देख- पूरी चर्चा धैर्यपूर्वक सुनने के बाद गदाधर ने अत्यंत सुन्दर मीमांसा कर दी- यह सब देखकर सर्वप्रथम - पण्डित गण भी अवाक् रह गये। अन्ततः सभी ने यह स्वीकार किया कि हाँ उस विषय की वही एकमात्र मीमांसा है।[1] वास्तव में - श्री जगदम्बा के सगुण-निर्गुण उभय पक्ष को पूर्ण दर्शन प्राप्त करने के बाद ही उनको यह आदेश प्राप्त हुआ कि - "तू भाव मुखी रह।"[2]

भाव-मुख अवस्था में पहुँचकर ही मैं अमुक की सन्तान हूँ, पिता हूँ, ब्राह्मण हूँ अथवा शूद्र हूँ इत्यादि सारी बातें मन से एकदम दूर हो जाती हैं तथा अपने मन

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ-94
2. श्री रामकृष्ण देव लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ-95

में सर्वदा वही अनुभव होता है कि मैं वही विश्व-व्यापी अहं हूँ । वे कहते थे कि अद्वैत-ज्ञान को आंचल ज्ञान से बाँध कर जो इच्छा हो सो करो ।[1]

श्री रामकृष्ण देव अद्वैत - विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत सभी भाव को मानते थे किन्तु वे यह भी मानते थे कि - उक्त तीनों प्रकार के मत मानव-मन की उन्नति के अनुसार उत्तरोत्तर आकर उपस्थित होते हैं । किसी स्थिति में द्वैतभाव का उदय होता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि - मानो शेष दोनों भाव-मिथ्या है धर्मोन्मत के उच्चतर सोपान पर आरूढ़ होने के पश्चात् किसी दूसरी स्थिति में विशिष्ट द्वैत उपस्थित होता है, उस समय ऐसा अनुभव होता है कि नित्य निर्गुण वस्तु लीला में सदा सगुण बनी हुई है । तब द्वैतवाद मिथ्या प्रतीत होता है और अद्वैत भाव की उत्पत्ति होती है ।[2]

इसी परिपेक्ष्य में श्री रामकृष्ण देव जी आगे कहते हैं कि शान्त, दास्यादि तथा अद्वैत-भाव की उपलब्धि के तारतम्य के बारे में कोई यह न समझे कि ईश्वरावतार वर्ग भी भावराज में किसी सीमा के अन्दर आबद्ध रहते हैं । वे अपनी इच्छानुसार शान्त, उन्मादि भावों में से किसी भी भाव को अपने जीवन में पूर्णतया प्रदर्शित करने में समर्थ है । किन्तु वे केवल अद्वैत-भाव का अवलम्ब कर भगवान के साथ एकत्व अनुभव में ही अग्रसर हो सकते हैं, जीवन्मुक्त, नित्यमुक्त ईश्वरकोटि किसी भी जीव के लिये यह सम्भव नहीं है ।[3]

स्वामी रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि एक निष्ठ, बुद्धि, दृढ़-विश्वास

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ-95
2. श्री रामकृष्ण कथामृत, द्वितीय खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 325
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, स्वामी सारदानंद, पृष्ठ-41

तथा प्रगाढ़ भक्ति की सहायता से साधक की जब सारी वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं तब भगवान के साथ अद्वैतभाव मे अवस्थित होने का समय आ जाता है । तब किसी-किसी व्यक्ति में पूर्व-संस्कारवश "मैं कल्याण करूँगा" तथा "जिससे अनेक लोग सुखी बन सके वही कार्य करूँगा इस प्रकार की शुद्ध भावना का जन्म होता है ।[1] तभी ईश्वर के साथ एकाकार हो जीव की मुक्ति होती है ।

रामकृष्ण देव के प्रमुख विचारः-

रामकृष्ण देव के जीवन का सम्बन्ध प्रमुखतया धर्म से था किन्तु सामाजिक तथा राजनैतिक परिपेक्ष्य से भी वे अलग नहीं थे । यहाँ उनके कुछ प्रमुख विचारों पर एक दृष्टि डालना भी प्रासंगिक होगा -

(1) दार्शनिक विचारः-

(क) 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में विचारः-

रामकृष्ण देव का ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप मे ही विश्वास करते हैं यही कारण है साधना के अन्तिम सोपान पर उन्होंने तोतापुरी से अद्वैत धर्म की शिक्षा ली । वे कहते हैं कि जो ब्रह्म है, वही शक्ति है, जब वे निष्क्रिय रहते हैं, तब उन्हें ब्रह्म कहते हैं जब वे सृष्टि स्थिति, संहार का कार्य करते हैं तब उन्हें शक्ति कहते हैं इनके बीच के भेद केवल स्थिर जल और हिलते-डुलते जल के समान है ।[2] वे आगे कहते हैं कि ब्रह्म अज्ञेय हैं उनमें सभी गुणों की उपस्थिति होते हुए भी वे निर्लिप्त हैं जैसे वायु

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 40
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 414

नहीं होगा उसके लिए विवेक वैराग्य की आवश्यकता है । इसी भावना को जागृत करने के लिये श्री रामकृष्ण देव जी ने आजीवन प्रयत्न किया ।

(ग) ईश्वर सम्बन्धी-विचार:-

समाज मे ईश्वर के साकार एवं निराकार स्वरूप पर उठते विवाद का निराकरण करते हुए वे कहते है कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी इसके अतिरिक्त भी वे क्या है यह कौन जान सकता है ? ये साकार उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार से जल और बरफ/जल जमकर बरफ बनता है, बरफ के भीतर तथा बाहर जल ही है जल के अतिरिक्त बरफ और कुछ भी नहीं है । किन्तु जल का कोई स्वरूप नहीं है । कोई आकार नहीं है किन्तु बरफ का आकार है । इस प्रकार भक्ति की भी शीतलता से अखण्ड सच्चिदानन्द सागर का जल जमकर बरफ की तरह विभिन्न आकारों में बदल जाता है ।[1]

स्वामी जी आगे कहते हैं कि - निराकार में मन तत्काल नहीं स्थिर होता। ज्ञानी निराकार का चिन्तन करते हैं वे अवतार नहीं मानते । ईश्वर को साकार रूप में अपना कर साधारण मनुष्य भी ईश्वर के वास्तविक - स्वरूप को समझ सकता है । वे कहते हैं कि ईश्वर को केवल निराकार कहना ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से शहनाई में सात छेद होते हुए भी एक व्यक्ति केवल 'पो' की आवाज ही करता रहता है । परन्तु उसी जगह दूसरा व्यक्ति विभिन्न राग-रागनियाँ बजाता है। साकार वादी ईश्वर के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि अनेक भावों का रसास्वादन करता है ।[2]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 74-75
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्र नाथ गुप्त, पृष्ठ - 113

इस प्रकार ईश्वर साकार और निराकार दोनों ही रूपों में हैं । भक्तों के हित के लिये वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं । जो निरन्तर भगवान का चिन्तन करता है वह उनके रूपों तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं को जान सकता है । ईश्वर न केवल साकार और निराकार रूप में बल्कि इसके परे रूप में भी हैं ।[1]

इसी विषय में वे आगे कहते हैं कि निर्गुण और सगुण - ब्रह्म और शक्ति- इन दोनों में कोई भेद नहीं दोनों एक ही हैं । भगवान जब निष्क्रिय अवस्था में होते हैं, अर्थात् जब वे सृष्टि, स्थिति एवं संहार के कार्य में रत नहीं रहते तब हम उन्हें ब्रह्म कहते हैं किन्तु जब वे इन कार्यकलापों में लगे रहते हैं तब उन्हें काली अथवा शक्ति कहते हैं ।[2]

यद्यपि स्वामी रामकृष्ण देव जी ईश्वर के साकार और निराकार दोनों ही रूपों को स्वीकार करते हैं किन्तु वे साकार-ईश्वर पूजन के अधिक पक्षपाती दिखाई देते हैं ।

(घ) मूर्ति-पूजा सम्बन्धी विचार:-

स्वामी रामकृष्ण देव जी ने मूर्ति पूजा का भी समर्थन किया है । मनुष्य की मानसिक क्षमताओं की विभिन्नता को देखते हुए उन्होंने मूर्ति-पूजा को आवश्यक माना । आर्य-समाज तथा ब्रह्म-समाज में मूर्ति-पूजा सम्बन्धी जो अलोचनाएं की गयीं, उससे भी रामकृष्ण जी सहमत नहीं थे । उनका भावना था कि यदि मूर्ति मिट्टी की हो तो भी उसकी पूजा की आवश्यकता है । सभी प्रकार की पूजा की योजना ईश्वर

---

1. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 7
2. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 9

ने की है । जो जैसा अधिकारी है, उसके लिये वैसा ही अनुष्ठान ईश्वर ने किया है । लड़के को जो रूचता है और जो उसे साध्य है, वही भोजन उसकी माँ उसके लिये पकाती है ।[1]

मूर्ति पूजा के महात्म पर आगे परिचर्चा करते हुए वे कहते हैं कि मूर्ति सामने होने पर ईश्वर का स्मरण होने लगता है, गाय के झुण्ड को देखते ही ग्वाल का स्मरण होने लगता है, सन्तान को देखते ही उसके पिता की बात याद आ जाती है, वकील को देखते ही कचहरी का स्मरण होने लगता है, उसी प्रकार ईश्वर की मूर्ति सामने होने पर ईश्वर के चरणों मे ध्यान अपने आप केन्द्रित हो जाता है मूर्ति ही वह साधन है जो परमात्मा तक पहुँचने में मनुष्य की सहायता करती है ।

इस प्रकार मूर्ति और ईश्वर में साधन और साध्य का सम्बन्ध है । साध्य की प्राप्ति होने पर साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती ठीक उसी प्रकार से ईश्वर की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ति पूजा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । जिस प्रकार छोटी-छोटी लड़कियाँ, जितने दिन तक उनका विवाह नहीं होता, उतने ही दिन तक गुड़िया - गुड्डों से खेलती हैं, किन्तु विवाह हो जाने पर उन्हें गुड़िया - गुड्डों की आवश्यकता नहीं रह जाती[2] इसी प्रकार ईश्वर - लाभ हो जाने पर पुनः मूर्ति-पूजा की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

(ड) साधना एवं साधक के विषय में विचार:-

श्री रामकृष्ण देव जी ने साधना एवं साधक के विष्य में भी विचार व्यक्त

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 78
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 554

किए । वे कहते हैं कि ईश्वर नरलीला करते हैं मनुष्य रूप में अवतीर्ण होते हैं। जिस प्रकार श्री कृष्ण, श्री रामचन्द्र, श्री चैतन्य देव । परन्तु ईश्वर को जानने के लिये साधना की आवश्यकता होती है । तालाब में बडी-बड़ी मछलियाँ हैं, उनके लिये चारा डालना पड़ता है, दूध से मक्खन निकालने के लिये मथना पड़ता है, राई से तेल निकालने के लिये उसे पेरना पड़ता है, मेंहदी को पीस कर ही उसमें से लालिमा प्राप्त की जा सकती है ।[1] इसी प्रकार कठोर तप के द्वारा, परिश्रम के द्वारा, साधना के बल पर ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है ।

साधक के विषय में वे कहते हैं कि कुछ तरह के साधकों का स्वभाव बिल्ली के बच्चों जैसा होता है तो कुछ तरह के साधकों का स्वभाव बन्दर के बच्चों जैसा । बन्दर का बच्चा अपनी माँ को तथा बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को ठीक तरह से पकड़े रहता है । इसी तरह कई साधक यह सोचते हैं कि हमें इतना तप करना चाहिये जिससे ईश्वर की प्राप्ति हो सके इसी प्रकार प्रत्येक साधक अपना-अपना मार्ग चुनकर आगे बढ़ता है ।[2] रामकृष्ण देव जी ने आध्यात्मिक उच्चादर्श प्राप्त करने के लिये सर्व-धर्म-समभाव की आवश्यकता को स्वीकार किया है ।

(च) ईश्वरावतार के विषय में विचार :-

श्री रामकृष्ण देव जी ने अवतार के विषय में भी विचार व्यक्त किए । वे कहते हैं कि नरलीला में ही अवतार होता है नरलीला उसी प्रकार है जैसे बड़ी छत का पानी नल से जोर-जोर से गिर रहा हो । वहीं सच्चिदानन्द हैं - उन्हीं की शक्ति एक रास्ते से नल के भीतर से आ रही है । केवल भारद्वाजादि बारह ऋषियों

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 596
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 224

ने ही राम को पहचाना था । ये अवतारी पुरूष हैं । अवतारी, पुरूष को सभी पहचान नहीं सकते । वे अवतीर्ण होकर भक्ति की शिक्षा देते हैं ।[1]

नरलीला करते समय अवतारी पुरूषों को ठीक आदमी की तरह ही आचरण करना पड़ता है । इसीलिये उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है । नररूप धारण करने पर प्राकृत नरों की भाँति आचरण किया जाता है । जैसे- भूख-प्यास, रोग-शोक भय सभी प्राकृत मनुष्य की भाँति । इसी कारण श्री रामचन्द्र जी, सीता जी के वियोग में रोये थे । गोपाल ने नन्द की जूतियाँ सिर पर ढ़ोयीं ।[2] इसी प्रकार अवतारी पुरूष साधारण मनुष्य की भाँति जीवन व्यतीत कर सर्वसाधारण के समक्ष एक आदर्श जीवन को प्रस्तुत करते हैं ।

(छ) मोक्ष के विषय में विचार:-

स्वामी रामकृष्ण देव जी का विचार है कि इस संसार में मनुष्य को निर्लिप्त भाव से रहकर ईश्वर - प्राप्ति का सतत् प्रयत्न करना चाहिये वे कहते हैं कि जब मन सभी में घुलमिल जाता है तभी ईश्वर का दर्शन होता है । मन मानों मिट्टी से लिपटी हुई एक लोहे की सुई है और ईश्वर चुम्बक । मिट्टी रहते हुए चुम्बक के साथ संयोग नहीं होता । मिट्टी के धुल जाने पर ही वे सुई और चुम्बक का संयोग सम्भव है ठीक उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, पाप-बुद्धि, विषय बुद्धि आदि जो मिट्टी है उसे नष्ट किये बिना मन और ईश्वर का मिलन नहीं हो सकता । इन बाधाओं को पार कर ही ईश्वर प्राप्ति होने पर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।[3] यहाँ यह ध्यान

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 602
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 603
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (प्रथम खण्ड) श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 49

रखने योग्य है कि श्री रामकृष्ण देव जी मृत्यु और मोक्ष मे अंतर स्वीकार करते हैं महात्मा बुद्ध की निर्वाण सम्बन्धी परिकल्पना के अनुरूप ही रामकृष्ण की मोक्ष विषयक अवधारणा है ।

मोक्ष अथवा मुक्ति का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि - इसका उपाय है - "अनुराग" अथवा "प्रेम करना" । पहले अनुराग फिर उसके बाद प्रार्थना करनी चाहिये । पुराने लोटे को प्रतिदिन मांजते रहने से वह चमक उठता है उसी प्रकार बार-बार विवेक और वैराग्य की भावना से मुक्त होकर प्रार्थना करने से मोक्ष प्राप्त की जा सकती है ।[1]

इसी परिपेक्ष्य में वे आगे कहते हैं कि संसार मे मोक्ष ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर है । संसार में अज्ञानता ईश्वर की इच्छा से ही बना कर रखी गई है। समय आने पर वे अपनी इच्छा से ही जीव को मुक्ति प्रदान करेंगे ।[2] वे कहते हैं कि मैं यन्त्र हूँ, ईश्वर यन्त्री हैं । ईश्वर की इच्छा से ही यह समस्त जगत परिचालित हो रहा है । ईश्वर जिस समय मुक्ति देना चाहेंगे, साधुसंग करा देंगे और अपने आप को प्राप्त करने की व्याकुलता उत्पन्न करादेंगे । यह व्याकुलता ही मनुष्य को मोक्ष के द्वार तक ले जाएगी ।[3] यही मुक्ति का उपाय है ।

(ज) श्री रामकृष्ण देव का निष्काम-कर्म योग:-

श्री रामकृष्ण देव जी निष्काम - कर्मयोग को भी स्वीकार करते हैं वे कहते हैं कि ईश्वर पर प्रीति हो जाय तो "पूजा, जप, तप, यज्ञ" आदि की कोई

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 290
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग,(द्वितीय खण्ड), स्वामी शारदानन्द, पृष्ठ - 313
3. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह) पृष्ठ-25

आवश्यकता नहीं । उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार से पंखे की तभी तक आवश्यकता होती है, जब तक हवा नहीं चलती यदि दक्षिणी हवा आप ही आने लगे तो पंखा रख देना पड़ता है । इसी प्रकार से पूजा, जप, तप इत्यादि का नियम-पूर्वक पालन करने पर ईश्वर की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है ।[1] निष्काम-कर्म करने पर ईश्वर पर प्रेम होता है । इसीकारण कर्म निष्काम भाव से करना चाहिये । कर्म सभी करते हैं, ईश्वर का नाम लेना कर्म है, साँस लेना कर्म है, और छोड़ना भी कर्म है । कर्म करना चाहिये किन्तु फल ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिये ।[2]

कर्म कब तक करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामी रामकृष्ण देव जी ने कहा कि- "फल आने पर फूल की आवश्यकता नहीं रह जाती" । ईश्वर लाभ हो जाये पर कर्म नहीं करना पड़ता और मन भी नहीं लगता, ईश्वर लाभ की ओर जितना ही बढ़ोगे उतना ही वे कर्म घटाते जायेगे ।

स्वामी जी कहते हैं कि जिस प्रकार से धनिकों के घर में दासियाँ सब काम करती हैं, किन्तु उनका मन अपने निज के घर में ही रहता है यही निष्काम कर्मयोग है ।[3] इसी प्रकार का निष्काम-कर्मयोग अपनाकर ईश्वर-लाभ प्राप्त कर कर्म से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ।

सामाजिक विचारः-

(क) जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता-संबंधी विचारः-

जाति-व्यवस्था भारत की सामाजिक-व्यवस्था का आधार है । प्राचीन काल

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 76
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 86
3. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ-27

में समग्र भारत श्रीगुरू, गंगा, गायत्री, तथा गीता मे श्रृद्धा सम्पन्न था । भारत के विभिन्न भागों में पण्डित-वर्ग अपने-अपने दृष्टगत भावों को संस्कृत भाषा में व्यक्त करने में समर्थ था । यह जातीय-व्यवस्था धर्म पर आधारित थी । संयम ही इस व्यवस्था का प्राणस्वरूप था। भारत व्यक्ति एवं जाति दोनों को ही संयम की सहायता से अपने जीवन को नियन्त्रित करने की शिक्षा प्रदान करता था । इस प्रकार व्यक्ति एवं जाति दोनों के ही व्यावहारिक जीवन का लक्ष्य सर्वदा उच्चतम लक्ष्य का परिचालित करना था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे किसी भी वर्ण अथवा जाति विभाग के स्वार्थ पर चोट नहीं की जाती थी । सभी वर्ग अपने लिये निर्धारित कर्त्तव्यों का विधिवत् पालन करते थे इसी कारण समाज में असन्तोष का कोई कारण नहीं था ।[1] जीवन के उच्चतम लक्ष्य में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समानाधिकार था ।

किन्तु पाश्चात्य राष्ट्रों के संसर्ग में आने पर भारतीय सामाजिक-व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा । अब इस व्यवस्था का लक्ष्य जीवन में उच्चतम स्थिति प्राप्त करना न होकर भौतिकवाद पर अधिक जोर दिया जाने लगा । प्राचीन काल में मूल-संस्कारों पर अधिक जोर दिया जाता था, किन्तु पाश्चात्य प्रभाव से इस व्यवस्था में भी परिवर्तन आ गया । पाश्चात्यों ने समझाया कि यह जो त्याग के लिये भोग की बात कही जाती है, इसके पीछे पुरोहितों की स्वार्थ सिद्धि है, परलोक व आत्मा का अस्तित्व मानना एक प्रकाण्ड कवि कल्पना है, समाज के जिस वर्ग में मनुष्य का जन्म हुआ है, आजन्म उसी वर्ग में उसे आबद्ध रहना पड़ेगा ।[2] इन विचारों को धीरे-धीरे भारतीय समाज ने स्वीकार कर लिया । संयम - प्रधान प्राचीन लक्ष्य को त्यागकर भोग की प्राप्ति के लिये वह अधिक व्यग्र हो उठा । भारत में नास्तिकता, अनुकरण-प्रियता तथा आत्म-विश्वास राहित्य आदि का उदय हुआ । भोग-लालसा-मुग्ध भारत

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ - 14
2. श्री रामकृष्ण हिज़ लाइफ एण्ड सेइंग्स, मैक्समूलर, पृष्ठ - 15

अपने पूर्व इतिहास तथा प्राचीन गोरव को भूल बैठा । स्मृति भ्रष्ट होने से उसका बुद्धिनाश उपस्थित हुआ और इस प्रकार उसका जातीय - अस्तित्व भी विलुप्त होने लगा ।[1]

रामकृष्ण देव ने भोगवादी-जीवन की ओर से मानव मन हटाने के लिये कहा कि - "संसार में जितने भी मत हैं, उतने ही पथ हैं ।[2] वे यह बात भली भाँति जानते थे कि भोगवादी-पिपासा ने ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था को नष्ट किया है अतः इस दृष्टिकोण को बदलकर ही जाति, वर्ग आदि भेद-भावों को नष्ट किया जा सकता है । वे कहते हैं, प्रत्येक जाति चाहे वह ऊँच हो या नीच वह परम पिता की सन्तान है । समाज का यह वर्ग-विभाजन मनुष्यकृत है । समाज के प्रत्येक वर्ग को ईश्वर-उपासना में समान अधिकार प्राप्त है ।

ईश्वर तक पहुँचने के लिये बहुत से पथ है, प्रत्येक मत एक पथ हैं। यह वैसा ही है, जैसा काली मन्दिर में पहुँचने के लिये अनेक रास्ते हैं, किन्तु यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि कुछ रास्ते साफ-सुथरे हैं तो कुछ गन्दे । किन्तु सभी का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति करना है।[3] किसी का दोष मत देखो-एक कीड़े का भी नहीं। जिस प्रकार तुम भगवान से भक्ति के लिये प्रार्थना करते हो उसी प्रकार इसके लिये भी प्रार्थना करो कि तुम किसी का दोष न देखो ।[4] इस प्रकार की भावना सभी के मन में उदय होने पर ही जाति-भेद वर्ग की दीवारें गिर सकती हैं । श्रीराम कृष्ण देव ने यह सिद्ध कर दिया कि प्राचीन काल में धर्म पर अवलम्बित रहकर भारतीय-

---

1. ए सेन्चुरी ऑफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया, एस नटराजन, पृष्ठ - 20
2. विवेकानंद साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 256
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 405
4. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 10

समाज, रीति-रिवाज, सभ्यता आदि ने भारत को गौरवान्वित किया था । आज भी धर्म के भीतर वह जागृत शक्ति विद्यमान है । उसे सर्वात्मना अंगीकार कर, जब हम समस्त विषयों में सचेष्ट होंगे, तभी हमे प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त होगी ।[1]

धर्म मनुष्य को कितना उदार बना सकता है, यह विचार सर्वप्रथम अपने जीवनादर्श के द्वारा श्री रामकृष्ण देव ने अभिव्यक्त किया । कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द ने भी इसी आदर्श को अपना कर भारतीय जातीय-समस्या का समाधान किया ।

अस्पृश्यता की समस्या का निवारण करने के लिये रामकृष्ण देव ने विचार व्यक्त किया कि अस्पृश्यता की समस्या का सम्बन्ध मन की पवित्रता से है । कोई भी व्यक्ति जिसका अन्तःकरण निर्मल नहीं है, चाहे वह कितने ही धार्मिक कृत्य क्यों न करे वह अस्पृश्यों से किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हो सकता ।[2] सभी मानवों में ईश्वर की उपस्थिति है । यही भावना रखकर उन्होंने (रामकृष्ण देव) ने चाण्डाल-वर्ग के घर में दास-कर्म (लुक-छिप कर) करके सर्वसाधारण को यह समझाने का प्रयास किया कि, किसी भी मानव को हेय या घृणा की दृष्टि से देखना उचित नहीं है । ईश्वर प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग है प्रत्येक जीव में ईश्वर का दर्शन करना।[3] श्री रामकृष्ण देव जी मानवता वादी थे । उन्होंने मानव सेवा को ईश्वर-सेवा बताकर एक बार पुनः विश्व को मानव महात्म्य बताया । श्री रामकृष्ण देव जी मानते थे कि ईश्वर-भक्ति के द्वारा ही समाज से यह भेद-भाव और अस्पृश्यता की भावना विलुप्त हो सकती है । भक्ति होने से देह, मन, आत्मा सभी शुद्ध हो जाते हैं ।

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ - 385
2. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 257
3. श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 445

भक्ति न रहने पर ब्राह्मण-ब्राह्मण नहीं रह जाता और भक्ति की उपस्थिति होने पर चण्डाल-चण्डाल नहीं रह जाता । अस्पृश्य जाति भक्ति के रहने पर शुद्ध पवित्र हो जाती है ।[1]

जिस प्रकार कुम्हार के यहाँ हण्डी, गमले, सुराही आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ होती है, परन्तु सभी एक ही मिट्टी से बनी हुई है, उसी प्रकार ईश्वर एक होते हुए भी सभी मनुष्यों में देश व काल के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपों और भावों में प्रकट होते हैं ।[2] रामकृष्ण देव की परिकल्पना थी कि सभी मनुष्यों को ईसाइयों की तरह दयावान, मुसलमानों की तरह बाह्य विधि-निषधों के प्रति दृढ़ तथा आस्थावान तथा हिन्दुओं की तरह सब के प्रति उदार एव दानशील होना चाहिये ।

(ख) रामकृष्ण देव के धर्म सम्बन्धी विचारः-

स्वामी रामकृष्ण देव जी सर्व-धर्म समभाव की नीति में विश्वास करते थे, जिसे आधुनिक युग में धर्म-निरपेक्षता की नीति कहा जाता है । श्री रामकृष्ण के धार्मिक विचारों की समीक्षा यह स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है कि उनकी नीति भी धर्म-निरपेक्षता की नीति थी । उनका विचार था कि सत्य एक ही है, अन्तर है नाम और रूप का । एक ही जलाशय के तीन या चार घाट हैं । एक पर हिन्दू पानी पीते हैं - उसे 'जल' कहते हैं । दूसरे पर मुसलमान उसी को 'पानी' कहते हैं, और तीसरे पर उसी को 'वाटर' कहते हैं । तीनों का तात्पर्य एक ही वस्तु से है, भेद केवल नाम का है । इसी प्रकार कुछ लोग सत्य को 'अल्लाह' के नाम से पुकारते हैं, कुछ 'गॉड' कहकर, कुछ लोग 'ब्रह्म' कहकर, कुछ 'काली' कहकर, तो

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 168
2. अमृत वाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का बृहद् संग्रह), पृष्ठ - 121

कुछ लोग 'राम', 'ईसा', 'दुर्गा' तथा हरि नाम लेकर पुकारते हैं ।[1]

श्री रामकृष्ण देव का विचार था कि संसार के जितने भी धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी या प्रतिरोधी नहीं है वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भाव मात्र हैं । यही एक सनातन धर्म चिर-काल से समग्र विश्व का आधार स्वरूप रहा है और चिरकाल तक रहेगा भी ।[2] 'मेरा-धर्म' या 'तुम्हारा-धर्म' की भावना अनुचित है । रामकृष्ण देव 'राष्ट्रीय - धर्म' में नहीं 'अंतर्राष्ट्रीय - धर्म' की नीति में विश्वास रखते थे ।

श्री रामकृष्ण देव का विचार था कि भारतीय जनमानस आज धार्मिक समस्याओं से ग्रस्त हो गया है । समय-समय पर अनेकों समाज-सुधारकों ने धर्म के विषय में व्याप्त कुसंस्कारों को त्यागकर सर्व-धर्म-समभाव की स्थापना करने का प्रयास किया। उनका मानना है कि वैष्णम, शाक्त, वेदान्तधारी, ब्रह्मज्ञानी सभी ईश्वर को प्राप्त करेंगे जो लोग स्वयं के धर्म को सर्वोपरि रखने के लिये झगड़ा करते हैं, ऐसे लोगों की बुद्धि को 'मतुयार बुद्धि' कहते हैं, (('मतुयार-बुद्धि' अर्थात् - मेरा धर्म ठीक" और सबका धर्म मित्थ्या)) यह बुद्धि ठीक नहीं है । ईश्वर के पास सभी धर्मों के द्वारा पहुँचा जाता है ।[3]

ईश्वर के विविध रूप है । जिस प्रकार गिरगिट का रंग कभी हरा, कभी नीला, इसी प्रकार ईश्वर का रंग भी नाना या विविध प्रकार का होता है । ईश्वर

---

1. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, ((रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह)), पृष्ठ - 5
2. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 261
3. श्री रामकृष्ण भक्त मालिका, प्रथम खण्ड ((स्वामी गम्भीरानंद)), पृष्ठ - 28

के नाना रूपों का अनुभव करने के ही लिये रामकृष्ण देव ने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, वैष्णव, शाक्त सभी धर्मों की साधना की थी । वे कहते थे कि मधुमक्खी जब अनेक फूलों से मधु संचय करती हैं, तभी उसके छत्ते से अच्छा मधु तैयार होता है ।[1]

इस प्रकार संसार में केवल एक ही धर्म है । अनन्तकाल से केवल एक ही सनातन धर्म चला आ रहा है और यही सत्यरूप में रहेगा भी । एक ही सत्य भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रीति में प्रकट होता है ।[2]

अतः हमें सभी धर्मों को मान देना चाहिये । धर्म व्यक्ति की पात्रता के अनुरूप ही प्रकट होता है । जिस व्यक्ति में धर्म के प्रति जितनी उत्कंठा होगी उसकी आत्मा में धार्मिक अभिरूचि भी उतनी ही तीव्रता से उत्पन्न होती है । हमें एक दूसरे के धर्म से वैर-भाव रखे बिना सबके साथ असीम सहानुभूति रखनी चाहिये ।[3]

जिस प्रकार प्रकृति कह देने से बहुत्व में एकत्व का बोध होता है, जिस प्रकार व्यावहारिक जगत में अनन्त भेद है उसी प्रकार समाज भी विभिन्न व्यक्तियों की समष्टि है । व्यष्टि, समष्टि की क्षुद्राकार में पुनरावृत्ति मात्र है । सम्पूर्ण सृष्टि में एक सामंजस्य विद्यमान है यही एकत्व है ।[4] इसी प्रकार मानव-मानव के बीच सामंजस्य व एकत्व स्थापित करने के लिये सर्व-धर्म समभाव की स्थापना होनी चाहिये ।

---

1. श्री रामकृष्ण कथामृत, तृतीय खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 312
2. श्री रामकृष्ण देव की वाणी (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 8
3. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 262
4. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 261

श्री रामकृष्ण देव जी ने धार्मिक संकीर्णता को पसन्द नहीं किया । उनका कहना था कि व्याकुलता रहने पर सभी पंथों तथा मतों से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है । अनेक वैष्णव भक्त बाहर से तो जप-तप, पूजा-पाठ आदि करते हैं, परन्तु भगवान को प्राप्त करने के लिये उनमें व्याकुलता नहीं रहती ।[1]

व्याकुलता के द्वारा ही हिन्दू, मुसलमान, ब्रह्मज्ञानी, शाक्त, वैष्णव, शैव, ईश्वर को प्राप्त करते हैं । वस्तु एक, नाम अनेक । सब एक ही पस्तु को मांग रहे हैं । धर्म को लेकर मार-काट अथवा विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[2]

वेद, पुराण, तंत्र सभी शास्त्रों मेंईश्वर के ही गुणों का वर्णन प्राप्त होता है। उसी एक सच्चिदानंद ब्रह्म को शिव, कृष्ण तथा आद्यशक्ति कहा गया है ।

इसी विषय को दूसरे ढंग से व्यक्त करते हुये रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि "जिस प्रकार से" छत पर अनेक उपायों के द्वारा जाया जाता है । पक्की सीढ़ी लकड़ी की सीढ़ी, टेढ़ी-सीढ़ी और केवल एक रस्सी के सहारे भी जाया जा सकता है। उपाय अनेक होते हुए भी एक ही साधन का प्रयोग कर हम ऊपर जा सकते। लेकिन छत पर चढ़ जाने के बाद हम किसी भी सहारे का प्रयोग कर नीचे उतर सकते हैं । उसी प्रकार किसी एक धर्म का सहारा लेकर ईश्वर को प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ते हैं किन्तु ईश्वर की प्राप्ति होने पर वही व्यक्ति सभी धर्म-पंथों से आ-जा सकता है । इस प्रकार सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है ।[3]

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 834
2. रामकृष्ण भक्त मालिका (प्रथम खण्ड), स्वामी गम्भीरानंद, पृष्ठ - 35
3. श्री रामकृष्ण भक्त मालिका (प्रथम खण्ड), स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 20

कोई भी धर्म अपने-आप में पूर्ण नहीं होता सभी के अनदर कुछ न कुछ कमियाँ अवश्य पाई जाती है । "जिस प्रकार सभी यह कहते हैं कि मेरी घड़ी सही चल रही है, परन्तु कोई भी घड़ी सही नहीं चलती, सभी घड़ियों को बीच-बीच में सूर्य के साथ मिलाना पड़ता है । गलत बातें सभी धर्मों में होना स्वाभाविक होता है। अत. सभी धर्मों को सर्वोत्तम या हीन कहना न्यायोचित नहीं होगा । इस प्रकार सभी धर्मों की अच्छाइयों को स्वीकार कर सर्व-धर्म-समभाव की स्थापना किये जाने की आवश्यकता पर स्वामी रामकृष्ण देव जी बार-बार जोर देते हैं ।[1]

सभी धर्मों का ध्येय एक ही है, सभी धर्म एक ही है, सभी धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं, अन्तर केवल पद्धति तथा भाषा का है श्री रामकृष्ण देव जी चण्डाल के यहाँ भी जाकर सफाई करने की आज्ञा माँगते थे । चण्डाल द्वारा आज्ञा न देने पर वे आधी रात को, जब घर के सभी लोग सो जाते तब उनके घर में प्रवेश कर अपने बड़े-बड़े बालों से घर साफ कर डालते और यह कहते जाते कि हे जगन्माता। मुझे चण्डाल का दास बना दो और मुझे यह अनुभव कर लेने दो कि मैं उन सभी से हीन हूँ ।[2] इस प्रकार श्री रामकृष्ण देव ने एक प्रयोग के द्वारा प्रत्येक मनुष्य के भीतर ईश्वर की अनुभूति करने की शिक्षा दी ।

अनेक जीवों के भीतर एक ही तत्व विराजमान है । प्रत्येक मानव को अपना अपेक्षित मार्ग का अनुसरण करा देना चाहिये । इस मार्ग पर चलकर ही ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त होगा ।[3]

---

1. स्वामी रामकृष्ण कथामृत, (तृतीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 597
2. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम् खण्ड, पृष्ठ - 255
3. स्वामी विवेकानन्द एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 12

मतवादों, आचारों, गिरिजाघरों और मन्दिरों को लेकर उठने वाले विवाद, सामाजिक सौहार्द स्थापित करने के मार्ग में बाधा है । धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है, न नाम और न सम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है 'आध्यात्मिक अनुभूति' । धार्मिक बनकर सत्य की उपलब्धि करने पर ही राष्ट्र मे धर्म निरपेक्षता की स्थापना सम्भव है ।

स्वामी रामकृष्ण देव जी सामाजिक समस्याओं व धर्म तक ही सीमित नहीं थे वे आध्यात्मिकता की कोटि से ऊपर उठकर जहाँ मानव को मानव से जोड़ने का प्रयास करते हैं वहीं पर मनुष्य को स्वार्थ-परता पूर्ण जीवन से ऊपर उठने के लिये भी प्रेरित करते हैं । उन्होंने कहा कि- "मेरी चीज, मेरी चीज' कहकर उन सब चीजों से प्यार करने का नाम है 'माया' । सभी को प्यार करने का नाम है 'दया'। केवल अपने देश के लोगों को प्यार करना, या अपनी संस्था, परिवार, स्त्री, पुत्र को प्यार करना यह सब माया है ।[1] वे विश्वबन्धुत्व की भावना का संचार करने के लिये कहते हैं कि सभी देश के लोगों को प्यार करना, सभी धर्म के लोगों को प्यार करना यह दया से होता है माया से मनुष्य बद्ध हो जाता है - भगवान से विमुख हो जाता है, दया से ईश्वर की प्राप्ति होती है ।[2] इस प्रकार प्रेम, दया, सद्भावना के द्वारा माया के पर्दे से मनुष्य मुक्त होकर ईश्वर के सार्वभौमिक स्वरूप को प्राप्त करता है । स्वामी रामकृष्ण जी यहाँ पर देश, समाज की सीमा से ऊपर उठकर विश्व-बन्धुतव की स्थापना कर अंतर्राष्ट्रवाद की स्थापना करने का प्रयास करते हैं ।

---

1. श्री रामकृष्ण कथामृत, तृतीय खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 601
2. श्री रामकृष्ण कथामृत, तृतीय खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 602

(ग) स्त्री-जाति पर विचारः-

श्री रामकृष्ण देव जी स्त्री व पुरूषों में कोई भेद-भाव नहीं मानते थे । वे समाज की पतित से पतित स्त्री में भी माँ का स्वरूप देखते थे । मनुष्य जीवन पर जितने भी ऋण हैं उनमें - पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण के अतिरिक्त स्त्री के ऋण को भी स्वीकार किया जाना चाहिये ।[1]

श्री रामकृष्ण देव जी ने वेश्याओं में भी देवी माँ के दर्शन किए । उनका विचार था कि प्रत्येक स्त्री के दर्शन करने पर हृदय के कुत्सित विचारों का दमन होता है । किसी भी व्यक्ति को स्त्री जाति पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं है।[2] रामकृष्ण ने अपने इस दृष्टिकोण को चरितार्थ करने के लिये अपने ही जीवन में एक प्रयोग करके दिखाया । वे सभी स्त्रियों को माँ के समान ही देखते थे और उन्हें सम्मान देते थे । केवल आध्यात्मिक उपलब्धि को ध्यान में रखकर ही वे कामिनी और कंचन को योग-मार्ग में बाधक मानते थे । सामाजिक जीवनादर्श में उन्होंने स्त्री जाति को बाधक नहीं वरन् सहायक माना है ।

स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिये जिन्होंने ईश्वर-लाभ कर लिया है वे स्त्रियों को इस दृष्टिकोण से नहीं देखते वे यथार्थ को देखते हैं कि स्त्रियों में ब्रह्ममयी माता का अंश है वे सभी स्त्रियों को साक्षात् भगवती के रूप में देखते हैं । जब तक स्त्री-जाति के लिये शुद्ध भाव न होगा तब तक ईश्वर में शुद्ध भक्ति नहीं होगी ।[3] स्त्री जाति विद्या-रूपिणी है और अविद्या रूपिणी भी ।

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (तृतीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 304
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 181
3. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 291

विद्यारूपिणी स्त्री भगवान की ओर ले जाती है और अविद्यारूपिणी स्त्री ईश्वर को भुला देती है । संसार को डुबा देती है ।[1]

महामाया से ही यह जगत ससार बना है । इस माया के भीतर विद्यामाया और अविद्या माया दोनों ही हैं । विद्यामाया का आश्रय लेने पर साधुसंग की इच्छा, ज्ञान, भक्ति, प्रेम, वैराग्य ये सब होते हैं, पंचभूत तथा इन्द्रियों के भोग से विषय-अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द यह सब अविद्यामाया है । यह ईश्वर को भुला देती है ।[2]

इस अविद्यामाया की उत्पत्ति ईश्वर ने इसलिये की है, क्योंकि अन्धकार न रहने पर प्रकाश की काया समझी नहीं जाती, दुःख न रहने पर सुख को समझा नहीं जा सकता, बुराई के रहने पर ही भलाई का ज्ञान हो पाता है ।

जिस प्रकार आम का छिलका रहने पर ही आम बढ़ता है, और पकता है जब आम तैयार हो जाता है, उस समय छिलका फेंक देना पड़ता है । माया रूपी छिलका रहने पर ही धीरे-धीरे ब्रह्म ज्ञान होता है । विद्यामाया, अविद्यामाया आम के छिलके की तरह है दोनों की आवश्यकता है ।[3] जितनी स्त्रियाँ है, सभी शक्ति-रूपिणी हैं, वहीं आदि शक्ति स्त्री का रूप धारण किए हुए है । सभी स्त्रियाँ सीता स्वरूप हैं ।

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 291
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम खण्ड) श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 292
3. श्री रामकृष्ण देव वचनामृत, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 272

श्री रामकृष्ण देव का दृष्टिकोण पूर्णतया आध्यात्मिक था । इसी कारण वे स्त्रियों के जीवन का मुख्य लक्ष्य सतीत्व और पवित्रता को बनाये रखना ही बताते हैं । भैरवी - ब्राह्मणी से योग व तन्त्र साधना की शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने प्राचीन भारतीय समाज में नारी जाति को गुरूत्तर पद प्रदान किये जाने वाली परम्परा का समर्थन किया । उनके इस कार्य से समाज मे स्त्री-पुरूष समानता की स्थापना का शुभारम्भ हुआ इसी प्रकार रामकृष्ण देव के द्वारा स्त्री भाव में रहने का सतत् अभ्यास किया जाना, आद्य शक्ति माँ काली को अपनी अराध्य देवी के रूप में स्वीकार करना, उनके द्वारा नारी-जाति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने का एक अनूठा उदाहरण है ।

(घ) शिक्षा-सम्बन्धी विचार:-

यद्यपि श्री रामकृष्ण देव ने विधिवत रूप से शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, किन्तु विभिन्न स्थलों पर उन्होंने शिक्षा के विषय में विचार व्यक्त किये हैं । उनका विचार था कि हमें ऐसी शिक्षा चाहिये जिससे चरित्र का निर्माण हो सके, मानसिक बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और सच्चे अर्थों में मनुष्य का निर्माण हो सके ।[1] शिक्षा का उद्देश्य दाल-रोटी कमाना ही नहीं होना चाहिये । समस्त ज्ञान चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक वह मनुष्य मन में ही है । सभी ज्ञान और सभी शक्तियाँ मन के भीतर ही हैं ।[2]

मानव मन में आध्यात्मिक शक्ति है, इसे जागृत करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये जिसे प्राप्त कर मनुष्य कृतार्थ हो सके । इस उद्देश्य को प्राप्त करने में वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था उपयुक्त नहीं है । इसी शिक्षा-व्यवस्था के द्वारा मनुष्य

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 165
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (द्वितीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 265

लोभी, व्यसनी और भोगवादी प्रवृत्ति का हो जाता है ।[1] आज की शिक्षा-व्यवस्था ने भौतिक उन्नति की ओर मानव मन को इस प्रकार से आकृष्ट कर दिया है कि वह अपने जीवन के चरम उद्देश्य को ही भूल गया है ।

रामकृष्ण जी पुस्तकीय शिक्षा को अधिक महत्व न देकर श्रवण और मनन पर अधिक बल देते हैं क्योंकि इससे ज्ञान का संचार आत्मा में शीघ्रातिशीघ्र होता है। प्रायः लोग यही सोचते हैं कि बिना पुस्तकें पढ़े ज्ञान नहीं होता, विद्या नहीं होती, परन्तु पढ़ने की अपेक्षा सुनना अधिक अच्छा है । उदाहरण स्वरूप वाराणसी के सम्बन्ध में पढ़ने या सुनने तथा दर्शन करने में बड़ा अन्तर है । जो लोग खुद शतरंज खेलते हैं वे खुद चाल उतनी सही नहीं समझतें, परन्तु जो लोग खेलते नहीं और तटस्थ रहकर चाल बतला देते हैं, उनकी चाल खेलने वालों की चाल से बहुत अंशों में ठीक होती है ।[2]

संसारी लोग सोचते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान हैं परन्तु वे विषयासक्त है, वे खुद खेल रहे हैं, अपनी चाल स्वयं नहीं समझ सकते, परन्तु संसार त्यागी, साधु-महात्मा विषयों से अनासक्त है, वे संसारियों से बुद्धिमान हैं खुद नहीं खेलते इसीलिये चाल अच्छी बतला सकते हैं ।[3]

अतः वे किताबी-क्रीड़ा न बनने तथा आत्मा को जागृत करने वाली शिक्षा पर अधिक बल देते हैं वे शिक्षा के साधन में परिवर्तन की माँग करते हैं । यही

---

1. रामकृष्ण हिज् लाइफ एण्ड सेइंग्स, प्रो0 मैक्समूलर, पृष्ठ - 76
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 336
3. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय खण्ड, श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 337

विचार आगे चल स्वामी विवेकानन्द जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का आधार भी बना ।

शिक्षा प्रदान करने में गुरू का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है, इसी कारण श्री रामकृष्ण देव जी ने गुरू के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं । वे कहते हैं कि चाहे जो भी व्यक्ति गुरू नहीं हो सकता । जब एक बड़ा भारी शहतीर पानी पर तैरता है तो उस पर पशु भी बहकर आगे निकल जाता है । किन्तु एक सड़ियल लकड़ी के टुकड़े पर यदि कौआ भी बैठ जाये तो वह उसको लेकर डूब जाती है । इसीलिये प्रत्येक युग में मानव जाति को शिक्षा देने के लिये भगवान गुरू रूप में अवतीर्ण होते हैं । एकमात्र सच्चिदानन्द ही गुरू है ।[1] यदि कोई ठीक-ठीक आन्तरिकता तथा प्राणों की व्याकुलता के साथ भगवान को पुकार सके तो उसके लिये गुरू की आवश्यकता नहीं होती किन्तु साधारणतया हृदय की इतनी तीव्र व्याकुलता नहीं दिखाई देती, इसी कारण गुरू की आवश्यकता है ।[2]

गुरू के महत्व पर विचार व्यक्त करते हुये रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि गुरू विशाल गंगा जी के समान है । गंगा में लोग सारा कूड़ा-करकट और गदंगी डाल देते हैं, किन्तु उससे उसकी पवित्रता नष्ट नहीं हो जाती । इसी प्रकार गुरू पर भी तुच्छ निन्दा अपमान आदि का परिणाम नहीं होता वे इनसे बहुत ऊपर होते हैं ।[3]

---

1. श्री रामकृष्ण देवी की वाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 34
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (द्वितीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 345
3. अमृतवाणी (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद संग्रह), पृष्ठ - 300

शिष्य के विषय में भी रामकृष्ण जी ने विचार व्यक्त किए हैं - शिष्य को गुरू की बात पर विश्वास करना चाहिये । गुरू सच्चिदानन्द स्वरूप है । स्वयं भगवान ही गुरू हैं । ज्ञान प्राप्त करने के लिये विश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता होती है । जिस प्रकार राम के नाम पर विश्वास करके हनुमान एक छलाँग में समुद्र को लाँघ गये, इसी प्रकार गुरू पर विश्वास कर उसके द्वारा बताये गये रास्ते पर चलकर ही हम संसार सागर को पार कर सकते हैं ।[1] शिष्य मे सहनशीलता, विनम्रता और निःस्वार्थ की भावना होनी चाहिये । शिष्य को अपनी अन्तरिन्द्रियों और बहिरिन्द्रियों को नियन्त्रित करने में समर्थ होना चाहिये । शिष्य में सत्य जानने की उत्कंठा होनी चाहिये । उसमें शुद्धता, ज्ञान-पिपासा, विचार, वाणी और कार्य की पवित्रता होनी चाहिये । इन गुणों के अतिरिक्त गुरू-शिष्य दोनों के लिये संयम की विशेष आवश्यकता होती है । गुरू को चाहिये कि वह शिष्य को भोगी जीवन से अलग आध्यात्म की ओर ले जाये ।[2]

इस प्रकार श्री रामकृष्ण देव द्वारा प्रस्तावित शिक्षा का स्वरूप पूर्णतया आध्यात्मिक है । वे शिक्षा को जनसाधारण की भाषा में ही दिये जाने का समर्थन करते हैं । प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जो गुरू शिष्य-परम्परा पर आधारित है । श्री रामकृष्ण उस परम्परा को पुनः लागू किये जाने के पक्ष में भी दिखाई देते हैं ।

यही कारण है कि उन्होंने नवीन भारत के निर्माण के लिये कलकत्ते के नवयुवकों को अपने मठ में एकत्र कर शिक्षा प्रदान की ।

---

1. अमृत वाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद संग्रह), पृष्ठ - 300
2. रामकृष्ण हिज लाइफ एण्ड सेइंग्स, प्रो0 मैक्समूलर, पृष्ठ - 100

इसी प्रकार सामाजिक-जीवन के विविध पक्षों पर भी उन्होंने समय-समय पर विचार व्यक्त किये ।

गृहस्थ-जीवन का पथ-प्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा कि गृहस्थ को चाहिये कि अपने सभी कर्त्तव्य करें, किन्तु मन को भगवान की ही ओर लगाये । पत्नी, बच्चे, पिता, माता आदि सबके साथ रहो, सब की सेवा करो । उनसे ऐसा व्यवहार करो मानो वे तुम्हारे अत्यंत प्रिय हों, किन्तु मन ही मन निश्चित जाने रहो कि वे तुम्हारे कोई नहीं हैं । जिस प्रकार मादा कछुआ पानी में घूमती रहती है, परन्तु उसका मन किनारे पर जहाँ उसके अण्डे रहते हैं वहाँ पर लगा रहता है उसी प्रकार संसार का समस्त काम-काज करो, किन्तु अपना मन सदा भगवान की ओर लगाये रहो ।[1] ऊँट कटीली घास खाना बहुत पसन्द करता है । जितना खाता है उतना ही उसके मुँह से धर-धर खून निकलता है । फिर भी वह कटीली घास खाता ही रहता है, खाना नहीं छोड़ता । इसी प्रकार संसारी लोग संसार में इतना दुःख कष्ट पाते हैं, किन्तु कुछ ही दिनों में वह सब भूलकर फिर ज्यों के त्यों हो जाते हैं ।[2] अतः संसार में पनडुब्बी की भाँति रहो । जिस प्रकार पनडुब्बी के शरीर में पानी लगता है किन्तु वह उसे झटक देती है । कीचड़ में रहने वाली पाँकाल मछली की भाँतिरहो। यह मछली कीचड़ में रहती तो है, पर उसका शरीर सदा स्वच्छ बना रहता है ।[3]

अतः गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी वह उसमें अपने आपको भूले नहीं, श्री रामकृष्ण देव जी गृहस्थ जीवन को अत्यंत

---

1. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ-39
2. अमृतवाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद् संग्रह), पृष्ठ - 384)
3. श्री रामकृष्ण की वाणी, (श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 41

परम, पुनीत संस्था मानते थे । यही कारण है कि योगी और सन्यासी होते हुए भी उन्होंने आजीवन गृहस्थ जीवन का निर्वाह किया ।

श्री रामकृष्ण देव जी ने सन्यासी-जीवन के विषय में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं । वे कहते हैं कि सच्चा सन्यासी वही है, जिसने अपना मन, प्राण अन्तरात्मा पूरी तरह से ईश्वर को समर्पित कर दिया है । वह स्त्रियों को अपनी माता की दृष्टि से देखता है । वह सदैव भगवान का चिन्तन करता है और सर्वभूतों में भगवान विराजमान है, यह जानकर सबकी सेवा करता है । सन्यासी वह है जो पूर्णतया संसार को त्याग देता है, और 'कल क्या खाऊँगा, 'क्या पहनूँगा' इस बात की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करता ।[1] वैराग्य कई प्रकार के होते हैं - उनमें से एक होता है 'मर्कट-वैराग्य' । कभी-कभी संसार के दुःख - कपट पाकर मनुष्य के मन में इस प्रकार का झूठा वैराग्य होता है और यह अधिक दिन तक नहीं टिकता । यथार्थ वैराग्य की स्थिति इससे भिन्न होती है । संसार में सभी कुछ है, किसी बात का अभाव नहीं है, किन्तु सब कुछ अनित्य, मिथ्या लगता है । यही है यथार्थ वैराग्य। यह तीव्र और मन्द दो प्रकार से होता है । मन्द वैराग्य की प्रक्रिया मन्थर होती है, उसमें आदमी धीमी गति से चलता है । तीव्र वैराग्य छूरे की धार के समान तेज होता है । वह माया के बन्धन को आसानी से तुरन्त काट देता है ।[2] साधु को कभी संचय नहीं करना चाहिये । पक्षी और दरवेश कल के लिये व्यवस्था करके नहीं रखते। सर्वत्यागी सन्यासी और सच्चा भगवद् - भक्त नारी मात्र को - चाहे वह सती हो या असती - जगदम्बा के ही रूप में देखते हैं ।[3]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (द्वितीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 256
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (द्वितीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 384
3. अमृतवाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद-संग्रह), पृष्ठ - 342

इस प्रकार गृहस्थ और सन्यासी दोनों ही जीवन का उचित सामंजस्य श्री रामकृष्ण देव के जीवन मे देखने को मिलता है । उन्होंने विवाह को एक आदर्श संस्था के रूप में स्वीकार कर योग के द्वारा भोग का मार्ग प्रशस्त किया ।

राजनीतिक विचार:-

श्री रामकृष्ण देव के जीवन का सम्बन्ध मुख्यतया आध्यात्मिक था । यही कारण है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाकर ही अपने विचार व्यक्त किये । वे समाज में परिवर्तन, धर्म को प्रचारित कर, करनाचाहते थे । यद्यपि राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था किन्तु उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब भारत पाश्चात्य राष्ट्र की दासता से जकड़ा हुआ था। अतः समाज का कोई भी वर्ग देश के राजनीतिक वातावरण से अछूता नहीं रह सकता था । अतः इसी वातावरण से प्रभावित हो रामकृष्ण देव ने राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार किया। उन्होंने अपनी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा आत्म विस्मृत भारतवासियों को यह दिखा दिया कि भारत का धर्म और संस्कृति कोई मनगढ़न्त अथवा परस्पर विरोधी, अन्धविश्वास से भरी कल्पना नहीं है, वरन् उसमें अनन्त शक्ति और सम्भावना निहित है जो कि भारत के पुनरूत्थान एवं मुक्ति का कारण होगी तथा विश्ववासियों को यथार्थ शान्ति का मार्ग प्रदर्शित करेगी ।[1] इस प्रकार हम उनके जीवन में समूची मानवजाति के आध्यात्मिक इतिहास की ही पुनरावृत्ति देखते हैं ।

श्री रामकृष्ण देव जी राष्ट्रवाद के कट्टर समर्थक न होकर अंतर्राष्ट्रवादिता में विश्वास करते थे । वे न केवल भारत को वरन् सम्पूर्ण मानवता को भोग परायण युग से मुक्ति दिलाना चाहते थे । उनका महामंत्र था "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धितायच"

---

1. रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानन्द, पृष्ठ - 11

उन्होंने इसी महामंत्र के बल पर अपने देश और समूची मानवजाति की सेवा की । उनके जीवन संगीत से मानवजाति के सहस्रों, धर्मपन्थों एवं उपपन्थों के विभिन्न, परस्पर विरोधी दिखने वाले स्वरों में समरसता लाने वाली मंजुल ध्वनि निकली है ।[1] वास्तव में आध्यात्मिकता और उदार सार्वजनीयता का एकत्र समावेश श्री रामकृष्ण के जीवन में जिस सुन्दर रूप से हुआ है, वैसा और कहीं भी दिखायी नहीं पड़ता इसीलिए उनकी साधना ने भारत एवं जगत के इतिहास में एक नये अध्याय की सूचना दी ।

इस प्रकार श्री रामकृष्ण देव ने अपने जन्म के पूर्व अवतारों द्वारा किये गये कार्यों और साधना को एक ही जीवन में पूरा कर लिया । उनके जन्म की तिथि से ही सत्ययुग आरम्भ हुआ । पुरूष और स्त्री, धनी और निर्धन, शिक्षित और अशिक्षित ब्राह्मण और चण्डाल इन सभी के बीच भेद-भावों को नष्ट करने के लिये उनका जीवन व्यतीत हुआ था । वे शांति के दूत थे । जो स्त्री या पुरूष श्री रामकृष्ण देव की उपासना करेगा वह चाहे कितना भी पतित क्यों न हो, तत्काल ही उच्चतम अवस्था में परिणत हो जायेगा ।[2] श्री रामकृष्ण देव केवल भारत के लिये ही नहीं थे और नहीं वे किसी व्यक्ति-विशेष के लिये ही थे । वे सम्पूर्ण संसार के लिये थे । रामकृष्ण देव का व्यक्तित्व साधारण और नौसिखियों सभी के लिये प्रेरणा स्रोत था । उन्होंने यह सिद्ध किया कि प्राचीन काल मे धर्म पर अवलम्बित रहकर समाज, रीति-रिवाज सभ्यता आदि ने भारत को गौरवान्वित किया ।

श्री रामकृष्ण देव का जीवन-चरित्र धर्म के साथ अपने सामने प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है । श्री रामकृष्ण ईश्वरत्व की सजीव मूर्ति थे । उनके वाक्य किसी निरे विद्वान के ही कथन नहीं हैं, वरन् वे उनके जीवन ग्रन्थ के पृष्ठ हैं । इस सन्देह वाणी युग में श्री रामकृष्ण सजीव और प्रज्जवलित धार्मिक विश्वास के प्रत्यक्ष उदाहरण स्वरूप हैं।

*****

---

1. श्री रामकृष्ण देव, रोमां रोलां, पृष्ठ - 175
2. विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ - 232

अध्याय - तृतीय

स्वामी विवेकानंद - जीवन परिचय व प्रमुख विचार

वीर हनुमान जी का विचार किये बिना हम श्री रामचन्द्र जी का विचार नहीं कर सकते, अर्जुन का स्मरण किये बिना हम भगवान श्रीकृष्ण का विचार नहीं कर सकते । बुद्धदेव के साथ आनन्द एवं ईसा-मसीह के साथ सेन्ट पॉल का भी विचार हमें करना पड़ता है । श्री रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द का सम्बंध भी इसी प्रकार का है । श्री रामकृष्ण मानो मूल स्रोत हैं, तथा स्वामी विवेकानन्द उस स्रोत के जल को बहा ले जाने वाला प्रवाह ।

श्री रामकृष्ण के लिए ईश्वर प्रत्यक्ष सत्य था, वास्तव था । ईश्वर के बारे में वाद-विवाद करने की उन्हें आवश्यकता नहीं थी । उन्हें ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी साक्षात् दर्शन हुए थे । श्री रामकृष्ण मानों भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के शिखर थे । उनका दृष्टिकोण विश्वव्यापी था, उनकी अनुभूति सर्वस्पर्शी थी । स्वामी विवेकानन्द उनके प्रधान शिष्य थे, उनके अत्यंत प्रियपात्र थे, उनके महान उत्तराधिकारी थे, उनके यथार्थ भाष्यकार थे, 'तथा उनके अत्यंत कुशल कर्मचारी भी थे ।

रूप, गुण तथा विद्या में भाषण-पटुता शास्त्रों की व्याख्या, लोक कल्याणकारी कामनाओं में तथा साधना एवं जितेन्द्रियता में स्वामी जी के समान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरूष वर्तमान शताब्दी में और कोई पैदा नहीं हुआ । इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वतोन्मुखी प्रतिभा सम्पन्न श्री स्वामी जी का जीवन ही वर्तमान युग में आदर्श के रूप में एकमात्र अनुकरणीय है ।[1]

स्वामी जी का कद मझला था वे अपने जाति के लोगों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले श्यामवर्ण के थे । वे व्यवहार में मृत्यु, क्रियाओं में सजग और प्रत्येक

---

1. विवेकानन्द साहित्य, षष्ठ खण्ड, पृष्ठ - 206

शब्द, क्रिया और भंगिमा में अतीव शिष्ट थे, किन्तु उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रभावशाली अंग उनकी आँखे थीं जिनमें उनका महान तेज था ।[1]

मानवता के अग्रदूत स्वामी विवेकानन्द जी के बचपन का नाम 'नरेन्द्रनाथ' था । नरेन्द्र का जन्म कलकत्ता नगरी के उत्तर-भाग में सिमुलिया मोहल्ले में गौर-मोहन मुकर्जी स्ट्रीट के दत्त-परिवार के विशाल भवन में सोमवार 12 जनवरी 1863 ई0 में पौष-संक्रान्ति के दिन हुआ था ।[2] दत्त-परिवार के मुख्य कर्णधार श्री दुर्गाचरण दत्त थे । दुर्गा चरण ने एक पुत्र (श्री विश्वनाथ दत्त) के जन्म के बाद सन्यास ले लिया था । पिता के सन्यास लेने के बाद विश्वनाथ दत्त अपनी माता की छत्रछाया में पलते रहे । वे आगे चलकर कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्तार रहे । विश्वनाथ दत्त को 'शाहखर्चा' की उपाधि दी गई थी ।[3]

नरेन्द्र के पिता श्री विश्वनाथ दत्त और माता भुवनेश्वरी देवी थी । विश्वनाथ दत्त के दरवाजे से कभी कोई दीन निराश नहीं लौटता था । संगीत से उन्हें बहुत प्रेम था, विश्वनाथ दत्त आधुनिक विचार-धारा में रचे-बसे थे । शिक्षित समाज की विचार-धाराओं से वे पूर्ण परिचित थे ।[4]

नरेन्द्र की माता भुवनेश्वरी देवी सरल - हृदय की धर्म-परायण महिला थी । अपनी सूझ-बूझ कार्य-कुशलता और धैर्य-शीलता के कारण वे सबकी प्रिय थीं।

---

1. विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड, पृष्ठ - 213
2. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 19
3. विवेकानन्द चरित, श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 10
4. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 19

शिव जी के आशीर्वाद से नरेन्द्र की प्राप्ति हुई है, इसी धारणा से भुवनेश्वरी देवी उन्हें 'बीलू' (वीरेश्वर का होता संस्करण) नाम से सम्बोधित करती थी ।[1] आत्मीयजन उन्हें 'बिले' नाम से पुकारते थे । नरेन्द्र के दो भाई - महेन्द्र और भूपेन्द्र तथा दो बड़ी बहने भी थीं ।

बालक नरेन्द्र बचपन से ही बड़े 'नटखट' स्वभाव के थे । 'भय' किसे कहते हैं, वे जानते ही न ही थे । वे बाल्य-काल से ही तर्कविहीन मत को स्वीकार नहीं करते थे । वे घर व पास पड़ोस में सभी के दुलारे थे । वे अत्यधिक नटखट और फुर्तीले थे, उनमें अत्यधिक जोश और उत्साह भरा हुआ था उनपर शासन करना तो किसी के बस की बात ही नहीं थी ।[2] वे सब प्रकार के व्यायाम और खेलकूद में निपुण थे । उनके मन में साधुओं के प्रति असीम श्रद्धा थी । नौकरों व भाइयों से वे विशेष प्रकार का व्यवहार करते थे । उन्हें पशु-पक्षियों और प्रकृति से भी प्रेम था । पढ़ाई-लिखाई में भी वे बहुत होशियार थे । वह अत्यंत बुद्धिमान छात्र के रूप में प्रसिद्ध थे । उनका पठन और अध्ययन विलक्षण था उनकी ग्रहण क्षमता अपूर्व थी, स्मरण शक्ति अलौकिक थी तथा आयु की तुलना में विवेक शक्ति भी अद्भुत थी। बाल्यकाल से ही उनमें उच्च आध्यात्म चेतना तथा गम्भीर ध्यानमयता का विकास दिखाई देता था । उनमें अनेक विलक्षण वाहन शक्तियाँ प्रकट हुई थीं, जो उनकी आयु के बालकों में बिल्कुल नहीं थी । बालक नरेन्द्रनाथ निडर और साहसी थे । विद्यालय तथा महाविद्यालय में पढ़ते समय वे अत्यन्त प्रतिभावान विद्यार्थी के रूप में प्रसिद्ध थे ।[3]

---

1. युगनायक विवेकानन्द, (प्रथम खण्ड) स्वामी गम्भीरानन्द, पृष्ठ - 15
2. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 20
3. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ - 30

नरेन्द्र एक अभिजात क्षत्रिय कुल की सन्तान थे । उनके सारे जीवन पर छात्र-धर्म की छाप थी । नरेन्द्र का शैशव और बाल्यकाल यूरोपीय पुनर्जागरण काल के कला-प्रेमी राज कुमारों का सा रहा । उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और सभी दिशाओं में उन्होंने उसका विकास किया । उनका रूप सिंह शासक सा प्रभावशाली और मृग सा कोमल था । बलिष्ठ, सुगठित, शरीर कसरतों से और भी मंज गया था। कुश्ती, घोड़े की सवारी, तैरने और नाव-खेने का उन्हें शौक था, युवकों में वे नेता और फैशन के नियन्ता थे । नृत्योत्सव में वे कलापूर्ण नृत्य करते थे । उनका कंठ बड़ा सुरीला था । जिसपर अनन्त श्री रामकृष्ण भी मुग्ध थे । उन्होंने चार-पाँच वर्ष तक, मुसलमान संगीता-चार्यों के साथ गायन और संगीत का अभ्यास किया था । वे स्वयं गीत लिखते भी थे ।[1]

नरेन्द्र शिशुकाल से ही हिन्दू घरों में एक लम्बे समय से माने जाने वाले लोकाचार व देशाचार का विरोध करते थे और मानने से इन्कार कर देते थे । माँ के झुंझला पड़ने पर वे तुरन्त ही इसका कारण पूंछ लेते थे । जैसे- "भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है ? बायें हाथ से जलपान उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है, जबकि हाथ में तो जूठा लगा नहीं ।[2] चंचल प्रकृति का बालक होने पर भी उनके चरित्र में बचपन से ही साधारण बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक वैशिष्ट्य देखने को मिलता है । खेलते समय साधारण बातों को लेकर जब कोई झगड़ने लगता तो वे बहुत असन्तुष्ट होते थे । ऐसी स्थिति में वे स्वयं अग्रसर होकर निर्णय कर दिया करते थे । यदि उनके निर्णय से अन्य बालक सहमत न होकर पुनः मार-पीट कर लिया करते थे बालक निर्भीक भाव से उनके बीच

---

1. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ 36
2. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 13

खड़े होकर उन्हें रोक देते थे । शारीरिक - शक्ति में नरेन्द्र किसी से कम नहीं थे । मार-पीट में भी वे पूरी तरह से निपुण थे । न्यायी, उदार क्षमावान, शक्तिमान व प्रतिभाशाली नरेन्द्रनाथ को उनके सहपाठियों ने उन्हें स्वयं ही नेतृत्व पद दे दिया था ।[1]

शिक्षा-दीक्षाः-

नरेन्द्र ने अपनी शिक्षा का प्रथम पाठ माता भुवनेश्वरी देवी की गोद में सीखा। भुवनेश्वरी देवी उन्हें भाव-सहित रामायण, महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती थीं, उन्होंने ही सर्वप्रथम उन्हें बंगला और अंग्रेजी के अक्षर ज्ञान कराये । रामायण की कथा का प्रभाव बालक नरेन्द्र पर विशेष रूप से पड़ा । नरेन्द्र नाथ के चरित में जो कुछ भी महान तथा सुन्दर था वह सब उनकी सुशिक्षित तथा उच्च विचारशील माता की शिक्षा के प्रयत्नों का ही परिणाम था । मातृ-भक्त नरेन्द्र कभी माता की आज्ञा का उल्लंघन न करते थे ।[2]

पाँच वर्ष पूरे होने पर नियमानुसार नरेन्द्र नाथ की प्रारम्भिक शिक्षा प्रारम्भ हुई । प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूटशन में भेज दिये गये । 1878 ई0 में जब नरेन्द्र सात साल के थे तब पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर की संस्था में पढ़ने आये । 1877 ई0 में नरेन्द्र रायपुर में पिताजी के पास पहुँच गये। उस समय उनकी उम्र मात्र 14 वर्ष की थी ।[3]

---

1. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 21
2. विवेकानन्द चरित, श्री सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ - 33
3. विवेकानन्द चरित, श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 26

रायपुर मे उस समय स्कूल नहीं था । बालक नरेन्द्र की प्रतिभा पिता विश्वनाथ दत्त से छिपी न थी । इसी कारण बालक का सर्वांगीण विकास करने के लिये विश्वनाथ दत्त नरेन्द्र को पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन तथा साहित्य सम्बंधी अनेक पुस्तकें पढ़ने को देते थे । उन्होंने बालक को स्वाधीन भाव से विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता बालक प्रदान कर रखी थी ।[1] नरेन्द्र ने पिता के पास रहकर न केवल ज्ञान-लाभ ही किया, बल्कि उनके किशोर मन पर पिता की महानता की गम्भीर छाप भी पड़ी । 1879 ई0 में विश्वनाथ दत्त अपने परिवार सहित कलकत्ता लौट आये । नरेन्द्र को पुनः स्कूल में डाल दिया गया । एक साल बाद ही नरेन्द्र को प्रवेशिका परीक्षा देनी थी । इसी कारण उन्हें तीन साल की पढ़ाई एक वर्ष में ही पूरी करनी पड़ी वे कक्षा की पढ़ाई के अतिरिक्त अंग्रेजी और बंगला साहित्य तथा भारतीय की अनेक प्रामाणिक पुस्तकों मे भी व्यस्त रहे । उन्होंने प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । यहीं पर नरेन्द्र की स्कूली शिक्षा का अंत हो गया ।[2]

स्कूल के बाद नरेन्द्र एक वर्ष तक प्रेसीडेन्सी कॉलेज में पढ़ते रहे, फिर स्काटिश पादरियों के द्वारा स्थापित स्काटिश चर्च कॉलेज में पढ़ने चले गये । नरेन्द्र कभी भी पाठ्य पुस्तकों के बन्धन में नहीं बंधे, उनका मन ज्ञान के क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण करता । कॉलेज के इन प्रथम दो वर्षों की अवधि में उन्होंने पश्चिमी तर्क शास्त्र की प्रमाणिक पुस्तकों का घोर अध्ययन किया इसी तरह कॉलेज के अंतिम दो वर्षों में पश्चिमी दर्शन-शास्त्र और विभिन्न यूरोपीय राष्ट्रों के प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास का अध्ययन किया ।[3]

---

1. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवन, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 30
2. विवेकानन्द चरित, श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 26
3. स्वामी विवेकानन्द एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 33

नरेन्द्र को बचपन से ही विवाह का बंधन अप्रिय था । नरेन्द्र ने आगे चलकर इस विषय में बताया कि जब मै शयन कक्ष में जाता तो दो तरह के दृश्य उनके मानस पटल पर कुछ भारी-भारी से उभरते और विलीन हो जाते । पहला दृश्य सांसारिकता का होता, वैभव के बीच सुख और विलास का जीवन सुन्दर और सुशील पत्नी- परिवार, प्रतिष्ठा, यश और कीर्ति । दूसरा दृश्य आध्यात्मिकता का था । एक परिवार जब धीरे-धीरे सांसारिक व्यक्ति का चित्र मानस पटल पर से धूमिल होकर लुप्त हो गया ।[1]

एफ0ए0 की परीक्षा के पहले ही उन्होंने मिल आदि पाश्चात्य न्यैयिकों के मतवाद का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । इसके अतिरिक्त ह्यूम व हरबर्ट स्पेन्सर के दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन भी उन्होंने किया । डेकार्ठ का अहवाद, ह्यूम व बेन की नास्तिकता डार्विन का विकासवाद और स्पेन्सर के अज्ञेयवाद ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया ।

किन्तु इस शिक्षा से नरेन्द्र को तृप्ति न मिल सकी । उनका मन आध्यात्मिक तृप्ति के लिये व्याकुल रहता । पंचेन्द्रिय ग्राह्य, जड़जगत के पीछे ऐसा कोई शक्तिमान पुरूष है अथवा नहीं ? इस मानवीय जीवन का उद्देश्य क्या है ? सत्य की खोज, आध्यात्मिक पिपासा, के कारण वे प्रार्थना-समाज तथा बाह्य-समाज के भी सान्निध्य में आये । इसी क्रम में उनकी भेंट ब्रह्म-समाज के नेताओं में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से हुई । उनके सम्मुख पहुँच कर नरेन्द्र ने प्रश्न किया कि महाशय ! क्या आपने ईश्वर को देखा है । किन्तु उन्हें उचित उत्तर नहीं मिला । अपने इसी प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए वे अनेक साधु-सन्तों के पास गये, किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिली ।[2]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड,) स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 57
2. श्रीराम कृष्ण लीला प्रसग, (तृतीय खण्ड,) स्वामी सारदानंन्द , पृष्ठ-162

नरेन्द्र की विचारशीलता ने उन्हें इतना अधिक विचलित कर दिया कि ईश्वर - विषयक समस्या उन्हें अन्तःकरण तक सताने लगी । बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण होने के कारण वे किसी भी बात को स्वीकार नहीं कर सकते थे । किसी पर विश्वास करने के पहले वे उसका प्रमाण चाहते थे । ईश्वर की खोज में वे जगह-जगह भटकते रहे, पर.. उन्हें कहीं भी समाधान नहीं मिला । ईश्वर के अस्तित्व के विषय में वे प्रायः निराश हो गए तथा सोचने लगे कि क्या ईश्वर केवल पागलों की कल्पना है? ठीक ऐसी परिस्थितियों में नियति उन्हें कृपापूर्वक श्री रामकृष्ण के समीप ले गयी ।

श्री रामकृष्ण देव से नरेन्द्र की प्रथम भेंट में ही श्री रामकृष्ण देव ने कहा- "मैं इनको साक्षात् नारायण समझता हूँ ।" उन्हें अपने शरीर का ज्ञान ही न रहा । श्री रामकृष्ण देव के द्वारा शरीर पर हाथ फेरते ही नरेन्द्र बाह्य - ज्ञान शून्य हो गये । होश आने पर नरेन्द्र बोल उठे यह आपने क्या कर दिया ? मेरे तो माँ-बाप और भाई-बहन है । प्रथम मिलन से ही श्री रामकृष्ण देव जी नरेन्द्र के लिए व्याकुल रहने लगे । उनमें एक अलौकिक आध्यात्मिक अनुभूति रहने लगी । सत्वगुणी श्री नरेन्द्र के प्रति गुरूदेव का ध्यान सदैव आकृष्ट रहने लगा ।[1]

1880 ई0 में नवम्बर माह में कलकते के शिमला मुहल्ले में सुरेन्द्रनाथ के घर पर श्री रामकृष्ण परमहंस से नरेन्द्र की पहली भेंट हुई । यहीं श्री रामकृष्ण देव जी से उनका प्रथम मिलन था । वहाँ नरेन्द्र श्री रामकृष्ण देव जी को भजन सुनाया। आगे चलकर नरेन्द्र से श्री रामकृष्ण देव से प्रश्न किया कि - क्या आपने ईश्वर को देखा है ? गुरूदेव का उत्तर था हाँ । बिल्कुल उसी तरह जिस तरह मैं तुम्हें देख रहा हूँ । बल्कि इससे भी स्पष्ट । और मैं तुम्हें भी ईश्वर के दर्शन करा सकता हूँ ।[2] गुरूदेव के इस आत्म विश्वास से भरे उत्तर से नरेन्द्र को पूर्ण शान्ति मिली।

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (द्वितीय खण्ड), श्री महेनद्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 67
2. श्री रामकृष्ण लीला,प्रसंग,(तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 54

और यहीं से नरेन्द्र के जीवन में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ ।

दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में नरेन्द्र और श्री रामकृष्ण देव का मिलन होने पर राम कृष्ण ने अत्यंत विह्वलता से कहा नरेन्द्र आह ! तुम बड़ी देर से आये, तुम मुझे इतने दिनों तक प्रतीक्षा में रखकर निष्ठुर कैसे रहे । सांसारिक लोगों की कलुषित बातें सुनते-सुनते मेरे कान लगभग पक गये । जो मेरी आंतरिक अनुभूतियों को समझे और सराहना करे, उसके सामने मैं अपने मस्तिष्क को हल्का करने को विकल था ।[1]

नरेन्द्र ने श्री रामकृष्ण देव के विषय में मन ही मन संकल्प किया कि इनकी ठीक तरह से परीक्षा लिये बिना कभी ईश्वर दर्शी महापुरूष नहीं मानूँगा ।[2] इसी बीच वे दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में कई बार प्रकट हुए । इस समय नरेन्द्र को निराकार का ही ध्यान अच्छा लगता था ।

श्री राम कृष्णदेव जी पहली ही भेंट में समझ गये थे कि - इस युवक को समय आने पर जगत के सैकड़ों हजारों धर्म के प्यासे नर-नारियों की आध्यात्मिक तृष्णा मिटानी होगी । पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के गर्व से अन्ध - स्वदेश-वासियों को लुप्त-प्राय सनातन धर्म के पद पर लौटाने के लिये पुकारना होगा । श्रीरामकृष्ण देव के मूल सिद्धान्त "जितने मत, उतने ही पथ" रूपी सार्वभौमिक आदर्श के प्रचार कार्य में नरेन्द्रनाथ ही सबसे अधिक योग्य अधिकारी हैं ।

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 54
2. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ - 90

इस प्रकार भविष्य की कल्पना कर श्री रामकृष्ण देव उन्हें सर्व मताग्राही व छान्दोक्त साधना मार्ग में परिचालित करने के लिये सचेष्ट हुए ।[1]

श्री रामकृष्ण देव के अपूर्व त्याग तथा मन और सुख में ऐसा देखकर मुग्ध एवं आकृष्ट होने पर भी नरेन्द्रनाथ का हृदय उन्हें अपने जीवन के आदर्श रूप से ग्रहण करने में एकाएक सहमत नहीं हुआ । पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से उन्होंने श्रीराम कृष्णदेव को धर्मोच्चार समझा था । किन्तु इतना होने पर भी दैनिक कार्यवश कुछ समय के लिये श्री राम कृष्णदेव की बात भूल जाने पर भी उनकी स्मृति और सत्यनिष्ठा अवसर पाते ही उन्हें दक्षिणेश्वर अकेले जाकर अपने वचन का पालन करने के लिये उत्तेजित कर देती ।[2]

इसी बीच पाँच वर्ष तक नरेन्द्र नाथ श्री रामकृष्ण देव का पवित्र संघ प्राप्त कर धन्य हुये थे । कलकत्ता निवासी अन्य भक्तों की तरह नरेन्द्र भी अपने घर से ही रामकृष्ण देव के पास आया जाया करते थे । वे दो वर्ष तक नियमित रूप से दक्षिणेश्वर जाते रहे । 1884 ई0 के प्रथम भाग में पिता की आकस्मिक मृत्यु हो जाने से गृहस्थी का बोझ उन्हीं के कन्धों पर आ गया । पिता कुछ छोड़ नहीं गये थे बल्कि आमदनी से अधिक खर्च करने के कारण कुछ ऋण भी हो गया था। कुटुम्बी लोग जिन्होंने पिता की सहायता से अब तक अपनी - अपनी अवस्था की उन्नति की थी अब अवसर पाकर शत्रुता करने लगे और उन्हें भवन से निकाल देने की चेष्टा करने लगे । आमदनी का कोई रास्ता नहीं था । बल्कि पाँच - सात व्यक्तियों के पोषण का भार भी था । अतः सुख में पले नरेन्द्रनाथ अब बेचैन होकर इधर-उधर

---

1. अमृतवाणी - (स्वामी रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद् संग्रह), पृष्ठ - 100
2. श्री रामकृष्ण देव लीला प्रसंग, स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 74, 75

नौकरी की खोज में भटकने लगे । पर समय खराब होने पर मनुष्य की सैकड़ों चेष्टाओं का कुछ भी फल नहीं मिलता नरेन्द्र सभी जगह से विफल होकर लौट आये ।[1]

अपनी विपन्नता के दिनों का वर्णन करते हुए नरेन्द्र ने बताया कि "मैं उन दिनों लगभग भूखों मर गया । मुझे मानवीय सहानुभूति का अनुभव हो गया। जीवन की कटु सत्यता से यह मेरा पहला परिचय था । मैंने देखा कि इस संसार में दुर्बल, निर्धन असहाय के लिये कोई स्थान नहीं है । जो लोग कुछ दिन पूर्व मेरी सहायता करने में गर्व का अनुभव करते थे अब वे सहायता के साधन रहते हुये भी मुझे देख मुँह फेर लेते ।[2] मुझे यह जान पड़ता कि यह जगत किसी शैतान की सृष्टि है । ऐसी परिस्थितियों मे मेरे बन्धु नाराज हो गये । मेरी विपन्नता के लिये कोई रियायत करने को वे तैयार न थे । घर पर कई बार ऐसा भी हुआ कि खाने की कमी देखकर मैंने माँ से कह दिया कि मेरा बाहर निमंत्रण है और मैं बाहर भूखा ही भटकता रहा । मेरे धनी बन्धु मुझे अपने घर खाने पर बुलाया करते थे किन्तु मैंने दुर्दिन के बारे किसी से कोई चर्चा नहीं की ।[3]

इतनी विपरीत परिस्थितियों में भी नरेन्द्र की अस्तिक बुद्धि का विलोप नहीं हुआ अर्थात् उनकी सोच - "ईश्वर मंगलमय है" इसी भावना से परिपूर्ण रही पूर्व की भाँति अब भी वे प्रातः काल उठकर ईश्वर का स्मरण किया करते । विपत्ति के दिनों में माँ भुवनेश्वरी देवी की ईश्वर में आस्था डगमगाने लगी और वे नरेन्द्र को डाँटते हुये बोली कि, "चुप भी रह, बचपन से ही तो तू भगवान - भगवान करता है, भगवान ने ही तो यह सब कुछ किया है ।" माता की इस बात से नरेन्द्र को

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 173
2. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ - 48
3. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ - 44

बहुत चोट पहुँची, वे यह सोचने के लिये बाध्य हो गये कि - "क्या वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व है ?" यदि है भी तो क्या वे मनुष्य की दीन और करूण पुकार को सुनते हैं, यदि सुनते हैं तो मेरी पुकार क्यों नहीं सुनते, उनका कोई उत्तर क्यों नहीं मिलता ? शिव के संसार में इतना अशिव कहाँ से आया ? मगलमय के राज्य में इतना अमंगल क्यों है ?[1]

इस प्रकार नरेन्द्र ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व के अन्तर्द्वन्द्व मे फंसे रहे । इन परिस्थितियों में भी जब श्री रामकृष्ण देव से उनकी भेंट होती तो उनके मन में आत्मविश्वास के साथ विचार आता था कि इस जगत में ईश्वर का अस्तित्व निश्चित रूप से है और उन्हें प्राप्त करने का मार्ग भी उपलब्ध है, अन्यथा इस संसार में जीवित रहने का काई प्रयोजन ही नहीं । इस कारण ईश्वर को प्राप्त करना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये, ईश्वर को प्राप्त करने के मार्ग में चाहे कितनी ही बाधाएं क्यों न आये, मैं पीछे नहीं हटूँगा । मैं इस पथ को खोज ही निकालूंगा । अतः नरेन्द्र की आध्यात्मिक अभिरूचि इन परिस्थितियों में भी विनष्ट नहीं हो सकी ।[2]

इसी बीच दैवी शक्ति के अद्भुत प्रभाव से नरेन्द्र के मन में एक नये विचार का उद्भव हुआ वे संसार की प्रशंसा और निन्दा से बिल्कुल उदासीन हो गये । उनका इस बात पर दृढ़ - विश्वास हो गया कि साधारण मनुष्यों की भाँति धनोपार्जन करके परिवार - पोषण करने तथा सुख - भोग के लिये मेरा जन्म नहीं हुआ है । नरेन्द्र को इसी समय एक एटार्मी के आफिस में कुछ पुस्तकों का अनुवाद कर धन-

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 176
2. श्री रामकृष्ण कथामृत, (तृतीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 180

लाभ करने का अवसर प्राप्त हो गया । जिसके कारण उनकी आर्थिक परिस्थितियाँ कुछ हद तक सुधरने लगीं । इसी बीच नरेन्द्र ने दक्षिणेश्वर पहुँच श्री रामकृष्ण देव से प्रार्थना किया कि वे माँ काली से हमारे परिवार जनों की आर्थिक समस्याओं के निवारण के लिये प्रार्थना कर दें । ठाकुर श्री रामकृष्ण देव ने उत्तर दिया, कि माँ काली से मैं इस प्रकार की बातें नहीं कर सकता, तू स्वयं माँ से ऐसी बातें क्यों नहीं कर देता ? फिर माँ को तो तू मानता नहीं, इसीलिये तुझे इतना कष्ट है । आज मंगलवार है, आज की रात तू काली मन्दिर में जाकर माँ को प्रणाम कर जो कुछ भी माँगेगा, वहीं माँ तुझे देगी ।[1] किन्तु माँ के सन्मुख पहुँचने पर बारम्बार प्रणाम करके नरेन्द्र कहने लगे - "माँ मुझे वैराग्य दो, विवेक दो, भक्ति दो, जिससे तुम्हारा अबाध दर्शन नित्य प्राप्त कर सकूँ ।" मन्दिर से बाहर आने पर उन्हें यह स्मरण हुआ कि वे तो कुछ और ही माँगने आये थे, उन्होंने श्री रामकृष्ण देव से पुनः प्रार्थना की, गुरूदेव ने इसी प्रकार दो अतिरिक्त अवसर प्रदान कर नरेन्द्र की परीक्षा ली, किन्तु माँ काली के सम्मुख पहुँचते ही नरेन्द्र की बुद्धि परिवर्तित हो जाती और वे बार-बार माँ से वैराग्य माँगने लगते ।[2]

माँ से धन जैसी तुच्छ वस्तु मांगने का उनमें साहस ही न होता । अन्ततः वे गुरूदेव से आग्रह करने लगे कि उनकी पारिवारिक विपन्नता दूर करने का वे कोई अन्य मार्ग बतावें । श्री रामकृष्ण देव ने उन्हें आशिर्वाद दिया कि "जा तेरे परिवार को मोटे अन्नादि का कोई अभाव नहीं होने पायेगा ।"[3]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ - 182
2 श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, तृतीय खण्ड, स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 182
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंन्द, पृष्ठ - 182

इस घटना के बाद नरेन्द्र के हृदय में आध्यात्मिक अभिरूचि और अधिक बढ़ गयी उनमें मूर्ति-पूजा के प्रति आकर्षण भी व्याप्त हो गया । गुरूदेव ने नरेन्द्र के निःस्वार्थ और निश्छल मन को बांध रखा था । 1885 ई0 में श्री रामकृष्ण देव के गले के रोग से पीड़ित होने पर नरेन्द्र उन्हें अपना अधिकतर समय देने लगे । नरेन्द्र इस समय ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के विद्यालय में अध्यापन कार्य भी कर रहे थे । अब उन्हें नित्य आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता । परिणाम स्वरूप अत्याधुनिक कॉलेज की शिक्षा से उनका मन हटने लगा, उन्हें यह समझने में देर न लगी कि आज तक उन्होंने दाल-रोटी प्राप्त करने वाली जो शिक्षा प्राप्त की है, वह किसी भी दृष्टिकोण से कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकती ।[1]

एक दिन नरेन्द्र गुरूदेव के सम्मुख खड़े होकर निर्विकल्प समाधि माँगने लगे । किन्तु श्री रामकृष्ण देव जी ने कहा कि "समाधि लगाने से केवल तेरा ही कल्याण होगा ।" भक्त ज्ञान के लिये मुक्ति नहीं खोजता उसे मानव-मात्र के कल्याण के लिये बारम्बार जन्म लेना पड़ता है । वह मानव-सेवा और मानव-प्रेम के लिये ही बना है । वासना का कणमात्र भी रहने पर पुनर्जन्म होता है । वासना का सम्पूर्ण अंत होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है । इसीलिये भक्त अपने लिये कोई आकांक्षा नहीं करता ।"[2] समय आने पर तू वटवृक्ष बनकर सैकड़ो प्राणियों को छाया प्रदान करेगा । आज तू अपनी ही मुक्ति के लिये व्यग्र है यह तेरा अत्यंत क्षुद्र आदर्श है ।[3]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 182
2. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 64
3. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ - 56

गुरूदेव के उक्त आदेश से नरेन्द्र ने समाधि का आग्रह त्याग कर अपने गुरूभाइयों का पथ प्रदर्शन करना आरम्भ किया । श्री रामकृष्ण देव जी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कहा करते थे कि - "मेरे बाद तुम ही सबकी देखरेख करोगे ।"[1] वे नरेन्द्र को अपना उत्तराधिकारी मानते थे ।

अपनी महा समाधि के तीन - चार दिन पूर्व गुरूदेव ने नरेन्द्र को बुलाकर स्नेहभरी दृष्टि से देखकर कहा कि "आज मै फ़कीर हो गया, अब मेरे पास कुछ भी नहीं है । इस भक्ति से तुम संसार के असंख्य अच्छे कार्य कर सकोगे । संसार के असंख्य प्राणियों का जीवनोद्धार कर सकोगे । इन सभी युवकों को मैं तुम्हारे ही उत्तरदायितव पर छोड़ रहा हूँ । इनके आध्यात्मिक विकास को तुम अपने जीवन का लक्ष्य समझना ।[2]

नरेन्द्र ने गुरूदेव द्वारा सौंपे गए उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिये एक संगठन की विशेष आवश्यकता का अनुभव कर आश्रम की स्थापना की । श्री रामकृष्ण देव के भक्तों में श्री बलराम बोस, श्री सुरेन्द्र नाथ मिश्र, श्री महेन्द्र, गुप्त, श्री गिरीश चन्द्र घोष ये चार सम्पन्न परिवार के, विवाहित, दायित्वपूर्ण, प्रौढ़ और स्थिर विचार वाले व्यक्ति थे । सभी के परामर्श से गंगा के किनारे बड़नगर में एक आधे खण्डहर (किरायें के मकान) में मठ की स्थापना की गई ।[3] जीवन-परिवर्तन के इस अवसर पर नरेन्द्र अब विवेकानन्द बन गए थे । उन्हें यह उपाधि खेतड़ी के राजा द्वारा प्रदान की गई थी ।[4]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 7।
2. रामकृष्ण, रोमां रोलां पृष्ठ 58
3. रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानंद, पृष्ठ - 25
4. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ - 61

नरेन्द्रनाथ ने अपने असीम धैर्य, उत्साह, विराट व्यक्तित्व और प्रबल आकर्षक शक्ति द्वारा श्री रामकृष्ण के लगभग सभी वैराग्यवान कुमार शिष्यों को "इस नव प्रतिष्ठित मठ में संघजीवन बिताने के लिए एकत्र किया । इसके बाद वराहनगर मठ में ही किसी समय त्यागी युवकों ने आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित सन्यासी सम्प्रदाय की परम्परानुसार विधिपूर्वक नाम और गैरिक वस्त्र धारण किया तथा तीव्र वैराग्य, कठोर तपस्या, पूजा, जप ध्यान एवं स्वाध्याय आदि की सहायता से वे अपना-अपना आध्यात्मिक जीवन गढ़ने में संलग्न हो गए । इस आश्रम में पूर्व - पश्चिम को मिलाने की शक्ति थी । इसमें धर्म चिन्तन के साथ-साथ वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर दिया जाता था ।[1] इस आश्रम में शिष्यों को समाधि के साथ-साथ मानव-सेवा के आदर्श की ओर भी प्रेरित किया जाता था । ईश्वर के अस्तित्व के विषय में पहले तो नरेन्द्र विज्ञान और तर्कशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध कर दिया करते थे कि "ईश्वर का अस्तित्व एक कपोल-कल्पित वस्तु है किन्तु, कुछ समय बाद अपने ही तर्कों के माध्यम से यह भी सिद्ध करते थे कि "ईश्वर ही सत्य है ।"[2] इस प्रकार यहाँ सांख्य, योग वैशेषिक आदि विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं पर चर्चा - परिचर्चा की जाती थी। बौद्ध-दर्शन और वेदान्त धर्म की तुलना कर स्वामी विवेकानन्द जी शिष्यगणों को भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अनेकों पक्षों की जानकारी देते थे ।

धीरे-धीरे नरेन्द्र को यह आभास होने लगा कि मेरे जीवन की कर्मभूमि अत्यंत विस्तृत है । मुझे सारे देश को देखना है, यहाँ के लोगों की परिस्थितियों को समझना है । उनका मन मठ की चहरदीवारी से ऊबने लगा । अन्ततः उन्होंने अपना

---

1. रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानन्द, पृष्ठ - 27
2. विवेकानन्द - रोमां रोलां, पृष्ठ - 71

कर्म क्षेत्र मठ की दीवारों के बाहर तक विस्तृत करने का निश्चय किया ।

इस परिस्थिति में स्वामी विवेकानन्द जी ने एक परिव्राजक की भांति अपना जीवन आरम्भ किया । अपनी छोटी-छोटी यात्राओं को छोड़कर 1888 ई0 तक विवेकानंद जी बड़नगर में ही रहे । उनके भीतर एक नेपोलियन छिपा हुआ था, जो सम्पूर्ण विश्व पर अपनी आध्यात्मिक विजय स्थापित करना चाहता था । भारत के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक अर्थात् हिमालय से कन्याकुमारी तक उन्होंने पैदल यात्रा की । इस यात्रा में उन्होंने अपनी मातृभूमि का अच्छी तरह निरीक्षण किया, उसकी समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया तथा उसके उत्तरार्द्ध योजना बनाई।[1] उनके जीवन में इस यात्रा का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है । इस भ्रमणकाल में घटी अनेक घटनाएँ स्वामी जी के बहुमुखी - प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है ।

भारत-भ्रमण करने के बाद उनकी अन्तरात्मा में यह बात आई कि राष्ट्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय सोच विकसित की जाए । राष्ट्र को समुद्रीय सीमा पार पाश्चात्य राष्ट्रों से जोड़ा जाय । हमारे देश के पास धर्म है, किन्तु रोटी नहीं है जबकि परराष्ट्रों के पास रोटी तो है किन्तु धर्म नहीं है । एक आदान - प्रदान की प्रक्रिया द्वारा न केवल भारत का वरन् सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होगा । इस उद्देश्य को हृदयंगम कर उन्होंने विश्व-भ्रमण का अभियान आरम्भ किया ।

एक परिव्राजक के रूप में उन्होंने, स्विटजर लैण्ड, कोलम्बो, सिंगापुर, चीन, जापान, इंग्लैंड, यूकोहामा, ओसाका इत्यादि राष्ट्रों की यात्रा की । इसी बीच

---

1. श्री रामकृष्ण देव की वाणी, (रामकृष्ण देव के उपदेशों का संग्रह), पृष्ठ - 8

विश्व की महानतम शक्ति अमरीका के शिकागो शहर में - विश्व-धर्मसभा का आयोजन किया गया था । जिसमें भाग लेने के लिए 31 मई 1893 को बम्बई शहर से उन्होंने जहाज के द्वारा प्रस्थान किया ।[1] 11 सितम्बर 1893 ई0 को शिकागो धर्म सम्मेलन का आरम्भ हुआ । इस धर्म-महासभा में विवेकानन्द जी ने भारतीय सनाधन धर्म की वेदान्तिक परम्परा, उसकी सहिष्णुता, उसकी सत्यता, विशालता का विशद् वर्णन करते हुए वेदान्त दर्शन की दार्शनिक व्याख्याओं के अन्तर्गत - परब्रह्म की परिकल्पना, निर्गुण और सगुण उपासना, मूर्ति पूजा का महत्व आदि विषयों पर अपना ओजस्वी भाषण प्रस्तुत किया ।[2]

"धर्म भारत की आवश्यकता नहीं" इस विषय पर बोलते हुए उन्होंने ईसाइयों के द्वारा भारत में भेजे गए धर्म-प्रचारकों की कड़ी आलोचना की । इसके अतिरिक्त "बौद्ध-धर्म और हिन्दू-धर्म की निष्पति" आदि विषयों पर बोलते हुए धार्मिक एकता का सही अर्थ समझाया । न केवल भारतीय धर्मों का बल्कि विश्व के लगभग सभी धर्मों का उचित अर्थ व महत्व समझाकर सभी धर्मों के बीच अपनी तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की । हिन्दू - धर्म और दर्शन की अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से व्याख्या प्रस्तुत कर असंख्य विदेशियों के हृदय जीत लिये । अपने आकर्षक व्यक्तित्व, विद्वता, विनम्रता, वाक्पटुता एवं मधुर संभाषण के कारण वे शिकागो शहर में चर्चा का विषय बन गये । जगह-जगह नगर के रास्ते व चौराहों पर विवेकानन्द जी की आदमकद तस्वीरे व पोस्टर लगाए जाने लगे । उनके नीचे वृहद् अक्षरों में लिखा था- "सन्यासी विवेकानन्द" ।[3]

---

1. योद्धा सन्यासी, विवेकानन्द, रहबर हंसराज, पृष्ठ - 38
2. विवेकानन्द, रोमां रोलां, पृष्ठ - 89
3. स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 138

1895 व 1896 में उन्होंने ब्रिटेन सहित कई अन्य स्थानों की भी यात्रा की । यहाँ पर "भारतीय दर्शन व उसकी आधुनिक जीवन में उपयोगिता", "धर्म की आवश्यकता", "सार्वभौमिक-धर्म", "मनुष्य का यथार्थ स्वरूप" आदि विषयों पर विवेकानन्द द्वारा विस्तार से विचार प्रस्तुत किये गए ।[1] लंदन में स्वामी जी ने "ज्ञानयोग" पर कई सार्वजनिक भाषण दिये ।

न्यूयार्क में उन्होंने राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, "सांख्य और वेतान्त" जैसे विषयों पर भाषण दिया । डिट्राएट में "पाश्चात्य जगत में भारत का संदेश" तथा "विश्व-धर्म" का आदर्श जैसे विषयों पर भी भाषण दिया । 25 मार्च 1896 में हारबर्ठ नगर में वेदान्त दर्शन की तर्क पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की । अमरीका में 'वेदान्त सोसायटी' नामक संस्था की स्थापना की ।[2] पाश्चात्य राष्ट्रों से स्वामी विवेकानन्द जी ने संगठन की शिक्षा प्राप्त की[3] और उन्होंने यह अनुभव किया कि व्यक्तिगत रूप से ही नहीं यदि संगठन के माध्यम से राम कृष्णदेव के उपदेशों व ज्ञान का प्रसार सम्पूर्ण विश्व में किया जाय तो उससे सम्पूर्ण मानवता को लाभ प्राप्त हो सकता है इस विचार के मन में आते ही स्वामी जी एक नये लक्ष्य की ओर अग्रसर हुए और उन्होंने "रामकृष्ण मिशन" की स्थापना की ।

रामकृष्ण मिशनः-

सन् 1898 ई0 के जनवरी माह में कलकत्ते से सटे हुए भागीरथी के पश्चिमी

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 90
2. योद्धासन्यासी, "विवेकानन्द, रहबर हंसराज, पृष्ठ - 40
3. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 182

तट पर स्थित "बेलूर" गाँव में आंग्ल शिष्या "कुमारी हेनरी एटमुलर" के सहयोग से लगभग सात एकड़ भूमि पर मठ का निर्माण किया गया । सब धर्मों और सब तीर्थों के समावेश से "बेलुड़ मठ" सभी पन्थियों के लिये एक परम पवित्र तीर्थ क्षेत्र बन गया। यहाँ सभी धर्मों का सांस्कृतिक अनुष्ठान व सभी अवतारी महापुरूष या धर्माचार्यों का श्रद्धापूर्वक पूजन किया जाता था ।[1]

रामकृष्ण संघ के इस उदार आदर्श से खिंचकर देश - देशान्तर से आये हुए अगणित नरनारी दिन पर दिन धर्मभाव से अनुप्राणित होते जा रहे थे । संघ के सदस्य भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की भित्ति को खोद उसके अनमोल रत्नों को बटोरते हुए वेद-वेदान्त आदि संस्कृत शास्त्रों का अवलम्बन कर साथ ही उसे समयोपयोगी बनाकर देश-देशान्तर में वितरित कर रहे थे । इनका मूल उद्देश्य था कि यदि भारत के इस नवजागरण - काल में भारतवासी अपने संस्कृति के मूल स्रोतों के साथ घनिष्ठ रूप से परिचित हो जायं, तो साम-गान से मुखरित प्राचीन भारत का सार्वजनीन आध्यात्मिक आदर्श प्रत्येक कुटीर में पुनः नई स्वर लहरियाँ उठायेगा, वह नूतन को पुरातन के पवित्र स्पर्श से सार्थक बनाकर भारत को पुनः प्रतिष्ठित करेगा ।[2]

रामकृष्ण मिशन की स्थापना के पीछे अनेक उद्देश्य निर्धारित किये गए थे । ये प्रधान उद्देश्य थे -

(1) मनुष्यों के हितार्थ श्री रामकृष्ण ने जिन तत्वों की व्याख्या की और स्वयं अपने जीवन में प्रत्यक्ष किया था, उन सब का प्रचार तथा मनुष्यों की दैहिक, मानसिक

---

1. रामकृष्ण संघ - आदर्श और नैतिकता, स्वामी तेजसानन्द, पृष्ठ - 42
2. रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानन्द, पृष्ठ - 43

और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त ये सब तत्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सके उसमें सहायता करना ।

(2) सभी धर्मों को एक ही सनातन धर्म के विकास समझकर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच एकता और भ्रातृत्व स्थापित करना ।

(3) उन्नत चरित्र कर्मी तैयार करना, जो विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों में पारंगत होकर जन साधारण की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आत्मोत्सर्ग करेंगे ।

(4) भारत के शिल्प, साहित्य एवं ललित कला आदि की उन्नति और विस्तार करना ।

(5) जाति-धर्म का विचार न करते हुए नर-नारायण-बुद्धि से आर्तों की सेवा में अपने को लगा देना ।[1]

जगत के सब धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र जानकर समस्त धर्मावलम्बियों में मैत्री स्थापित करने के लिये श्री रामकृष्ण ने जिस कार्य की उद्भावना की थी, उसी का परिचालन इस संघ का व्रत है ।[2]

संघ की कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत मनुष्यों की सांसारिक और आध्यात्मिक

---

1. विवेकानंद साहित्य, षष्ठ खण्ड, पृष्ठ - 45
2. विवेकानंद साहित्य, षष्ठ खण्ड, पृष्ठ - 46

उन्नति के लिए विद्यादान करने के लिए उपयुक्त लोगों को शिक्षित किया जाता था। शिल्पियों तथा श्रम-जीवियों का उत्साह बढ़ाया जाता था, वेदान्त तथा अन्याय धर्म भावों का मनुष्य समाज में प्रचार किया जाता था ।[1]

समिति ने अपने कार्य का विस्तार भारत के कोने-कोने मे किया । देश में आचार्य-व्रत ग्रहण के अभिलाषी गृहस्थ और सन्यासियों की शिक्षा के निमित्त मठों की स्थापना की जाती थी । जन साधारण को शिक्षित करने के लिए व्यापक प्रयास किये गए ।[2]

न केवल भारत के बल्कि भारतीय सीमा के बाहर भी मिशन का कार्य-क्षेत्र रहा । इनका प्रमुख कार्य था भारत से बाहर अन्य देशों में व्रत धारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित सब आश्रमों की भारत के आश्रमों से घनिष्ठता और सहानुभूति बढ़ाना तथा नये-नये आश्रमों की स्थापना करना ।[3]

इस संघ का राजनीति से कोई सम्बंध नहीं था । स्वामी विवेकानन्द जी इस संघ के प्रधान थे । प्रत्येक रविवार को तीसरे पहर इस संघ की बैठक होती थी, जिसमें गीता, उपनिषद तथा वेदान्त ग्रन्थों का पाठ होता था ।[4]

---

1. रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानंद, पृष्ठ - 32
2. विवेकानंद साहित्य, षष्ठ खण्ड, पृष्ठ - 46
3. विवेकानंद साहित्य, षष्ठ खण्ड, पृष्ठ - 46
4. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 235

कुछ भक्तों ने संघ की कार्य प्रणाली पर अपनी आपत्ति व्यक्त की और कहा कि स्वामी जी वैदेशिक पद्धति से कार्य कर रहे हैं । ये भक्त चाहते थे कि एकान्त भक्ति के द्वारा अनन्य चित्त होकर साधन-भजन की सहायता से केवल ईश्वर उपलब्धि की जाय, क्योंकि गुरू रामकृष्ण देव का यही आदर्श था । इन भक्तों को संतुष्ट करते हुए स्वामी विवेकानंद जी ने तर्क दिया कि - रोगी व दीन दुखियों की सेवा, शिक्षा का विस्तार, धर्म का प्रचार यही श्री रामकृष्ण देव के जीवन का मुख्य आदर्श था ये सभी कर्म मन को स्वाभाविक रूप से बहिर्मुख कर डालते हैं, अतः यह मन्तव्य उचित नहीं है इस प्रकार के कार्य साधना के लिए विघ्नकारी भी नहीं हैं । इन कर्मों से मनुष्य को लोक और परलोक दोनों ही स्थानों का सुख प्राप्त होता है ।[1]

स्वामी जी ने लोकहित के उद्देश्य से मठ, मिशन, वेदान्त, समित, सेवाश्रम आदि की स्थापना की थी । वे स्वदेश-प्रेम और मानव-सेवा दोनों ही व्रतों का पालन साथ-साथ कर रहे थे । यह पाश्चात्य आदर्श ही नहीं है, यह परिकल्पना श्री रामकृष्ण देव के सर्वत्याग आदर्श के अनुरूप है । एकान्त में बैठकर केवल ईश्वर-लाभ लेने की कार्य योजना मूर्खों की भावुकता मात्र है । जो मनुष्य को कायर पुरूष और कार्यविमुख कर देती है । जबकि श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों में दरिद्र नारायण सेवा का मंत्र अन्तर्निहित है ।[2] अपनी इस भावना से स्वामी विवेकानन्द जी ने सबको परिचित कराया ।

विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन, ब्रह्म समाज या आर्य समाज की भाँति कोई सम्प्रदाय नहीं था । यह केवल उन लोगों का एक संघ था, जो दरिद्र

---

1. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ - 368
2. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ - 369

और दुःखी लोगों की सेवा करने मे सुख का अनुभव करते थे । इसका प्रमुख उद्देश्य समाज सेवा करना था । मिशन ने भारतीय जनता में नये प्रगतिशील विचारों का प्रचार किया ।[1] विवेकानंद की प्रेरणा से आज भारत तथा विदेशों में रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखाएँ कार्य कर रही हैं तथा उनमें अभी भी सच्ची सेवा की भावना है । रामकृष्ण मिशन द्वारा जनता की सेवा की जाती है और रामकृष्ण के विचारों का प्रचार फैलाया जाता है । विवेकानन्द के बाद क्रमशः ब्रह्मानंद शिवानंद तथा अखण्डानंद ने अध्यक्ष के रूप में मिशन का संचालन किया ।[2]

स्वामी विवेकानंद सारी मानवता को एक कुटुम्ब मानकर चलते थे, जिसमें न कोई ऊँच है, न नीच सभी समान है । इसी कारण उन्होंने सनातन हिन्दू धर्म का प्रचार कार्य किया था । 1902 ई0, जनवरी माह में जापान के लिये स्वामी विवेकानंद जी ने प्रस्थान किया । स्वदेश वापसी पर उन्होंने बनारस, काशी इत्यादि स्थानों का भी भ्रमण किया । किन्तु अब स्वामी जी का स्वास्थ्य काफी खराब रहने लगा था उनका मन अनमनस्क रहता था । 39 वर्ष की अवस्था में 4 जुलाई 1902 ई0 को स्वामी विवेकानंद जी अपने जीवन का लक्ष्य पूरा कर पूर्णतः समाधिस्थ हो गए । उनका महाप्रयाण हो गया ।[3]

इस प्रकार आचार्य शंकराचार्य की भाँति अल्प-जीवन काल में ही सम्पूर्णता प्राप्त कर स्वामी विवेकानंद जी ने मानव समाज के समक्ष, एक नया मार्ग स्थापित किया। महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, पाइथागोरस, संत आगस्टाइन ने अपने-अपने समय की

---

1. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 राम जी उपाध्याय, पृष्ठ - 126
2. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 राम जी उपाध्याय, पृष्ठ - 127
3. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 92

माँग के अनुसार समाज का मार्ग प्रशस्त किया था, समाज को एक नई दिशा दी थी। प्रत्येक युग में समाज करवट लेता है । इसी कारण आज भी भारतीय समाज के उत्थान के लिए एक नये मार्ग की आवश्यकता थी । वर्तमान युग वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाजिक समस्याओं का समाधान करने का युग है । किन्तु धर्म और नैतिकता का महत्व समाप्त नहीं हो जाता ।[1]

यही बात स्वामी विवेकानंद ने विश्व के समक्ष रखी है । स्वामी रामकृष्ण से आध्यात्मिक चिन्तन प्राप्त कर आधुनिक विज्ञान वादी परम्परा मे समाहित कर एक नवीनतम प्रयोग किया जो अत्यंत चमत्कारिक और दुर्लभ प्रायोगिक परीक्षण था जिसने नवीनतम भारत के सृजन के लिये भारतवासियों का आह्वान किया ।[2] समाज को पुर्नजीवित करने के लिए उन्होंने एक ही नारा दिया - "उतिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वारन्निबोधत्" अर्थात् - "उठो जागो, जब तक अभीप्सित वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक बराबर उसकी ओर बढ़ते रहो ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी ने साहसी युवकों को जागृत करते हुए समझाया कि-हम सब महान कार्य करने के लिये ही इस पृथ्वी पर आये हैं । गीदड़ - घुड़कियों से भयभीत हो जाना हमारे लिये न्यायोचित नहीं है । हमारे देश को वीरों की आवश्यकता है । अतः वीर बनो, पर्वत की भाँति अडिग रहो । अपना पुरूषार्थ प्रकट करो । भाग्य लक्ष्मी उसी के पास आती है, जो पुरूषार्थी है, जिसमें सिंह का हृदय है । बल

---

1. रिलीजस एण्ड मॉरल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद, शैल कुमारी सिंह, पृष्ठ-23
2. रिलीजस एण्ड मॉरल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद, शैल कुमारी सिंह, पृष्ठ-24
3. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 234

ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है । बल ही भवरोग की एक मात्र दवा है । अतः साहसी बनो । शक्तिमान बनो । सारा उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लो और यह जान लो कि तुम्हीं अपने भाग्य के विधाता भी हो । तुम्हें जो कुछ भी सहायता चाहिये, सब तुम्हारे ही भीतर है । अतएव अपना भविष्य तुम स्वयं गढ़ो ।[1]

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय कराते हुए वे कहते है कि- मनुष्य तभी तक मनुष्य है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता रहता है । मनुष्य सारे प्राणियों से श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ कोई नहीं । केवल मनुष्य ही पूर्णता प्राप्त करता, देवताओं तक के भाग्य में यह नहीं है ।[2] अतः सत्य का अनुसरण करो, कायर और कपटी मत बनो । पहले स्वयं देवता बनो फिर दूसरों को भी देवता बनने में सहायता करो । "बनो और बनाओ" - बस यही हमारा मंत्र है ।[3]

विवेकानंद जी बार-बार दोहराते हैं कि - विकास ही जीवन है और संकोच ही मृत्यु, प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकोच । प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है । जो प्रेम करता है, वह जीता है, जो स्वार्थी है वह मरता है। अतः प्रेम के लिए ही प्रेम करो । प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है ।[4] किसी भी प्रकार के कर्त्तव्य की उपेक्षा न करो । प्रत्येक कर्म पवित्र है और कर्त्तव्य

---

1. श्री रामकृष्ण, विवेकानंद प्रसंग, ओंकार सक्सेना, पृष्ठ - 10
2. विवेकानंद की वाणी, विवेकानंद के प्रमुख विचार, पृष्ठ - 15
3. श्री रामकृष्ण, विवेकानंद प्रसंग, ओंकार सक्सेना, पृष्ठ - 20
4. विवेकानंद की वाणी, (विवेकानंद के प्रमुख विचार), पृष्ठ - 25

निष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है । ईर्ष्या और अहंकार छोड़ दो । एक होकर दूसरों के लिये कार्य करना सीखो । यही हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इस प्रकार मुक्ति मंत्र का गायन करने वाले स्वामी विवेकानंद की शक्तिशाली विचारधारा ने निद्रामग्न भारतवासियों की नस-नस में प्रवाहित होकर नई आशा-आकांक्षाओं और प्रेरणाओं को जन्म दिया । विवेकानंद के कर्ममय जीवन एवं शक्तिमयी वाणी ने युगों से संचित तामसिकता को दूर कर जाति की सुप्त चेतना को जागृत कर दिया।[1] स्वामी जी के अथक प्रयास से निर्मित "रामकृष्ण संघ" आज भी देश-विदेश में मानवता के कल्याण के लिए कार्य कर रहा है ।

जहाँ एक तरफ विवेकानंद जी हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की उपलब्धियों को प्रकाश में लाए, वहीं उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त संकीर्णता एवं अंध विश्वास का बड़े स्पष्ट शब्दों में विरोध किया । उन्होंने हिन्दुओं के कर्मकांड एवं जातीय भेद-भाव की भर्त्सना की और स्वतंत्रता, समानता एवं स्वतंत्र चिन्तन का उपदेश दिया ।[2] धार्मिक सौहार्द के बारे में 1898 में "हमारी अपनी मातृभूमि के लिये दो महान प्रणालियों - हिन्दू धर्म और इस्लाम का संगम ही एक मात्र आशा है । शीर्षक लेख में उन्होंने भारतीयों की इस बात के लिये भी आलोचना की कि वे बाकी संसार से सम्पर्क खो चुके हैं और गतिहीन और जड़ हो गए हैं ।

विवेकानंद अपने गुरू रामकृष्ण देव के समान ही एक महान मानवतावादी

---

1. रामकृष्ण, संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानंद, पृष्ठ - 43
2. आधुनिक भारत का इतिहास, रामलखन शुक्ल, पृष्ठ - 245

थे । जो भारत के पिछड़ेपन, पतन एवं उसकी गरीबी से अत्यंत दुखी थे । प्रबल मानवतावादी भावनाओं से ही अभिभूत होकर उन्होंने लिखा, "एकमात्र भगवान जिसमें मैं विश्वास करता हूँ, वह है सभी आत्माओं का कुल योग, और सबसे पहले मेरे भगवान सभी जातियों के कुष्ठपीडित, दरिद्र है ।[1]

इसी परिपेक्ष्य में शिक्षित भारतीयों को संबोधित करते हुए कहा, कि "जब तक करोड़ो लोग भूख और अज्ञान से पीड़ित हैं, तब तक मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही समझूँगा जो उनके खर्च से शिक्षित बनकर उनके प्रति तनिक भी ध्यान नहीं देता ।" यही कारण है कि उनके मिशन के कार्यों का मानवतावादी पक्ष काफी महत्वपूर्ण रहा है ।[2] मिशन की शाखाएँ आज भी देश के अन्दर और बाहर समाज-सेवा एवं परोपकार में निरंतर लगी हुई है । मिशन, विद्यालयों, अस्पतालों, अनाथालयों और पुस्तकालयों, आदि का भी संचालन करता है । प्राकृतिक विपत्तियों के समय सहायता एक प्रशंसनीय कार्य है ।

इन सब अच्छाइयों के बावजूद मिशन कभी भी बहुत लोकप्रिय नहीं हो पाया । इसका प्रभाव मध्यमवर्गीय शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा है । आम आदमी के लिए इसकी बोझिल बौद्धिकता शायद इसके प्रसार में आड़े आई है ।[3]

किन्तु यह निर्विवादित रूप से सत्य है कि स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने देशवासी बन्धुओं को उस त्याग के महान आदर्श से परिचित करा दिया जो हमारा

---

1. आधुनिक भारत, विपिनचंद्र, पृष्ठ - 177
2. आधुनिक भारत का इतिहास, रामलखन शुक्ल, पृष्ठ - 246
3. रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास, स्वामी तेजसानंद, पृष्ठ - 30

राष्ट्रीय ध्येय रहा है । उन्होंने भारतीयों के हृदय मे यह बात प्रविष्ट करा दी कि "भारत में जन्म प्राप्त करना परम सौभाग्य की बात है । इतना ही नहीं प्रत्येक भारतीय को उन्होंने स्पष्ट समझा दिया कि अपनी महान आध्यात्मिक संस्कृति के कारण भारत का अस्तित्व अमर रहेगा ।"[1] अपने कार्यों व संदेशों के द्वारा उन्होंने भारतीयों में आत्मविश्वास व आत्मसम्मान पैदा कर दिया स्वामी जी के संजीवक संदेश से भारत प्रबुद्ध भारत बन गया ।

स्वामी विवेकानंद के निधन के तीन वर्ष बाद तिलक व गाँधी के नेतृत्व में जो बंग-भंग के विरोध में आन्दोलन चलाया गया उसकी प्रेरणा बंगालवासियों को विवेकानंद से ही प्राप्त हुई थी । स्वामी विवेकानंद जी श्री रामकृष्ण परमहंस जी के शिष्य थे । श्री रामकृष्ण जी की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति विवेकानंद में ही देखने को मिलती है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो विवेकानंद ने ही श्री रामकृष्ण के कार्यों को आगे बढ़ाया । विवेकानंद के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सभी विचारों पर रामकृष्ण देव के विचारों का आधारभूत प्रभाव परिलक्षित होता है । किन्तु यह कहना न्यायोचित न होगा कि विवेकानंद जी के व्यक्तित्व और विचारों की सीमा, मात्र श्री रामकृष्ण देव के विचारों और व्यक्तित्व में ही सिमट कर रह गयी थी । श्री रामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानंद के व्यक्तित्व में कुछ अलग-अलग विशिष्टताएं थीं ।

श्री रामकृष्ण देव पूर्णतया धार्मिक थे । यद्यपि स्वामी विवेकानंद बचपन से ही, पारिवारिक वातावरण के प्रभाव से धार्मिक प्रवृत्ति के अवश्य थे किन्तु मूर्तिपूजा, साकार देवपूजन में उनकी आस्था नहीं थी । यही कारण है कि श्री रामकृष्ण द्वारा बार-बार आग्रह करने पर भी सहजता से ही साकार देव-पूजन व मूर्तिपूजा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया । श्री रामकृष्ण देव में आस्था का अथाह सागर था किन्तु स्वामी विवेकानन्द जी तार्किक प्रवृत्ति के थे । तार्किक परीक्षण के बाद ही किसी तथ्य

---

1. चिन्तनीय बातें, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 15

को स्वीकार करने के लिए वे प्रस्तुत होते थे ।

श्री रामकृष्ण देव की सांसारिक शिक्षा-दीक्षा विधिवत रूप में सम्पन्न नहीं हुई थी । धार्मिक दृष्टिकोण होने के कारण उन्होंने दाल - रोटी देने वाली शिक्षा का पूर्णतया निषेध किया । किन्तु ध्यान रखने योग्य बात यह है कि शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है जिससे सांसारिक जीवन सुव्यवस्थित रूप से व्यतीत कर सके और उसका पारलौकिक उन्नयन भी हो । इस प्रकार रामकृष्ण देव के विचारों में मात्र सिद्धान्तवादिता दिखाई देती है । जबकि विवेकानंद जी द्वारा व्यक्त शिक्षा सम्बंधी विचारों में विज्ञान, टेक्नोलॉजी, सहित रचनात्मक क्रियाकलापों को भी समाहित किया है जो व्यवहारिकता के अधिक निकट हैं । विवेकानंद ने विधिवत रूप से शिक्षा प्राप्त की थी यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण अधिक समयोपयोगी है । उनकी विचारधारा पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से परिवर्तित हो गयी थी ।

श्री रामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानंद दोनों ही पूर्णतया राष्ट्रवादी थे, किन्तु विवेकानंद सम्पूर्ण विश्व को लेकर चलते थे वे अंतर्राष्ट्रवादिता व सार्वभौमिकता में अधिक विश्वास रखते थे यही कारण है कि वे भारतीय सीमा को पार कर विदेशों में भी गये, किन्तु श्री रामकृष्णदेव का दृष्टिकोण पूर्णतया स्वदेशी था । विवेकानंद जी पाश्चात्य शिक्षा, औद्योगीकरण व तकनीक ग्रहण कर भारत को विश्व में सर्वोच्च स्थान दिलाना चाहते थे, जबकि रामकृष्ण देव पूर्ण भारतीयता की पृष्ठभूमि पर ही भारत को विशिष्ट स्थान दिलाना चाहते थे ।

श्री रामकृष्ण देव का दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक था, जबकि स्वामी विवेकानंद का दृष्टिकोण धार्मिक होने के साथ ही साथ राजनीतिक भी था ।

इन विशिष्टताओं के होते हुए भी रामकृष्ण तथा विवेकानंद दोनों ही अद्वितीय थे, दोनों का उतना ही महत्व है जितना क्राइस्ट और बुद्ध का । रामकृष्ण के शिष्यों में एक भी ऐसा शिष्य नहीं था जो उनके व्यक्तित्व की ऊँचाइयों को छू सके, विवेकानंद भी उनके व्यक्तित्व पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सके थे ।[1]

विवेकानंद का पुष्ट शरीर भी श्री रामकृष्ण के कृश-कोमल यद्यपि सुगठित शरीर से सर्वथा भिन्न था । लम्बा डील, (पाँच फुट साढ़े आठ इंच) चौड़े कन्धे और छाती भारी, सुडौल पुष्ट और व्यायाम की अभ्यस्त भुजा, उनका गेहूँआ रंग, भरा हुआ माथा, दृढ़ जबड़ा, सुन्दर सुडौल उभरी हुई आँखे और पलकें भारी थीं । उनकी दृष्टि में जादू था जो सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था । उनकी वाणी में विनोद शीलता और करूणा का उचित सामंजस्य था । विवेकानंद का मुख्य गुण उनका राजस-भाव था । जिसके सामने सभी सिर झुकाते थे ।[2]

रामकृष्ण की हल्की मुस्कान जिस मुक्त चिन्तनाकाश के शान्त वायुमण्डल का आह्वाहन करती थी । उस तक विवेकानंद कदाचित् ही पहुँचते थे । उनका बलिष्ठ शरीर और उनकी प्रबल मेधा दोनों उनकी आत्मा के समस्त झंझावातों के पूर्व निर्दिष्ट समर क्षेत्र थे । अतीत और वर्तमान, पूर्व और पश्चिम, स्वप्न और यथार्थ प्रभुत्व के लिये अविराम लड़ रहे थे । अपने ज्ञान और सामर्थ्य के कारण उनके लिये यह सम्भव नहीं था कि अपने स्वभाव के या सत्य के एक अंश का उत्सर्ग करके सामजंस्य प्राप्त कर ले । विरोधी व्यक्तित्वों के बीच सामजंस्य बैठाने में स्थापित करने के लिए उन्हें

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 8
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 9

वर्षों संघर्ष करना पड़ा । जिसके लिए बड़े साहस की आवश्यकता थी । अपने इसी प्रयास में उनका जीवन ही आहुति हो गया । उनके लिये जीवन और संग्राम दोनों ही पर्यायवाची थे ।[1]

श्री रामकृष्ण देव का कहना है कि कामिनी-कांचन का त्याग किये बिना लोक शिक्षा नहीं दी जा सकती । स्वामी विवेकानद कामिनी - कांचन त्यागी थे ।

विवेकानंद के विषय में श्री कृष्णदेव जी कहा करते थे - वे वेदान्त और अंग्रेजी भाषा व दर्शन के अग्रगण्य पण्डित हैं । वे असाधारण भाषण-पटु हैं । ये नित्य सिद्ध स्तर के हैं । ये संसार में कभी आबद्ध नहीं होते । ये लोक शिक्षा के लिये ही संसार में आये हैं, उनके जीवन का लक्ष्य है, "ईश्वर प्राप्ति" ।[2]

भारत-भूमि पर अविभूत श्री रामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानंद दोनों ही भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्परा के उन्नायक थे । विवेकानंद ने भारत और विश्व की समस्याओं पर जो भी विचार प्रस्तुत किये और उनका जो भी समाधान प्रस्तुत किया वे रामकृष्ण के ही दिये हुए थे । उन्होंने गुरूदेव के उपदेशों को व्यवहारिक स्वरूप में ढ़ालकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया । यही विवेकानंद का कर्मयोग है जो गुरू के ज्ञानयोग पर आधारित था ।[3] श्री रामकृष्ण देव असंख्य आध्यात्मिक विचारों के पुंज थे । और अपने को असंख्य रूपों में प्रकट करने की सामर्थ्य रखते थे । उनकी कृपादृष्टि की एक झलक एक ही क्षण में विवेकानंद जैसे सहस्र व्यक्तियों

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 10
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (तृतीय खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 619
3. भारतीय धर्म और संस्कृति, डॉ0 रामजी उपाध्याय, पृष्ठ - 124

को परिवर्तित कर देने की शक्ति रखती थी ।

विवेकानंद के लिये रामकृष्ण का सन्देश रामकृष्ण से भी गुरूतर था । वे मनुष्य मात्र को रामकृष्ण के वचनामृत से परितृप्त करना चाहते थे । उस वचन को कर्म में परिणत करना चाहते थे । वे मानते थे कि सर्वोत्तम-धर्म वही है जो मनुष्य मे, विशेषतया दरिद्र मानव मे शिव का उद्भव करे ।[1]

विवेकानंद जी का मानना है कि श्री रामकृष्ण - परमहंस एक पूर्ण सन्यासी थे । मैं उनके विचारों और प्रभाव से प्रभावित हुआ । इस महान सन्यासी ने दूसरे धर्मों के प्रति कभी नकारात्मक अथवा आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रखा, वरन् उनके सकारात्मक पक्ष को प्रदर्शित किया, अर्थात् जीवन में उनका कैसे पालन और अभ्यास किया जा सकता है । झगड़ना, विरोध का दृष्टिकोण रखना उनकी शिक्षा के बिल्कुल विपरीत है । उनकी शिक्षा का विषय है "संसार प्रेम से चलता है ।"[2] स्वामी रामकृष्ण का हृदय जीव के प्रति प्रेम से भरा था वे अपने भक्तों के प्रति सदैव एक विशेष प्रेम रखते थे ।

श्री रामकृष्ण देव जी विवेकानंद को अपना उत्तराधिकारी मानते थे, और स्वामी विवेकानंद जी सच्चे अर्थों मे उनके योग्य उत्तराधिकारी थे । भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में जिन लोगों ने सक्रिय रूप से भाग लिया, उनमें से अनेक आन्दोलन कर्त्ताओं के प्रेरणा स्रोत स्वामी विवेकानंद थे । इसी कारण उन्हें भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अग्रदूत कहा जाता है ।[3]

*****

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 123
2. विवेकानंद साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ - 232
3. रामकृष्ण, रोमां रोलां, पृष्ठ - 120

अध्याय - चतुर्थ।

स्वामी विवेकानंद के विचारों के स्रोत

स्वामी विवेकानंद का व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न तथा बहुआयमी था । उनका दृष्टिकोण विश्वव्यापी था । उनकी अनुभूति सर्वस्पर्शी और सर्वसमावेशक थी । उनकी सोच असाधारण व आधुनिक थी । आधुनिकता के रंग में रंगे होने पर भी उन्होंने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विरासत को अपने आप में समेट रखा था । वे प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही संस्कृतियों में पले-बढ़े थे । उनके जीवन में आदर्शवाद और यथार्थवाद का उचित सम्मिश्रण था । उनके विचार सार्वभौमिक थे ।

स्वामी विवेकानंद के विचारों का गठन अनेक प्रभावशाली स्रोतों पर आधारित था । इन स्रोतों पर विचार किए बिना विवेकानंद को ठीक से नहीं समझा जा सकता । इन सभी स्रोतों का अध्ययन बहुत रोचक तथा उपयोगी है, जिसने उन्हें प्राच्य पाश्चात्य तथा प्राचीन व नवीन के बीच एक अनुपम मिलन सेतु बना दिया था । प्रमुखतया ये चार स्रोत थे -

प्रथमतः -

अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने अपने माता-पिता तथा परिवारजनों से प्राप्त तथा स्वाध्याय द्वारा अर्जित अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से भारतीय संस्कृति के मूल्यवान आध्यात्मिक तत्वों को अपने आप में अपना लिया था ।

द्वितीयतः -

यौवनकाल में स्कूल व कॉलेज में प्राप्त औपचारिक शिक्षा के माध्यम से उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति की शक्ति व भावना को अपनाया था ।

तृतीयतः -

उन्होंने अपने गुरू श्री रामकृष्ण देव के सान्निध्य में रहकर शान्त मन से आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त किया था ।

चतुर्थतः -

अपनी ऐतिहासिक अमेरिका यात्रा के पूर्व एक परिव्राजक सन्यासी के रूप में सम्पूर्ण भारत की विस्तृत यात्राओं के माध्यम से उन्होंने भारतवर्ष की जनता तथा उनके आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व आध्यात्मिक समस्याओं के साथ घनिष्ठ सम्पर्क साधा था ।

स्वामी विवेकानंद के मानवतावादी विचारों के निर्माण में चतुर्थ स्रोत का अत्यधिक प्रभाव रहा है । श्री रामकृष्ण देव ने एक समय घोषणा भी की थी कि "मानवीय वेदना के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर नरेन्द्र (विवेकानंद का पूर्वनाम) की अहं-शक्ति द्रवित होकर मानवीय करूणा - शक्ति में परिवर्तित हो जायेगी ।[1] श्री रामकृष्ण देव की यह घोषणा आगे चलकर अक्षरशः सत्य सिद्ध हुए ।

यहाँ उपरोक्त चारों स्रोतों पर विस्तार से चर्चा करना भी आवश्यक है ।

प्रथम स्रोतः -

(क) पारिवारिक वातावरणः -

स्वामी विवेकानंद का प्रारम्भिक जीवन अपने पारिवारिक वातावरण से प्रभावित

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 104

था । परिवार में माँ भुवनेश्वरी देवी उनकी प्रथम गुरू थीं । उन्हीं के संरक्षण में नरेन्द्र ने अपनी शिक्षा का प्रथम पाठ पढ़ा था । माता भुवनेश्वरी देवी के व्यक्तित्व में अनेक गुण समाहित थे । वे सुन्दरता की प्रतिमूर्ति थीं । उनके प्रत्येक क्रियाकलाप में कुलीनता टपकती थी । वे बुद्धिमती, कार्य-कुशल, और ईश्वर परायण थीं । रामायण और महाभारत का उन्हें अच्छा ज्ञान था । अपने सरल हृदय, सूझबूझ और धैर्यशीलता के कारण वे सबकी प्रिय थीं । वे बालक नरेन्द्र को रामायण और महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती थीं । सर्वप्रथम उन्होंने ही बंगला ओर अंग्रेजी के अक्षरों का नरेन्द्र को कराया था ।[1]

नरेन्द्र के चरित में जो कुछ भी महान तथा सुन्दर था वह सब उनकी सुशिक्षित तथा उच्च विचारशील माता की शिक्षा व प्रयत्नों का ही परिणाम था । माता भुवनेश्वरी सिंहनी थीं, इसीलिये उन्होंने नरेन्द्रनाथ की तरह पुरूष सिंह का प्रसव किया था । नारी की कोमलता के पीछे उनके चरित्र में एक ऐसी दृढ़ता थी जो अन्याय, असत्य और असद् के विरूद्ध सदादर्प के साथ सिर ऊँचा करके खड़ी हो जाती थी।[2] नरेन्द्र माता के इस गुण से बहुत प्रभावित थे । यही कारण है कि अपने जीवन में अन्याय, अत्याचार के विरूद्ध आवाज उठाने का आग्रह उन्होंने बार-बार किया । सिंह के समान गरज कर उन्होंने कहा कि - हे अमृत के पुत्रों ! ईश्वर की सन्तानों ! उठ खड़े होओ । तुम्हें ही एक नये इतिहास का सृजन करना है ।[3]

इस प्रकार अपनी शिक्षा का एक प्रमुख अध्याय उन्होंने माँ भुवनेश्वरी

---

1. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 21
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 435
3. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, स्वामी अपूर्वानंद, पृष्ठ - 36

देवी के शिष्यत्व में ग्रहण किया । भुवनेश्वरी देवी मे अपने पुत्र को प्रशिक्षित करने की एक प्रबल प्रवृत्ति थी । उन्हीं की गोद में बैठकर बालक नरेन्द्र ने वंश - गौरव, पितामह आदि की बातों का, भारत के महापुरूषों तथा देवी - देवताओं की महिमा के विषय में जानकारी प्राप्त की थी । नैतिकता तथा आध्यात्मिकता की भी पूर्ण शिक्षा नरेन्द्र ने माँ से ही प्राप्त की थी ।[1]

सत्यता के पथ पर दृढ़ता का उपदेश, कर्म के प्रति तत्परता का उपदेश भी नरेन्द्र ने माँ से ही प्राप्त किया था । भुवनेश्वरी देवी ने उन्हें शिक्षा दी की, आजीवन पवित्र रहना, अपनी मर्यादा की रक्षा करना तथा कभी भी दूसरों के सम्मान पर आघात नहीं करना । शान्त रहना किन्तु आवश्यकता पड़ने पर हृदय को दृढ़ रखना ।[2] स्वामी विवेकानंद ने भी एक बार स्वीकार किया था कि अपने ज्ञान के विकास के लिए मैं अपनी माँ का ऋणी हूँ ।[3]

नरेन्द्र ने अपनी नानी रघुमणि देवी तथा नानी की माँ राइमणि देवी से भी शिक्षा प्राप्त की थी । राइमणि देवी वैष्णव थीं वे भागवत, पुराणों और वैष्णवों की नाना प्रकार की कहानियाँ नरेन्द्र को सुनातीं । नानी की माँ के पिता श्री रामचन्द्र दत्त और पितामह श्री कुंज बिहारी दत्त भी वैष्णव धर्म ज्ञाता थे । इन सभी परिवारजनों ने बाल्यकाल से ही नरेन्द्र की विचारधारा को वैष्णव धर्म की ओर आकृष्ट कर दिया था।[4]

---

1. युगनायक विवेकानंद, स्वामी गम्भीरानंद, पृष्ठ - 25
2. युगनायक विवेकानंद, स्वामी गम्भीरानंद, पृष्ठ - 27
3. स्वामी विवेकानंद, एक जीवनी, स्वामी अपूर्वानंद, पृष्ठ - 36
4. स्वामी विवेकानंद बाल्य, जीवनी, महेन्द्रनाथ, पृष्ठ - 37

अपनी शिक्षा का प्रमुख अध्याय नरेन्द्र ने पिता विश्वनाथ दत्त के सान्निध्य में रहकर प्राप्त किया था । विश्वनाथ दत्त ने अपने पिता दुर्गाचरण के सन्यास लेने पर अपनी माता की ही छत्र-छाया में अपना जीवन व्यतीत किया था । वे आगे चलकर कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्तार बने । उन्होंने अत्यधिक मात्रा में धन-सम्पत्ति अर्जित कर ली थी । वे बहुत उदार प्रवृत्ति के थे । उन्हें संगीत से बहुत प्रेम था ।[1]

नरेन्द्र ने पिता से जहाँ तार्किक प्रवृत्ति की शिक्षा ली थी । वहीं विश्वनाथ दत्त ने उन्हें मतवादी न बनने के लिए अनेक स्थलों पर प्रेरित किया । विश्वनाथ दत्त का व्यवहार लोगों के साथ सहृदयतापूर्ण एवं मधुर था । विरोधी मतों को सुनकर भी वे तर्क पूर्ण उत्तर ही देते थे । वे तर्क पूर्ण बातों से कभी क्षुब्ध नहीं होते थे। पिता के इन सभी गुणों का प्रभाव नरेन्द्र पर पड़ा ।[2]

बालक नरेन्द्र पर अपने पिता के विभिन्न गुणों का जहाँ, प्रभाव पड़ा वहीं विश्वनाथ दत्त की उदारता से भी प्रभावित हुए बिना वे नहीं रह सके । विश्वनाथ दत्त किसी भी व्यक्ति को कभी कोई कष्ट होने पर व्यथित हो जाते तथा अपनी क्षमतानुसार उसकी मदद करने को सदैव प्रस्तुत रहते । दूर के रिश्ते के कई छात्र उनके घर पर ही रहकर उनके ही खर्च पर अध्ययन करते थे । दीन-दुखियों को दान देना उनका एक रोग था । उनके द्वारा बिना बिचारे दान करने तथा नशाखोरों आदि के द्वारा उस दान का अनुचित उपयोग किए जाने के सम्बंध में उनके बड़े पुत्र (नरेन्द्रनाथ) ने एक बार विरोधी मत प्रकट किया था । तब विश्वनाथ बाबू ने कहा था कि "मनुष्य जीवन कितना दुःखपूर्ण है, तू अभी क्या समझेगा ? जब समझेगा तब

---

1. स्वामी विवेकानंद बाल्य जीवनी, महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 53
2. स्वामी विवेकानंद बाल्य जीवनी, महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 54

उस दुःख से कुछ समय के लिये छुटकारा पाने के लिये जो लोग नशा करते हैं, उन्हें तू दया की दृष्टि से देखेगा ।[1] आगे चलकर पिता की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई ।

इसी प्रकार पाक-कला की निपुर्णता की शिक्षा भी विवेकानंद ने अपने पिता से ली थी । संगीत के प्रति लगाव नरेन्द्रनाथ को अपने वंशानुगत उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, संगीत से विश्वनाथ दत्त को अत्यधिक प्रेम था । दुर्गादास का भी गला मीठा था । भुवनेश्वरी देवी भी मधुर गाती थीं । कृष्ण - यात्रा के गीत वे अपने मन से भली-भाँति गाती थीं एवं घर पर आये भिखारियों से वे भक्तिगीत सुनकर सीख लेती थीं । पूरे खानदान, सम्प्रदाय के लोगों की संगीत-साधना ने ही सम्भवतः नरेन्द्र को सुगायक बनाया था ।[2]

संसार में किस प्रकार का आचरण करना उचित है, इस सम्बंध में नरेन्द्र के द्वारा अपने पिता से राय मांगने पर उन्होंने कहा था, "कभी भी किसी से झुकना नहीं", सम्भवतः इस कथन के मर्म को हृदयंगम कर नरेन्द्रनाथ भविष्य में राजमहल और दरिद्र की कुटिया दोनों स्थानों पर समान मनोभाव के साथ स्वच्छंदता पूर्वक विचरण करते थे ।[3] इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी ने माँ भुवनेश्वरी देवी, पिता विश्वनाथ दत्त सहित परिवार के अन्य सदस्यों के चरित्र व व्यक्तित्व तथा सद्गुणों से शिक्षा प्राप्त की । उनके परिवारिक वातावरण ने उनकी सोच को विकसित होने में प्रमुख आधारशिला प्रदान की ।

---

1. स्वामी विवेकानंद, बाल्य जीवनी, महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 54
2. युगनायक विवेकानंद, स्वामी गम्भीरानंद, पृष्ठ - 23
3. स्वामी विवेकानंद, बाल्य जीवनी, महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 146

(ख) स्वाध्याय द्वारा प्राप्त शिक्षाः-

स्वामी विवेकानंद के हृदय में जीवन के प्रारम्भिक दिनों से ही आध्यात्मिक अभिरूचि थी । यही कारण है कि गीता, उपनिषद, श्री रामचरितमानस, शंकराचार्य, रामानुजम् इत्यादि, अनेकों धर्म-दर्शन की शाखाओं का उन्होंने स्वतः ही अध्ययन किया था । आगे चलकर भारतीय धर्म-दर्शन का प्रभाव उनके विचारों मे प्रस्फुटित हुआ। जिन प्रमुख भारतीय दर्शनों का उनके विचारों पर प्रभाव पड़ा, उनका संक्षिप्त विवेचन किया जाना भी यहाँ अत्यंत आवश्यक है -

(1) उपनिषदों का प्रभावः-

स्वामी जी के दर्शन पर उपनिषदों का सर्वाधिक प्रभाव देखा जा सकता है । उनकी दार्शनिक कृतियों में ईश, छांदोग्य, श्वेताश्वतर, कठोपनिषद एवं मुंडकोपनिषद के उद्धरण मिलते हैं उन्होंने उपनिषद के सिद्धान्तों को जीवन के व्यावहारिक स्तर पर उतारने का प्रयास किया । स्वामी जी ने जिन विषयों को उपनिषद से ग्रहण किया उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है ।

स्वामी जी के दार्शनिक विचारों में ब्रह्म सम्बन्धी विचार उपनिषद द्वारा व्यक्त विचारों पर आधारित है । स्वामी जी के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है ।[1] ब्रह्म नित्य, असीम व अनंत सत्ता है, अतः उसे बाह्य सीमित जगत में नहीं खोजा जा सकता । अनंत की खोज अनंत में ही करनी चाहिये हमारी अंतर्यर्ती आत्मा ही एकमात्र अनंत वस्तु है । अतः उसी में ब्रह्म की खोज करनी चाहिये । स्वामी जी की उपरोक्त

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 243

धारणा, वृहद् आरण्यक उपनिषद से ली गई है । कणोपनिषद का उद्धरण देते हुये स्वामी जी ने लिखा है कि बाल बुद्धि के मनुष्य बाहरी काम्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं । इसीलिये सब ओर व्याप्त मृत्यु के पाश में बंध - जाते हैं, किन्तु ज्ञानी मनुष्य अमृत को जानकर अनित्य वस्तुओं में निध्य वस्तु की खोज नहीं करते ।[1]

स्वामी जी आगे भी कहते हैं कि - जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत में प्रविष्ट होकर बाह्य वस्तु के रूप-भेद से भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है, उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अंतरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस वस्तु का रूप धारण किये हुये है । और सबके बाहर भी है । जिस प्रकार एक ही वायु जगत में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से तथ्य तद्रूप हो गई है उसी प्रकार सब भूत की वही एक अंतरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस रूप की हो गई जो उनके बाहर भी है। ब्रह्म आत्म-स्वरूप है । ईशोपनिषद का उद्धरण देते हुए स्वामी जी ने कहा कि ब्रह्म अनंत सत्ता, अंतत ज्ञान, व अनंत आनंद है । ब्रह्म चंचल है, स्थिर है दूर है, निकट है, वह सबके भीतर है, फिर सबके बाहर भी है, जो आत्मा के भीतर सब भूतों का दर्शन करते हैं और सब भूतों में आत्मा का दर्शन करते हैं वे कुछ भी छिपाने की आशा नही करते जिन अवस्था में ज्ञानी व्यक्ति के लिये समस्त भूत आत्मस्वरूप हो जाते हैं उस अवस्था में उस एकत्व दर्शी पुरूष को शोक अथवा मोह कहाँ रह सकता है ।[2] मुण्डकोपनिषद की परिकल्पना के अनुरूप ही स्वामी जी आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बंध मानते हैं ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 242
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 146

स्वामी जी ने "हिन्दू धर्म" में ईश्वर की शक्ति का विशद् वर्णन किया है वह भी उपनिषदों की अवधारणा के ही अनुकूल है ।

स्वामी जी ने कहा - हे अमृत के पुत्रों । सुनो हे दिव्यधाम वासी देवगण !! तुम भी सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरूष को प्राप्त कर लिया है, जो समस्त अज्ञान-अंधकार के परे है । केवल उस .. पुरूष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्र से छूट सकते हो । दूसरा कोई पथ नहीं ।[1] स्वामी जी के यह विचार श्वेताश्पतरोपनिषद् (2/5 ; 3-8) से ली गई है । वे आगे कठोपनिषद के आधार पर कहते हैं कि "वह ईश्वर है - जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं, और मृत्यु पृथ्वी पर रहती है । पृथ्वी, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण सभी ईश्वर के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं ।[2] मुंडकोपनिषद के आधार पर वे कहते हैं कि जब मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है तब उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं । जब मनुष्य के हृदय की सारी गांठे खुल जाती हैं तब वह कर्मफल के समस्त बन्धनों से छुटकारा पा सकता है ।[3]

स्वामी जी पुनर्जन्म में भी विश्वास करते थे उन्होंने कहा कि पुनर्जनम का सिद्धान्त... अनैतिक बनाने के बजाय हमें न्याय का भाव प्रदान करता है .... इस सिद्धान्त का समग्र आधार है यदि किसी आदमी के कार्य अच्छे हैं, तो वह अवश्य

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 12
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 18
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 264

ही उच्च कोटि का जन्म लेगा और यही बात विपरीत क्रम से भी होगी ।[1] यह विचारणीय है कि पुनर्जन्म में विश्वास उपनिषदों के काल से बराबर चला आ रहा है । स्वामी जी भी इस विचार को स्वीकार करते हैं ।

उपनिषदों के प्रभाव के अतिरिक्त स्वामी जी के दर्शन और साहित्य पर शिक्षात्मक, महाभारत, विवेक चूड़ामणि तथा मनुस्मृति का प्रभाव भी अनेक स्थलों पर दिखाई देता है । स्वामी जी के वाक्य वेदों और उपनिषदों के उद्धरणों से परिपूर्ण है ।[2] स्वामी विवेकानंद जी वह समुद्र हैं जिससे धर्म, राजनीति, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद और विज्ञान सबके सब समाहित हो जाते हैं ।

विवेकानंद ने कहा है, उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है । उपनिषद कहते हैं, हे मानव । तेजस्वी बनो । वीर्यवान बनो । दुर्बलता का त्याग करो ।[3] समग्र संसार का अखण्डत्व जिसको ग्रहण करने के लिये संसार प्रतीक्षा कर रहा है हमारे उपनिषदों का महान भाव है । उपनिषदों का ज्ञान सबके लिये और जीवन की सभी अवस्थाओं के लिये उपयोगी है ।[4]

अतः उपरोक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवेकानन्द जी के दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है । स्वामी जी ने ब्रह्म-ईश्वर, जीव एवं ब्रह्म जीव संबंध की व्याख्या करने के लिये उपनिषदों का सहारा लिया है ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम् खण्ड), पृष्ठ - 28, 29
2. विवेकानंद संचयन, भगिनीनिवेदिता, पृष्ठ - 179
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 135
4. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 139, 140

(2) श्रीमद् भगवद्गीता का प्रभाव:-

स्वामी जी के विचारों पर श्रीमद्भगवद्गीता के विचारों का भी प्रभाव पड़ा । उनके विचारों के अनेक स्थलों पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है । मनुष्य समाज के क्रमिक परिवर्तन पर वे विचार करते समय गीता में श्रीकृष्ण द्वारा दिये गए सन्देश को ही दुहराते हैं वे कहते हैं कि - सागर की भीमकाय तरंगों के समान निरन्तर उत्थान और पतन, पतन और उत्थान यही विश्व की गति है । समष्टि के लिए जो विधान सत्य है, वही व्यक्ति के लिए भी सत्य है । मनुष्य समाज के सभी व्यापारों में भी यही तरंगवत् उत्थान और पतन की गति है। राष्ट्रों के इतिहास भी इसी उत्थान और पतन की कहानियाँ हैं । वे उठते हैं और गिरते हैं - उत्थान के बाद पतनकाल आता है और पतन के बाद पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति के साथ पुनरूत्थान होता है । निरन्तर यही उत्थान और पतन का चक्र चलता रहता है ।[1] इस प्रकार मनुष्य-समाज और राष्ट्र के जीवन में उत्थान और पतन के गम्भीर विषय को गीता में दी गई शिक्षा के आधार पर व्यक्त करके वे भारतीयों के हृदय में यह आशा जगाने में सफल हो जाते हैं कि हमारी सभ्यता का पतन नहीं हुआ है । हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति का पुनरूत्थान करना है ।

इसी प्रकार जीवन में अनासक्त भाव के प्रति भी स्वामी विवेकानंदजी ने लोगों को संदेश दिया । यह विचार भी गीता से ही लिए गए हैं । वे संदेश देते हैं कि एकमात्र ईश्वर ही ऐसा है जो कभी नहीं बदलता । उसका स्नेह अनन्त और अपरिवर्तनशील है । अतएव हमें अनासक्त भाव से संसार में रहते हुए ईश्वर से प्रेम

---

1. भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - ।

करना चाहिए ।[1] संसार में रहकर व्यक्ति कार्य करता है और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित कर देता है वह संसार के पापों में निर्लिप्त रहता है । दुःख का एकमेव कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बद्ध होते जा रहे हैं । निरन्तर काम करते रहो, पर आसक्त मत होओ, बन्धन में मत पड़ो । प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की शक्ति स्वयं में संचित रखो । वस्तु जो तुम्हें बहुत प्यारी क्यों न हो । तुम्हारा प्राण उसके लिये चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट क्यों न उठाना पड़े फिर भी अपनी इच्छानुसार उसका त्याग करने की अपनी शक्ति मत खोओ ।[2] उपरोक्त विचारों पर गीता का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है ।

विवेकानंद जी आगे कहते हैं कि "दुनिया में न तो पाप है, न दुःख है, न रोग है, और न शोक । यदि दुनिया मे कोई वस्तु है जिसे पाप कहा जा सकता है, तो वह है - "भय" । जिस काम से सोई हुई शक्ति जग जाय, वह पुण्य है। तुम्हारे मन को, शरीर को जो निर्बल बनाये वह सचमुच पाप है । तुम सर्वशक्तिमान हो । अति अधम पापी से घृणा मत करो । भीतर के देवत्व को अभिव्यक्त करो ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी व्यर्थ के आत्माभिमान, स्वार्थपरता, अहंकार के भाव का भी निषेध गीता में दिये गये उपदेशों के आधार पर ही करते हैं । वे कहते हैं कि यह संसार तुम्हारे अथवा अन्य किसी के ऊपर निर्भर नहीं है । यदि किसी

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 276
2. भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 114
3. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 277

को कुछ दे दो तो उससे किसी भी प्रकार की कोई आशा न करो ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी ने अपने विभिन्न भाषणों में भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग पर विस्तार से विचार व्यक्त किया । आत्मा की मुक्ति के लिये बताये गये उपरोक्त मार्ग पर उनके विचार भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दिए गए मोक्ष के लिए भक्ति मार्ग, ज्ञानमार्ग और निष्काम कर्मयोग की ही परिणति है ।

स्वामी जी कर्म पर विशेष बल देते हैं और कहते हैं कि आलस्य और कायरतावश हम जीवन में जाने कितनी बार अपनी हार मान लेते हैं ।[2] यही भावना गीता के आरम्भिक श्लोक में व्यक्त है । जिसका भावार्थ है उठ हे पार्थ । त्याग दे हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को, इस क्लैब्य को । उठ खड़ा हो और लड़ ।[3]

स्वामी जी भी स्वीकार करते है कि - हम कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते । कर्म करो । किन्तु जब तुम्हारा पड़ोसी तुमसे कहता है, "आओ और मेरी मदद करो" तो सेवा के लिए तत्पर रहो । यही धर्म है । जिसकी चेष्टाएं सभी कामनाओं तथा संकल्पों से रहित है, उसने ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा सब कर्म बन्धनों को भस्म कर डाला है वह पण्डित है । बहुत से ग्रन्थ पढ़ने से कोई लाभ नहीं। कर्म की सब आसक्ति त्याग कर, बुद्धिमान पुरूष कार्य करता है अनासक्त भाव से कार्य करने वाला व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है ।[4]

---

1. भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 36
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 295
3. गीता - पृष्ठ - 213
4. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 309

श्रीमद्भगवद् गीता का प्रभाव होने के कारण उनके विचारों में कर्मयोग को प्रमुख स्थान प्राप्त था, स्वामी जी ने कहा कि - हर कर्त्तव्य का अपना एक स्थान होता है । किसी एक मनुष्य का कर्त्तव्य दूसरे का कर्त्तव्य नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अवस्था व परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्य करना चाहिए। यदि स्वदेश अथवा स्वधर्म के लिए युद्ध करते-करते मनुष्य की मृत्यु हो जाय, तो योगीजन जिस पद को ध्यान द्वारा पाते, वही पद उस मनुष्य को भी मिलता है ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता के प्रभाव के कारण ही स्वामी विवेकानंद जी देश व धर्म की रक्षा के लिए की गई हिंसा को पाप नहीं मानते हैं । वे कहते हैं कि- शत्रु के सन्मुख शूरता प्रकट करके उस पर शासन करना चाहिए । यह गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य है । गृहस्थ को घर के कोने में बैठकर रोना और "अहिंसा परमोधर्मः" कह कर खाली बकवास नहीं करना चाहिए । इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी मनुष्य के जीवन में कर्त्तव्य को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं ।[2]

शिकागो सर्व-धर्म-सम्मेलन में विवेकानंद ने कहा, हिन्दू धर्म सभी-धर्मों का जनक है यह वह धर्म है जिसने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौकिता का पाठ पढ़ाया । अपनी बात को पुष्ट करने के लिये उन्होंने शिव महिमा स्रोत और गीता से निम्न दो पद सुनाये और उन्होंने इस बात पर जोर देकर कहा कि भाइयों। इन पदों की आवृत्ति मैं अपने बचपन से कर रहा हूँ ।[3]

"रूचीनां वैचित्यादृजु कुटि नाना पथ जुषाम् ।
नृणामेको गूपस्त्यमसि पपसामर्णव इव ।।" (प्रथम श्लोक)

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (तृतीय खण्ड) पृष्ठ - 23
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 20
3. विवेकानंद संचयन, भगिनी निवेदिता, पृष्ठ - 4

अर्थात्: -

विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! भिन्न-भिन्न रूचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े - मेढ़े अथवा सीधे रास्ते जाने वाले लोग अन्त में तुममें ही आकर मिलते हैं ।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थसर्वश: ।।" (द्वितीय श्लोक)

अर्थात्: -

जो कोई मेरी ओर आता है - चाहे किसी प्रकार से हो, मैं उसको प्राप्त होता हूँ लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ओर आते हैं ।

स्वामी जी ने कहा कि "गीता में यदि कोई ऐसी बात है जिससे मैं विशेष रूप से प्रभावित हूँ तो वह ये दो श्लोक है ।[1]

(1) समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं य पश्यति स पश्यति ।।[2]

(2) समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम ।।[3]

---

1. भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता, विवेकानंद, पृष्ठ - 45
2. गीता - पृष्ठ - 13/27
3. गीता - 13/28

अर्थात् -

विनाश होने वाले सब भूतों में जो लोग अविनाशी परमात्मा को स्थित देखते हैं, यथार्थ में उन्हीं का देखना सार्थक है, क्योंकि ईश्वर को सर्वत्र समान भाव से देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, इसलिये वे परमगति को प्राप्त होते हैं । (प्रथम श्लोक)

आत्मा की व्याख्या स्वामी जी ने इस प्रकार की - "आत्मा वह है जिसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती । (द्वितीय श्लोक)

स्वामी जी की यह धारणा -

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः ।[1]

पर आधारित है ।

विवेकानन्द जी उपनिषदों एवं गीता का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कहते हैं कि "गीता एक सुन्दर पुष्पमाला के, या सर्वोत्तम चुने हुये फूलों के एक गुलदस्ते के समान है । उपनिषदों में कई स्थलों पर श्रद्धा की विस्तृत विवेचना की गई है, किन्तु भक्ति का उल्लेख अल्प ही है । दूसरी ओर गीता में भक्ति की विवेचना बार-बार ही नहीं की गई है, वरन् उसमें भक्ति की अन्तः निष्ठभावना चरम उत्कर्ष तक पहुँच गयी है ।[2] एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं "धर्म के विभिन्न भागों का

---

1. गीता - पृष्ठ - 2/23
2. विवेकानन्द साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 317

समन्वय और नि.स्पृह या निष्काम कर्म - ये गीता की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं ।[1] उन्होंने कहा है, "यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है - क्लेव्यं मा स्मगभः पार्थ। नैतत्वऽयुपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्वल्यं व्यक्त्वोतिष्ठ परतंप - तो उसे सम्पूर्ण। गीता - पाठ का लाभ होता है । क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का संदेश निहित है ।[2]

इस प्रकार भक्ति ज्ञान, कर्म, निर्भयता, कर्मठता, दृढ़ता इत्यादि विषयक विचारों पर श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है ।

(3) वेदान्त - दर्शन का प्रभावः-

स्वामी विवेकानंद जी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि "मैं वेदान्ती हूँ ।" वे वेद पुनीत धार्मिक आदर्शों को - जिनमें आत्मा, परमात्मा, एकेश्वरवाद इत्यादि को अपने विचारों में प्रमुख स्थान देते हैं । वे कहते थे कि - वेदान्त ही सर्वजनीन धर्म है । वेदान्त ही समान धर्म-ग्रन्थों में ऐसा ग्रन्थ है जिसमें बाह्य प्रकृति के वैज्ञानिक अनुसन्धान से प्राप्त परिणामों का सम्पूर्ण। सामंजस्य है । वेदान्त हमें यह सिखाता है कि - एकमात्र ईश्वर ही सत्य है । संसार असत्य और क्षणभंगुर है, तुम्हारा यह जीवन निःसार है । हमारा धर्म ही सच्चा धर्म है । मनुष्य पूर्ण। और पवित्र है ।[3] इस प्रकार विवेकानन्द जी के विचारों पर वेदान्त - दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है । वेदान्त दर्शन से ही प्रभावित होने के कारण उन्होंने कहा कि वेदान्त-दर्शन का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करने से मनुष्य परमानन्द स्वरूप निर्वाण को प्राप्त कर सकता है ।[4]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 318
2. विवेकानन्द साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 320
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 66
4. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 175

वेदान्त के महान आदर्श को अपने कर्म जीवन मे परिणत करके उस आदर्श के अनुसार जीवन गठित करने के लिये स्वामीजी ने अपने स्वदेशवासियों को उच्च स्वर में पुकारा - "जिन , जोंग, चण्डाल, मोची, मेहतर आदि को सदियों से तथा कथित जाति के अभिमानी गण, चलायमान श्मशान मानकर घृणा से दूर हटाते आ रहे हैं । स्वामीजी ने उन्हें "मेरे भाई, मेरे रक्त" कहकर उनका आलिंगन किया । उन्होंने भारत के कल्याण के इच्छुक कर्मयोगियों से अन्धकार में डूबे हुए करोड़ों अज्ञानी नर-नारियों का ज्ञानालोक द्वारा उद्धार करने का व्रत लेने के लिये बार-बार व्याकुल भाव से अनुरोध किया कि उनके दुःख उनकी हीनता व अज्ञानता को दूर करने के लिये प्राणपक्ष से चेष्टा करना रूग्ण, आर्त, अनाथ को औषधि व आहार देना ही मुक्ति का प्रशस्त राजपथ है ।[1]

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत आत्मा विषयक विचार भी वेदान्त के द्वारा प्रस्तुत विचारों के अनुकूल हैं । उन्होंने कहा कि मनुष्य की आत्मा प्रकृति से शुद्ध, पवित्र एवं दिव्य है । अतः आत्मा को पवित्र व पापी कहना उस परम सत्ता की निन्दा करना है । समस्त हिन्दू सम्प्रदाय परस्पर भिन्नता रखते हुए भी इस विषय को स्वीकार करते हैं कि सभी यदि अन्तर्रहित तथा स्वरूपतः अविनाशी है तथा प्रत्येक आत्मा में पवित्रता, सर्वव्यापकता, आनन्द तथा सर्वज्ञता आदि विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी में चाहे वह दुर्बल हो या शक्तिशाली, छोटा हो या बड़ा सभी में सर्वव्यापी आत्मा विराजमान है । व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा में अन्तर नहीं है बल्कि उसकी बाह्य अभिव्यक्ति में अन्तर है । व्यक्ति अपनी बाह्य व आन्तरिक प्रकृति को नियन्त्रित करके शुभ की प्राप्ति कर सकता है ।[2] स्वामी विवेकानंद जी ईसाईयों की इस धारणा

---

1. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ 408-409
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 25

को अस्वीकार कर देते हैं कि आत्मा स्वभावतः पापी है । वे आत्मा को परमात्मा का एक अंश मानकर निर्दोष मानते हैं । आत्मा में कोई विकार नहीं है । वह असीम, पूर्ण, शाश्वत और सच्चिदानंद है । वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त है । पुनर्जन्म एवं स्वर्गारोहण भी आत्मा का नहीं हो सकता ।[1]

वेदान्त दर्शन के आधार पर ही वे मानते हैं कि - ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं है । वरन् आत्म-विश्वास की मात्रा में अन्तर है । जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य में अन्तर उत्पन्न हो जाता है । जब व्यक्ति को अपनी आत्मा की प्रतिष्ठा का ज्ञान प्राप्त हो जायेगा , तो उसके असीमित, आत्मविश्वास, स्वयं ही उत्पन्न हो जायेगा । तब उसकी दुर्बलता स्वयं ही लुप्त हो जायेगी ।[2] वेदान्त दर्शन में दुर्बलता को मानव का सबसे बड़ा दुर्गुण बताया गया है । इसी विचार को स्वामी जी अपने विभिन्न भाषणों में देश-विदेश की जनता के समक्ष रखते हैं । वे कहते हैं कि - "तुम जो कुछ सोचोगे तुम वही बन जाओगे । यदि तुम अपने आपको दुर्बल समझोगे तो तुम दुर्बल हो जाओगे, वीर्यवान सोचोगे तो वीर्यवान बन जाओगे, यदि अपवित्र समझोगे तो अपवित्र हो जाओगे अपने को शुद्ध समझोगे तो शुद्ध हो जाओगे ।[3]

अतः यह आवश्यक है कि हम अपने आपको कमजोर न समझे । अपने आपको सर्वज्ञ, वीर्यवान सर्वशक्तिमान मानो । यह भाव हम सभी में अन्तर्निहित है। हमारे भीतर सम्पूर्ण जानकारी, शक्तियाँ पूर्ण पवित्रता और स्वाधीनता विद्यमान है ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 98
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 29
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 29

जीव - ब्रह्म मे पारस्परिक अन्तर्निभर्रता होन के कारण उसमे कोई भेद नहीं है ।

स्वामी जी वेदान्त के आधार पर ही स्वीकार करते हैं कि - ईश्वर तो अनन्त है, निर्विशेष सत्ता है - सच्चिदानंद है, निर्विकार है । अमर है, अभय है। इस जगत की व्याख्या करते हुए स्वामी जी मानते हैं । यह विवर्त रूप है । ब्रह्म की लीला मात्र है । ब्रह्म अपने नाना रूपों में देश-काल का निर्माण करता है । किन्तु वह कालातीत है । इसी कारण स्वामी जी मानते हैं कि - विविधताओं को अनन्त काल तक रहने दो यह तो जीवन का सार है । किन्तु हमें विविधताओं के होने पर भी एकत्व को स्वीकार करना है । सभी में ईश्वर अन्तर्निहित है यह स्वीकार करना है । असीम बल को प्रत्येक का गुण स्वीकार करना है और ऊपरी सतह से सभी विरोधाभासों के बावजूद आत्मा की शाश्वत्, अनन्त और तात्विक पवित्रता को स्वीकार करना है ।[1]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण विश्व को हमें यथावत स्वीकार करना होगा, अपना आधार बनाकर उस पर खड़ा होना होगा तथा व्यक्ति के रूप में एवं समाज के रूप में अपने जीवन के प्रत्येक अंग में उसे चरितार्थ करना होगा ।[2] यही भावना वेदान्त में भी पायी जाती है जिससे विवेकानंद जी प्रभावित हुए ।

(4) शंकराचार्यः-

स्वामी विवेकानंद जी अपने विचारों के लिए वेदान्त शिरोमणि शंकराचार्य

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 112
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 113

जी के प्रति भी ऋणी हैं । स्वामी जी अद्वैत-वेदान्त का समर्थन करते हैं । किन्तु वे वेदान्त की द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अन्य व्याख्यानों का भी समर्थन करते हैं । विवेकानंद का तो यही मत था कि अद्वैत-वेदान्त ही वेदान्त की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है । अद्वैत-वेदान्त की परिकल्पना मे जिन स्थलों पर वे शंकराचार्य जी के ऋणी हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

अद्वैत वेदान्त का समर्थक होने के कारण स्वामी विवेकानन्द जी ब्रह्म की निरपेक्ष, निर्विशेष एवं निर्गुण सत्ता को स्वीकार करते हैं । शंकर जिन गुणों से निर्गुण ब्रह्म को अभिहित करते हैं वे हैं - निर्गुण ब्रह्म सत्, परमार्थ सत्य, परमार्थ तत्व इत्यादि है । वह नित्य कूटस्थ, एकमेव, सर्वदा एक रूप भेदरहित और उसके परिणामस्वरूप परिवर्तनरहित पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थिर रहने वाला, ह्रास-बुद्धि रहित होने के कारण अनश्वर अदृश्य अज्ञेय अग्राह्य गुणातीत निस्वयव कर्म से अछूता, असंग पूर्णता शुद्ध शान्त निर्विकार न भला-बुरा न छोटा न बड़ा , वह देश कालाबाधित है । वह महान अज, अविनाशी, अमृत और सब भयो से मुक्त है । वह पाप-पुण्य से परे और कार्य-कारण से रहित है, वह भूत, भविष्य और वर्तमान की सीमा से परे है । वह न बाहर है न भीतर है वह न कारण है और न कार्य । निर्गुण ब्रह्म निर्विशेष होने के कारण अवर्णनीय है ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी ने भी ब्रह्म को सत् माना है । उनके अनुसार भी, "ब्रह्म एक है वह स्वयंभू है । उसका कोई कारण नहीं हैं, न उसमें दिक् है, न काल और न कार्य - कारण वह अनिवर्चनीय व अवर्णनीय है ।[2] स्वामीजी का कहना

---

1. शंकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, पृष्ठ - 4.3.14, 3.216, 3.211 (समस्त विद्वेष रहित)
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 314

है कि एक ही समय में एक से अधिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं रह सकता ।

आचार्य शंकर ने अगम्य होने के कारण ब्रह्म को इन्द्रियादि से अज्ञेय कहा है ब्रह्म को विषयीकृत करने का इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है । ब्रह्म स्वरूप होने एवं विषय-विषयी के भेद से रहित होने का कारण आत्मा स्वयं को उसी प्रकार नहीं जान सकती जिस प्रकार अग्नि स्वयं को जला नहीं सकती ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी ने मनुष्य के यथार्थ स्वरूप का वर्णन इस प्रकार व्यक्त किया है कि मनुष्य अनन्त सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतिभासिक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भाव मात्र है । मनुष्य की प्रकृत स्वरूप-आत्मा, कार्य-कारण से तथा देशकाल से सम्बन्धित होने पर भी मुक्त है । यह कभी बद्ध नहीं थी, नहीं कभी बद्ध हो सकती है । किन्तु जीव प्रतिभासिक, प्रतिबिम्ब स्वरूप होने के कारण बद्ध है । हमारी आत्मा में जो यथार्थ सत्य है, वह यही है कि आत्मा सर्वव्यापी है । अनन्त है, चैतन्य स्वभाव है । प्रत्येक आत्मा अनन्त है । अतः जन्म और मरण का प्रश्न ही नहीं उठता ।[2] स्वामी विवेकानन्द द्वारा यह व्याख्या आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या से काफी मिलती-जुलती है । शंकराचार्य का विचार है कि "शुद्ध आत्म-तत्व पर अविद्या के कारण अनात्मा का तथा देहेन्द्रियान्तः करणादि अनात्म धर्मों का अध्यास होते ही, शुद्ध, साक्षी, चैतन्य जीव या प्रमाता के रूप में प्रतीत होती है । अविद्या के कारण जीव अपने आत्म स्वरूप को भूलकर अनात्म पदार्थों और अनात्म धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करता है ।[3]

---

1. शंकर भाष्य, केन० उप०, पृष्ठ - 1/3
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 10-11
3. भारतीय दर्शन का आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ - 238

इसी प्रकार जीव, जगत, माया, मोक्ष इत्यादि विषयों पर भी स्वामी विवेकानंद द्वारा व्यक्त विचार आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत विचारों के ही अनुकूल हैं । स्वामी जी ने शंकराचार्य की ही भाँति माना है कि "यह जगत सत्य की कोटि में नहीं है, सत्य की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि" जो देश, काल और कार्य-कारण से अविछिन्न हो, वही सत्य है । सत्य कभी भी विषयीभूत नहीं हो सकता । जो भी इन्द्रियादि से गृहीत हो रहा है, वह सत्य नहीं है । जगत देशकालादि का एक समूह ही है ।[1] आचार्य शंकर ने भी जगत को सत्य नहीं माना है । वे एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं ।

माया के सम्बंध में विवेकानंद का विचार है कि विषय और विषयी सभी माया है । वस्तुतः जब तक नामरूप है, जब तक स्वरूप विस्मरण है, तभी तक जीव-जगत की कल्पना है, जब स्वरूपाबोध होकर नाम रूप का लोप हो जायेगा तब जीवादि सत्ता का अनुभव नहीं होगा ।[2] आचार्य शंकर का भी मानना है कि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होने पर माया का लोप हो जाता है ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी की मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा भी आचार्य शंकर के अनुकूल है । स्वामी जी मानते हैं कि - अज्ञानता के नष्ट होने पर स्वतः ही मोक्ष प्राप्त हो जाती है । माया का आवरण हटने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । कोई भी बाहरी कार्य मोक्ष को प्रभावित नहीं कर सकता । मोक्ष न तो संस्कार्य है और न प्राप्य । मोक्ष प्राप्त ही परमावस्था है, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान के बीच का,

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 113
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 362
3. प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन-एम0पी0 श्रीवास्तव, 235

'मैं' और 'तुम' के बीच का भेद समाप्त हो जाता है द्वैत की समाप्ति और अद्वैत की स्थापना होती है । यही परमावस्था है । यह परमावस्था ही मोक्ष है ।[1] आचार्य शंकर की मोक्ष सम्बंधी परिकल्पना के अन्तर्गत भी माया, अध्यास का विनाश होने पर ब्रह्मतत्व की प्राप्ति होती है । ब्रह्मतत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है । शंकराचार्य ने मोक्ष को मृत्यु से भिन्न माना है । जीवित अवस्था में ही ज्ञान की प्राप्ति होने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार मोक्ष के सम्बन्ध में भी स्वामी विवेकानंद और शंकराचार्य के विचारों में समानता पाई जाती है ।

शंकर जगत को माया या भ्रम समझते हैं । जगत ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं । जगत ब्रह्म की प्रतीति मात्र है, विकार या तात्विक परिवर्तन नहीं ब्रह्म कूटस्थ नित्य है अतः उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। माया या अविद्या के कारण ब्रह्म जीव ओर जगत के रूप में प्रतीत होता है । अतः जगत कारणता सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है । शंकराचार्य जी की यह प्रसिद्ध उक्ति कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मयेव नापरः" अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है जगत मिथ्या है और जीव और ब्रह्म एक ही हैं ।[2]

यही भाव स्वामी विवेकानंद जी के विचारों में भी प्राप्त होता है वे कहते हैं कि माया हमें चारों ओर से घेरे हुए है और वह अति भयंकर है फिर भी हमें माया में से होकर ही कार्य करना पड़ता है ।[3] स्वामी विवेकानंद जी भी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म रूप होने के कारण माया जीव को बाध नहीं सकती है । जीव ससीम

---

1. प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन, एम0पी0 श्रीवास्तव, पृष्ठ - 290
2. भारतीय दर्शन का आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ-239
3. चिन्तनीय बातें, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 20

न होकर असीम है । माया के कारण वह अपने आपको सीमा बद्ध समझ लेता है पर वही वास्तव में मुक्त स्वरूप है । वही ब्रह्म है ।[1]

इसी प्रकार स्वामी विवेकानंद जी द्वारा प्रस्तुत मुक्ति विषयक परिकल्पना, ईश्वर सम्बन्धी, परिकल्पना भी शंकराचार्य जी के अद्वैत वेदान्त से अत्यधिक प्रभावित रही है । शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत अद्वैत - दर्शन के सिद्धान्त के आधार पर ही स्वामी विवेकानंद ने आध्यात्मिक क्षेत्र में सार्वभौमिक विचार प्रस्तुत कर विश्व - ब्रह्माण्ड में बहुत्व में एकत्व की स्थापना का प्रयास किया है ।

रामानुजाचार्य का प्रभावः-

स्वामी जी अपने भक्ति सम्बन्धी विचारों के लिये रामानुज के ऋणी हैं । भक्ति योग के उपायों तथा साधनों के संबंध में रामानुज वेदान्त सूत्रों का भाष्य करते हुए कहते हैं कि, "भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोक (दमन) अभ्यास क्रिया (यज्ञादि), कल्याण (पवित्रता), अनवसाद (बल) और अनुद्धर्ष (उल्लास के विरोध) से होती है ।[2] रामानुज के समान विवेकानन्द ने भी भक्ति के सात साधन बतलाये हैं । वे हैं, "विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष ।[3]

रामानुज ने माना है कि पराभक्ति, भक्ति की दूसरी अवस्था है । इसमें साधन भक्ति से शुद्ध हुए मन के द्वारा भक्त भगवान का दर्शन प्राप्त कर लेता है।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (खण्ड द्वितीय), पृष्ठ - 63
2. विवेकानंद साहित्य,(चतुर्थ खण्ड) पृष्ठ - 38
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 78

यद्यपि दर्शन अल्पकालिक होता है, तथापि उसकी स्पष्टता या पूर्णता में कोई कमी नहीं होती । भगवत्साक्षात्कार के फलस्वरूप भक्त अपने को भगवान का अंशभूत जान लेता है और भगवान को अपनी अन्तर्रात्मा के रूप में प्रत्यक्ष करता है । भगवान को अपनी आत्मा के रूप में देखकर साधक एकनिष्ठ हो जाता है । ईश्वर के प्रति उसे अविचल श्रद्धा, अडिग निष्ठा एवं अनन्य प्रेम की प्राप्ति हो जाती है । ईश्वर के अतिरिक्त अन्य आकर्षण उसे लुभा नहीं पाते और साधक अहर्निश भगवान के स्वरूप चिन्तन में ही मस्त रहता है ।[1]

स्वामी जी ने पराभक्ति सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन रामानुज के समान किया है । उनके अनुसार एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार एक अविछिन्न धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार जब मन भगवान के सतत् चिन्तन में लग जाता है तो पराभक्ति की प्राप्ति हो जाती है ।[2] भगवान के प्रति अविच्छिन्न आसक्ति के साथ हृदय और मन का इस प्रकार अविरत और नित्य स्थिर भाव ही मनुष्य के हृदय में भगवत्प्रेम का सर्वोच्च प्रकाश है --- जब इस प्रकार का अपार अनुराग मनुष्य के हृदय में भगवत्प्रेम का उत्पन्न हो जाता है तो उसका मन निरन्तर भगवान के स्मरण में ही लगा रहता है और उसे किसी का ध्यान ही नहीं रहता । भगवान के अतिरिक्त वह अपने मन में अन्य विचारों को स्थान तक नहीं देता ।[3]

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ0 नन्द किशोर देवराज, पृष्ठ - 581
2. विवेकानन्द साहित्य, (चतुर्थ खण्ड,) पृष्ठ - 59
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 100

रामानुज के समान स्वामी विवेकानंद जी ने शरणागति को श्रेष्ठ स्थिति माना है । क्योंकि इस परम शरणागति की अवस्था में सब प्रकार की आसक्ति समूल नष्ट हो जाती है और एक मात्र ईश्वर के प्रति प्रेम ही शेष रह जाता है । ईश्वर के प्रति प्रेम ही मनुष्य को अर्थात् जीवात्मा को नहीं बाँधता बल्कि उसके समस्त बन्धन सार्थक रूप से नष्ट कर देता है ।[1]

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों पर रामानुज का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है । विशेषकर भक्ति सम्बंधी विचारों में द्वैतवाद की छाया स्वामी जी के विचारों पर दिखाई देती है । स्वामी जी ने स्वीकार किया कि "भक्ति का प्रारम्भ द्वैत से ही होता है । किन्तु आगे चलकर परमावस्था में पहुँचकर भक्त एवं भगवान में कोई अन्तर नहीं रह जाता । द्वैत के द्वारा अद्वैत को प्राप्त किया जा सकता है ।"[2]

इस प्रकार स्वाध्याय द्वारा अर्जित ज्ञान ने उनके विचारों को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में ढ़ाल दिया । जिसका प्रभाव उनके जीवन पर अंत तक देखा जा सकता है ।

द्वितीय-स्रोतः-

"स्कूल व कॉलेज से प्राप्त औपचारिक शिक्षा":-

युवावस्था में नरेन्द्र ने स्कूल व कॉलेज में विधिवत् रूप से शिक्षा प्राप्त

---

1. विवेकानन्द चरित, श्री सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ - 85-86
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 100

की थी । तत्कालीन सामाजिक वातावरण पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित हो रहा था । शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी सरकार द्वारा किये गए परिवर्तन के आधार पर पाश्चात्य संस्कृति का विस्तार किया जा रहा था । अतः नरेन्द्र ने भी समयानुसार पाश्चात्य संस्कृति को अपनाया ।

कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करते समय नरेन्द्र को व्हिटले, जेम्समिल, कॉन्ट, शोपेनहॉवर, आग्स्ट कॉम्टे तथा जॉन स्टुअर्टमिल के विचारों को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था । अरस्तू के विचारों से तो वे इस हद तक प्रभावित हो गए कि गणित-ज्योतिषी (अॅस्ट्रॉनॉमी) में भी उनकी रूचि हो गयी । उन्होंने अनेक लेखकों के न्यायशास्त्र पर लिखी गई टीकाओं और विभिन्न ग्रन्थों का भी अध्ययन किया था ।[1]

परम प्रतापी सम्राट नेपोलियन की वीरता ने भी उन्हें प्रभावित किया था। वे स्वीकार करते हैं कि एक सम्राट को नेपोलियन की भाँति महत्वाकांक्षी भी होना चाहिए किन्तु इस महत्वाकांक्षा में उचित-अनुचित का ध्यान रखना भी आवश्यक है ।[2]

भाषा एवं भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से काव्य-जगत में वे वर्ड्सवर्थ से प्रभावित हुए । शैली की रचनाओं का जहाँ उन्होंने गम्भीरता से अनुशीलन किया वहीं हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा प्रस्तुत राज्य के सावयवी - सिद्धान्त की व्याख्या और व्यक्तिगत स्वतंत्रता सम्बंधी विचारों ने उनके राजनीतिक विचारों को पृष्ठभूमि प्रदान की ।[3]

---

1. युगनायक विवेकानंद, (प्रथम खण्ड), स्वामी गम्भीरानंद, पृष्ठ - 69
2. युगनायक विवेकानंद, (प्रथम खण्ड), स्वामी गम्भीरानंद, पृष्ठ - 69
3. भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन, ओम प्रकाश वर्मा, पृष्ठ - 170

नरेन्द्र सभी विषयों में आजीवन आदर्शवादी थे । इस दृष्टि से अपनी बुद्धि को पाठ्यपुस्तकों में ही सीमित न रखकर वे अपनी जिज्ञासा भावना को और भी काफी दूर तक विचरण करने दिया करते थे । अपनी बुद्धि उत्कर्ष के साथ-साथ वे घोर तार्किक हो गए थे ।

नरेन्द्र के विचारों पर डार्विन के विकासवाद का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि अपने सामाजिक विचारों में वे सामाजिक संस्थाओं के रूढ़ियों में आबद्ध न रह जाने तथा विकास के सिद्धान्त को अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु उन्होंने डार्विन द्वारा प्रस्तुत विचारों को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया । डार्विन ने कहा कि जीव-विकास का यह नियम है कि सबल-निर्बल पर विजय हासिल करता है और शक्तिशाली ही जीवित रहता है ।[1] किन्तु स्वामी विवेकानंद ने इस विचार को आगे चलकर दूसरे रूप में प्रस्तुत किया वे कहते हैं कि मनुष्य ज्यों-ज्यों उन्नत होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें बुद्धि का विकास भी होता जाता है । इसीलिये मनुष्येत्तर प्राणि-जगत की तरह बुद्धियुक्त मनुष्य जगत में दूसरों का नाश करके उन्नति नहीं हो सकती । मानव का सर्वश्रेष्ठ पूर्ण विकास एकमात्र त्याग के द्वारा ही सम्पन्न होता है । जो दूसरों के लिए जितना त्याग कर सके, मनुष्यों में वह उतना ही बड़ा है, जबकि मनुष्येत्तर प्राणियों में जो जितना ध्वंस कर सकता है । वह उतना ही अधिक बलवान समझा जाता है ।[2]

अतः जीवन-संघर्ष का तत्व इन दोनों क्षेत्रों में एक सा उपयोगी नहीं हो सकता । मनुष्य का संघर्ष मन में है । जो जितना मन को वश में कर सकता है वह उतना अधिक बड़ा है । मन के सम्पूर्ण रूप से वृत्तिविहीन बनने से आत्मा का विकास होता है ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 117
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 117

डार्विन के विकासवाद से प्रभावित होकर ही स्वामी विवेकानंद जी ने शारीरिक - उन्नति करने के लिए बार-बार बल दिया । वे मानते हैं कि पहले शरीर को सुगठित करने की आवश्यकता है । फिर मन पर धीरे-धीरे अधिकार प्राप्त होगा । निर्बल के द्वारा यह आत्म-तत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता । जो लोग शरीर से दुर्बल है । वे आत्म साक्षात्कार के अयोग्य हैं । क्षीण व्यक्ति काम व क्रोधाग्नि के वेग को संभाल नहीं सकता । शरीर में जरा सा भी दोष रहने पर जीव सिद्ध नहीं हो सकता ।[1]

पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान की सहायता से विवेकानंद जी को स्पष्ट प्रतीत होने लगा था कि इन्द्रिय तथा मस्तिष्क का आक्षेप या उत्तेजना, मानव-मन में प्रतिक्षण विविध विकार लाकर, उसमें सुख-दुखादि का ज्ञान उपस्थित कर रहा है । मनुष्य इस प्रकार के मानसिक विकार का देश - काल आदि की सहायता से प्रत्यक्ष अनुभव तो करता है, परन्तु बर्हिजगत और उसके भीतर के जो पदार्थ इस उत्तेजना एवं विकार को उसके हृदय में उत्पन्न कर रहे हैं । उनका यथार्थ स्वरूप उसके लिए सदैव अज्ञेय ही रह जाता है । यही बात अन्तर्जगत या मनुष्य के निज स्वरूप के विषय में भी है ।[2]

पाश्चात्य दर्शन व विज्ञान के अतिरिक्त अनेक और भी स्रोत थे जिनसे प्रभावित हुए बिना नरेन्द्र नहीं रह सके । उन्हें विविध प्रतिभाओं और परस्पर विरोधी प्रेरणाओं के कारण कई वर्षों तक आध्यात्मिक संघर्ष में बिताना पड़ा । सत्रह वर्ष से

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 118
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 162

इक्कीस वर्ष की अवस्था तक उग्रतर स्वभाव का होते हुए भी उन्हें कई बौद्धिक संकटों का सामना करना पड़ा । पाश्चात्य विचारक स्टुअर्ट मिल की रचना 'एसेज ऑन रिलिजन' के प्रभाव से उनकी सतही आशावादी आस्तिकता जीर्ण हो गई । इस पुस्तक से प्रभावित होकर प्रकृति में असद् का चेहरा उनके सम्मुख प्रकट हुआ । उनके मन में प्रकृति के इस स्वरूप के प्रति विद्रोह प्रकट हुआ ।[1]

स्वामी विवेकानद जी अद्वैतवादी दर्शन के समर्थक थे । राज्य के आदर्शवादी स्वरूप की पूरी शिक्षा उन्होंने प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगेल से प्राप्त की थी। इसी प्रकार हीगेल के द्वन्दवाद के आधार पर वे सामाजिक जीवन मे संघर्ष की व्याख्या करते हैं ।[2]

फ्रांसीसी क्रांति के त्रि-तत्व स्वाधीनता, समता और बन्धुत्व का सिद्धान्त स्वामी विवेकानंद के राजनीतिक विचारों का मुख्य आधार है । उनका मानना है कि व्यक्तिवाद का सिद्धान्त ही 'असद्' है । विश्वव्यापी ही 'सद्' है । अपने राष्ट्रवादी, अन्तर्राष्ट्रवादी तथा सार्वभौमिक विचारों का आधार उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति से ही प्राप्त किया था ।

कार्ल मार्क्स की रचनाओं से प्रभावित होकर ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर विवेकानंद जी ने भी समाज के क्रमिक विकास की व्याख्या प्रस्तुत की है । विवेकानंद जी वर्ग-संघर्ष का वर्णन मार्क्स की ही भाँति सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करते हैं । वे कहते हैं कि सत्य रज, आदि गुणों के तारतम्य से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण उत्पन्न होते हैं । ये चारों वर्ण अनादि काल से सभी सभ्य

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 38
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 38

समाजों में विद्यमान हैं ।[1] प्राकृतिक नियमों से आबद्ध चारों वर्ण क्रम से पृथ्वी का भोग करेंगे । विवेकानंद जिसे वैश्य कहते हैं उसे मार्क्सवादी शब्दावली मे 'पूँजीवादी वर्ग' कहा जाता है । वस्तुतः वैश्यों के उदय का जो वर्णन उन्होंने किया है उसे यूरोप में पूंजीवादी वर्ग के उदय का वर्णन माना जा सकता है । मार्क्स की भाँति विवेकानंद जी भी स्वीकार करते हैं कि आने वाले समय मे श्रमिक वर्ग का (शूद्रों का) शासन होगा ।[2]

पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार होने के कारण 18 वीं शताब्दी का भारतीय समाज प्रवाहहीन हो रहा था । राजनीतिक अस्थिरता के कारण परम्परागत शिक्षा प्रणाली की बहुत हानि हुई थी । अंग्रेज पश्चिम के सन्देश वाहक थे । कभी अनजाने में, कभी जोश से, कभी अनिच्छा तथा विरोध से, वे भारत में पश्चिम प्रभाव के वाहक बने । उन्होंने भारत में रचनात्मक प्रभाव का सृजन किया ।[3] जिससे स्वामी विवेकानंद जी भी प्रभावित हुए । अंग्रेजों ने भारत को मुगलों के मध्य युग से आधुनिक संसार के विज्ञान तथा मानवतावाद में प्रवेश करने के लिए एक सेतु का निर्माण किया था इस सेतु को पार करके ही विवेकानंद ने अपने मानवतावादी विचारों का सृजन किया था । पाश्चात्य विचारक विक्टर ह्यूगो की यह पंक्ति कि हम मनुष्य नहीं वरन् मनुष्यत्व के प्रत्याशी हैं । इस पंक्ति से स्वामी विवेकानंद जी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने मानवतावाद की इस भावना का पूर्ण समर्थन किया ।

---

1. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 25
2. स्वामी विवेकानंद एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 279
3. ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पर्सिवल स्पीयर, पृष्ठ - 6-7

भारत में सरकार की व्यवस्था, सत्ता की नींव और उसे संभाले रखने के लिए सरकार के कार्य - कलापों को चलने के तोर-तरीके यूरोप में अपनाए गए तौर-तरीकों से बिल्कुल भिन्न थे । इन तौर-तरीकों के अन्तर्गत अंग्रेजों ने भारत में नागरिक-सेवा, सेना, न्यायिक संगठन (दीवानी और फौजदारी कचेहरियों) की स्थापना की ।[1]

अधिनियम तथा पुराने कानूनों को संहिताबद्ध करने की प्रक्रियाओं को संहिताबद्ध करने की प्रक्रियाओं के द्वारा अंग्रेजों ने कानूनों की एक नई प्रणाली स्थापित की । भारत में न्याय की परम्परागत प्रणाली मुख्य रूप से प्रचलित कानून पर आधारित थी । जो लम्बी परम्परा और रिवाज से निकली थी यद्यपि अनेक कानून शास्त्रों और शरियत तथा शाही फ़रमानों पर आधारित थे । अंग्रेज आमतौर से प्रचलित कानूनों को लागू करते रहे तथापि उन्होंने धीरे-धीरे कानूनों की एक नयी प्रणाली विकसित की। उन्होंने रेगुलेशन लागू किए, तत्कालीन कानूनों को संहिताबद्ध किया और आधुनिक बनाया । 1833 में लार्ड मैकाले के नेतृत्व में भारतीय कानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए एक विधि आयोग की स्थापना की गई ।[2]

कानूनों के संहिताबद्ध होने से देश में (रूल्स ऑफ लॉ) कानून का शासन या विधि शासन की आधुनिक अवधारणा लागू हुई । इसका तात्पर्य था कि अंग्रेजी प्रशासन कम से कम सैद्धान्तिक रूप में कानूनों के अनुसार चलाया जाएगा, न कि शासक की सनक या व्यैक्तिक इच्छा के अनुसार । कानूनों ने प्रजा के अधिकारों, विशेषाधिकारों और जिम्मेदारियों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया था । कानून का शासन कुछ हद तक व्यक्ति की व्यैक्तिक स्वतंत्रता की गारन्टी था । कानून के सम्मुख सभी

---

1. आधुनिक भारत, विपिन चन्द्रपाल, पृष्ठ - 89-90
2. आधुनिक भारत, विपिन चन्द्रपाल, पृष्ठ - 91

समान है ।[1] इस अवधारणा के लागू होने से सामाजिक वातावरण में परिवर्तन आया स्वामी विवेकानंद जी इस बदलती हुई सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणा से भी प्रभावित हुए ।

अंग्रेजों ने अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक नीति के अन्तर्गत देश के धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में गैर-हस्तक्षेप की नीति अपनाई । विज्ञान और टैक्नोलॉजी ने भी मानवीय प्रगति की नई प्रत्याशाएँ उत्पन्न कर दीं । समाज में नवीन चिन्तन का विस्तार हुआ जिसकी मुख्य तीन विशेषताएँ थीं - विवेकशीलता या तर्क और विज्ञान में विश्वास, मानवतावाद या मनुष्य के प्रति प्रेम । इस प्रकार इस नवीन अवधारणा ने समाज में व्यक्तिवाद, उदरतावाद और समाजवाद के सिद्धान्तों को जन्म दिया । इस समय यूरोपीय चिन्तन से जब पुराने भारतीय दृष्टिकोण में टकराहट हुई तो देश का सामाजिक सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि प्रत्येक क्षेत्र का वातावरण प्रभावित हुआ जिसने स्वामी विवेकानंद के विचारों को आधुनिकता प्रदान की ।

राजाराम मोहन राय के नेतृत्व में उस समय के अधिकांश प्रगतिशील भारतीयों ने जोरदार ढंग से पाश्चात्य ज्ञान के अध्ययन की वकालत की । वे पाश्चात्य ज्ञान को "आधुनिक पश्चिम के वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक चिन्तन" के खजाने की "कुंजी" के रूप में देखते थे । उन्होंने यह भी माना कि "परम्परागत शिक्षा ने अंध विश्वास, डर और सत्तावाद को जन्म दिया है । देश की मुक्ति आगे बढ़ने में है न कि पीछे हटने में । वस्तुत: उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के किसी भी प्रमुख भारतीय ने इस दृष्टिकोण को कभी नहीं छोड़ा । इसके अतिरिक्त आधुनिक इतिहास के सम्पूर्ण काल में पाश्चात्य ज्ञान को ग्रहण करने के लिये उत्सुक भारतीयों ने सरकार पर दबाव डाला कि वह आधुनिक ढर्रे पर अपनी शैक्षणिक गतिविधियों का प्रसार

---

1. आधुनिक भारत का इतिहास, रामलखन शुक्ल, पृष्ठ - 507

करें ।[1]

अतः बदलते हुए इस शैक्षिक वातावरण से स्वामी विवेकानंद जी भी प्रभावित हुए । स्वामी विवेकानंद के विचारों का पोषण यूरोपीय विचारों के आधार पर हुआ था । स्वामी विवेकानंद जी के विचारों पर अपने समय में चल रहे समाज सुधार आन्दोलन का भी प्रभाव पड़ा था । 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाज-सुधार दो दिशाओं में हो रहा था । एक दिशा का नेतृत्व राजाराम मोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्म समाज के द्वारा किया जा रहा था और दूसरी दिशा का नेतृत्व स्वामी दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में आर्य-समाज के द्वारा किया जा रहा था ।[2] स्वामी विवेकानंद जी प्रारम्भ में ब्रह्म समाज में आया-जाया करते थे । यहीं पर वे केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सम्पर्क में आये ।

वे उस समय के अन्य सभी युवा बंगाली-बौद्धिकों की भाँति केशवचन्द्र सेन शुभ्र प्रकाश की ओर आकृष्ट थे । उस समय केशव की प्रतिभा अपने शिखर पर थी और नरेन्द्र को उनसे ईर्ष्या भी होती थी । वे नव ब्रह्म समाज के सदस्य भी थे । उस समय ब्रह्म समाजियों के द्वारा ईसाई-धर्म के पक्ष में व्याख्यान दिये जाते थे और वे हिन्दू-धर्म पर आघात करते थे । नरेन्द्र की स्वतंत्र और सप्राण बुद्धि ने यह भली-भाँति समझ लिया कि इस प्रकार की संकीर्णता और मदान्धता भारत की आत्मा के लिए कष्टकर होगी । पश्चिमी विज्ञान के सम्मुख भारतीय ज्ञान को पदच्युत करने के पक्ष में वे नहीं थे । ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के सामाजिक सुधारों के कार्यक्रम से प्रभावित होकर उन्होंने बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार पर जोर दिया यह कहना अनुचित न होगा कि समाज सुधार आन्दोलन से प्रभावित होकर ही उन्होंने समाज सुधार का कार्य आरम्भ किया था ।[3]

---

1. आधुनिक भारत, विपिन चन्द्र पाल, पृष्ठ - 97
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 39
3. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 39

तृतीय - स्रोतः-

श्री रामकृष्ण देव से प्राप्त आध्यात्मिक प्रशिक्षणः-

विवेकानंद जी ने अति अल्पावस्था में ही अपनी सरलता एवं निष्कपटता, महान चरित्र, सर्वभूतानुकम्पा कठोर, साधन, आचरण और ज्ञानोपदेश की चेष्टा द्वारा समस्त संसार में अक्षपयश लाभ किया । नरेन्द्र के चरित्र पर श्री रामकृष्ण देव की आध्यात्मिक शिक्षा का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था । श्री रामकृष्ण देव के सानिध्य में रहकर ही नरेन्द्र विवेकानंद बने थे । विवेकानंद ने स्वयं अपने विषय में कहा कि "बीस वर्ष की अवस्था तक मैं अत्यधिक असहिष्णु था और कट्टर था । कलकत्ते में सड़कों के जिस किनारे पर थियेटर हैं, मैं उस ओर के पैदल मार्ग पर से भी नहीं चलता था । किन्तु अब बत्तीस वर्ष की अवस्था में रामकृष्ण देव के प्रभाव से मेरी बुद्धि इतनी परिवर्तित हो चुकी है कि मैं वेश्याओं के साथ एक ही मकान में ठहर सकता हूँ । उनके तिरस्कार का एक भी शब्द कहने का विचार भी मेरे मन में नहीं आयेगा ।[1]

गुरूदेव के सानिध्य में रहकर विवेकानंद में नास्तिकता का विलोप हुआ और सगुण देव उपासना की भावना उत्पन्न हुई । विवेकानंद जी ने एक स्थल पर इस विषय में कहा कि - "प्रारम्भ में गुप्त रूप से कोई कार्य करना मेरे स्वभाव के विरूद्ध था । मेरे मन में धीरे-धीरे यह भावना विकसित होने लगी थी कि - ईश्वर नहीं है । यदि हो भी तो उन्हें पुकारने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उससे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती । श्री रामकृष्ण देव के प्रभाव से मेरी इस सोच में परिवर्तन आया ।[2] मेरी विपन्नता की स्थिति में उन्होंने दैवी सहायता से मेरी निर्धनता

---

1. विवेकानंद साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ - 353
2. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 176

दूर कर मेरे हृदय में सगुण पूजा के प्रति आसक्ति जगा दी । यहीं से मेरे हृदय में मूर्ति-पूजा के प्रति आस्था जागृति हुई ।[1]

श्री रामकृष्ण देव साधन और साध्य की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास करते थे । उनका कहना था कि ईश्वर का दर्शन करना ही साध्य है उसे प्राप्त करने का साधन है "ध्यान-चिन्तन" । व्याकुल होकर प्रार्थना करनी चाहिये कि "हे प्रभु । मुझे दर्शन दो ।" इसके लिये चित्त की शुद्धता आवश्यक है । यह ही पवित्र साधन है ।[2] श्री रामकृष्ण देव द्वारा बतलाये गए मार्ग पर चलकर ही विवेकानंद ने आध्यात्मिक उपलब्धियों को प्राप्त किया था । विवेकानंद के शब्दों में "पवित्रता ही सभी धर्मों की ओर नीति की आधार-शिला है ।[3] विवेकानंद जी पवित्रता और नैतिकता को धर्म का विषय मानते हैं । पवित्र और सदाचारी व्यक्ति स्वयं अपने आप पर नियंत्रण रखता है । हमें साधन और साध्य दोनों के प्रति सावधान रहना चाहिये । जीवन में असफलताओं का सबसे प्रमुख कारण है "हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना ।[4] विवेकानंद जी कार्य कारणवाद का सहारा लेकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी इसी तथ्य को समझाते हैं । इसी परिपेक्ष्य में वे आगे कहते हैं कि- "हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिये फिर यदि हम ध्येय को लगभग छोड़ सकते हैं क्योंकि हम विश्वस्त है कि यदि साधन पूर्ण है तो साध्य तो प्राप्त होगा ही ।[5]

श्री रामकृष्ण देव जी आत्मा को एक वृत्त के समान मानते हैं जिसका केन्द्र एक बिन्दु पर है । किन्तु जिसकी कोई परिधि नहीं है । जहाँ शरीर होता

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 181
2. श्री रामकृष्ण कथामृत, (प्रथम खण्ड), श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, पृष्ठ - 585
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 189
4. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 174
5. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 175

है, वहाँ केन्द्र होता है । वहीं कार्य की अभिव्यक्ति होती है । हम सर्वव्यापक है। किन्तु हमारी चेतना केवल एक केन्द्र बिन्दु पर ही केन्द्रीभूत होने की रहती है इस बिन्दु के पदार्थ के अणुओं को धारण कर अपनी अभिव्यक्ति के लिये उनको एक यंत्र के रूप में बना रखा है । जिसके द्वारा वह अपने को अभिव्यक्त करता है, उसे शरीर कहते हैं ।[1] यही विचार अपनाकर स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि आत्मा सर्वव्यापक है । इसकी न लम्बाई है और न मोटाई इसमें कोई भौतिक गुण की भी नहीं है । यह देश काल से सीमित नहीं है ।[2] स्वामी विवेकानंद के आत्मा सम्बन्धी विचार श्री रामकृष्ण देव द्वारा व्यक्त आत्मा सम्बंधी विचारों से मिलते-जुलते हैं ।

इसी प्रकार ईश्वर, जीव-जगत, मुक्ति इत्यादि विषयों पर व्यक्त श्री रामकृष्ण देव के विचारों का प्रभाव स्वामी विवेकानंद के विचारों पर पड़ा ।

श्री रामकृष्ण देव की सर्व-धर्म समभाव की परिकल्पना ने विवेकानंद को विशेष रूप से प्रभावित किया था । यही कारण है कि गुरूदेव के इस स्वप्न को साकार करने के लिये विवेकानंद ने सभी को उपदेश दिया । उन्होंने कहा कि विभिन्न सम्प्रदायों में मौलिक गुणों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न रूपों मे, है । किन्तु सभी में एक सामान्य आधार है जैसे शीलता, वाणी संयम और नैतिकता ।[3] उन्होंने विभिन्न मतवादों की दोषान्वेषण की प्रवृत्ति का विरोध किया । उनकी स्वतत्र और सप्राण बुद्धि ने यह शीघ्र ही पहचान लिया था कि यह धर्मान्धता और संकीर्णता की भावना न केवल राष्ट्रीय अभिमान के लिये वरन् उनकी आत्मा के लिये भी कष्टकर

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (तृतीय खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 259
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 118
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 195

होगी ।[1] अतः सभी धर्मों और मतों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता है । तभी सर्व-धर्म समभाव की स्थापना हो सकती है ।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद के विचारों के प्रमुख स्रोत के रूप में श्री रामकृष्ण देव द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक प्रशिक्षण की विशिष्ट भूमिका है । इस शिक्षा ने विवेकानंद के जीवन - विचार व उद्देश्य को एक नवीन व अनूठी दिशा प्रदान की ।

चतुर्थ - स्रोतः-

"परिव्राजक सन्यासी के रूप में प्राप्त अनुभव":-

श्री रामकृष्ण देव के समाधिस्थ होने पर रामकृष्ण संघ की स्थापना करने के बाद विवेकानंद का मन देश-भ्रमण के लिए व्याकुल रहने लगा उन्होंने उत्तर से दक्षिण तक भारत की परिक्रमा की । उनके अभियान का मूल उद्देश्य था । भारत के गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में भ्रमण कर स्वामी जी ने जन साधारण की सामाजिक व आर्थिक दुर्गति का गम्भीर सहानुभूति के साथ निरीक्षण किया । भारतीय दुर्दशा का अनुभव करते हुए उन्हें इस बात का अनुमान लग गया था कि समाज के गरीब, पद्दलित और बेसहारा लोगों की मदद - राजा, 'महराजा धनी व उच्च वंशियों द्वारा किसी भी प्रकार से नहीं हो सकेगी ।[2]

स्वामी जी का विश्वास है कि दाता के आसन पर बैठकर केवल दूर से ही पाश्चात्य लोक हितवाद के आधार पर स्कूल, कॉलेज व अस्पतालों की स्थापना

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 39
2. भारत में विवेकानंद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 18

कर देने से जनसाधारण की उन्नति नहीं हो जायेगी । भारत को उद्धारकर्ता की नहीं अन्नदाता की आवश्यकता है ।[1]

जनसाधारण के बीच श्रद्धा के साथ कर्म करने के लिये दृढ़ हृदय कर्मियों की आवश्यकता है । वे भारत की सेवा के लिए चरित्रवान, हृदयवान व बुद्धिमान युवकों का आह्वान करते हैं ।[2] भारत के दरिद्र, भारत के पतित व भारत के पापियों की सहायता करने वाला कोई मित्र नहीं । राक्षसों का निर्दयी समाज उनपर लगातार जो आघात करता आ रहा है उसकी वेदना का अनुभव वे भली-भाँति कर रहे हैं, परन्तु वे नहीं जानते कि कहाँ से आघात आ रहा है वे यह भी भूल गए हैं कि वे मनुष्य हैं, और इसका परिणाम है - दासत्व व पशुत्व ।'[3] समाज की इसी हीन अवस्था के प्रतिकार के लिए स्वामी जी चाहते थे कि "लाखों नर-नारी पवित्रता के अग्निमंत्र से दीक्षित होकर, भगवान में दृढ़-विश्वास रूपी कवच को धारण कर दरिद्र, पतित व पददलितों के प्रति सहानुभूति से उत्पन्न सिंह-विक्रम के साथ कमर कसकर समस्त भारत का भ्रमण करें तथा मुक्ति, सेवा और समाज की उन्नति व मंगलमय संदेश का घर-घर प्रचार करें ।[4]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद को आम जनता पर हो रहे धनिकों, जमींदारों तथा बुद्धिजीवी अभिजात वर्गों द्वारा हो रहे विविध प्रकार के शोषणों की पूरी जानकारी

---

1. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 321
2. युग प्रवर्तक स्वामी विवेकानंद, अपूर्वानन्द स्वामी, पृष्ठ - 30
3. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 321
4. योद्धा-सन्यासी विवेकानंद, रहबर हंसराज, पृष्ठ - 38

थी । इसी कारण उन्होंने 1897 ई0 मद्रास में दिये गए अपने एक व्याख्यान में कहा कि "हर एक अभिजात वर्ग का कर्त्तव्य है कि अपने कुलीन-तंत्र की कब्र वह अपने आप ही खोदे और जितना शीघ्र इसे कर सके उतना ही अच्छा है ।[1] यहाँ के किसान, कोरी, जुलाहे जो भारत के नगण्य मनुष्य हैं, वे सदैव से शोषण को सहते आ रहे हैं । इन सभी मनुष्यों को जगाने के लिए स्वामी विवेकानंद जी ने सुदूर दक्षिण में अवस्थित कोलम्बो (श्रीलंका) से लेकर सुदूर उत्तर में अवस्थित अल्मोड़ा (हिमालय) तक भ्रमण किया उनका मुख्य उद्देश्य था भारतीय जनमानस को जगाना और आधुनिक युग की सुविधाओं का उपयोग कर, वर्तमान काल की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम एक वास्तविक मानवतावादी समाज व्यवस्था का गठन करना ।[2]

इस प्रकार एक परिव्राजक सन्यासी के रूप में सम्पूर्ण भारत की जनता को ठीक से समझने का उन्हें जो अवसर प्राप्त हुआ, उसके प्रभाव से उनके जीवन में एक नवीन व्यावहारिक दर्शन का सृजन हुआ । विवेकानंद की रचनात्मक प्रतिभा को संक्षेप में संतुलन और समन्वय, इन दो शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है । उन्होंने सम्पूर्णतः चारों योगों को, त्याग व सेवा को, कला व विज्ञान को, धर्म व कर्मठता को, अत्यन्त आध्यात्मिक से लेकर अतीव व्यावहारिक तक आत्मानुभूति के सभी पंथों को अपने जीवन में उतारा था । वे सम्पूर्ण मानसिक शक्तियों के मूर्तिमान समन्वय थे । स्वामी जी गम्भीर भाव से कहते थे कि "जब तक मेरी जन्म भूमि का एक कुत्ता भी भूखा रहेगा, तब तक उसे आहार देना ही मेरा धर्म है । इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी है - वह अधर्म है ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 189
2. स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद, स्वामी रंगनाथानन्द, पृष्ठ - 35
3. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 488

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी के विचारों के प्रमुख स्रोतों के रूप में पारिवारिक जनों, पाश्चातय शिक्षा, भारतीय धर्म-दर्शन, तत्कालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश, उनके परिव्राजक सन्यासी जीवन से प्राप्त अनुभवों सहित अनेक अन्य औपचारिक और अनौपचारिक प्रभावों का उल्लेख किया जा सकता है । जिसके परिणाम स्वरूप न केवल भारत के समक्ष वरन् सम्पूर्ण विश्व के समक्ष एक ऐसा विचार-दर्शन सामने आया जिसकी प्रासंगिकता चिर-काल तक बनी रहेगी ।

*****

पंचम - अध्याय

स्वामी विवेकानंद के सामाजिक विचार

भारत में अंग्रेजी राज के दो सौ वर्षों के शासनकाल में अराजकता एवं अव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित हो गया था । देश में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक अनेकों समस्यायें विद्यमान थीं । मुगल साम्राज्य के अन्त के दिनों से ही विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया था । इतिहास से पता चलता है कि ईसा की 18वीं सदी और 19वीं सदी के प्रारम्भ में जितनी लड़ाइयाँ और जितना रक्तपात भारत में हुआ उससे अधिक यूरोप में हुआ । मराठे, राजपूत और मुसलमान नरेश भी अपनी प्रजा की आवश्यकताओं को पूरा करते थे ।[1] प्रायः समस्त अंग्रेज लेखक स्वीकार करते हैं कि ब्रिटिश भारत में भारतीय प्रजा के जानमाल की कोई रक्षा नहीं की जाती थी । निःसन्देह अराजकता और कुशासन अंग्रेजों के आने के पहले भारत में मौजूद न थे । इतिहास साक्षी है कि अंग्रेजों के समय से ही भारत में शान्ति और समृद्धि दोनों का खात्मा हुआ ।[2]

तत्कालीन भारतीय समाज की दशा का वर्णन स्वामी विवेकानंद जी ने इन शब्दों में किया है - फिर से एकबार अव्यवस्था का युग आ गया । मुगल साम्राज्य एवं उसके विध्वंसक, तब तक - शांतिप्रिय रहने वाले विदेशी व्यापारी फ्रांसीसी और अंग्रेजों में इस समय पारस्परिक लड़ाई, लूटमार, मारकाट आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ । अंग्रेजों के शासन काल में आधी शताब्दी तक शान्ति-व्यवस्था एवं विधान कायम रहा । समय ही इस बात का साक्षी होगा कि यह व्यवस्था प्रगति की थी या नहीं। अंग्रेजों के राज-काल में कुछ धार्मिक आन्दोलन हुए । इस समय सामाजिक असमानता बहुत अधिक थी । गोरे शासकों का समर्थन प्राप्त करना ही हिन्दू सम्प्रदायों का

---

1. भारत में अंग्रेजी राज, (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दरलाल, पृष्ठ - 829
2. भारत में अंग्रेजी राज, (द्वितीय खण्ड), डॉ0 सुन्दरलाल, पृष्ठ - 830

महान लक्ष्य था । इन सम्प्रदायों की स्थिति भी कुकुरमुत्तों की ही भांति थी । विशाल भारतीय जनता धार्मिक क्षेत्र में इन सम्प्रदायों से अलग रहती थी । समाज में परिवर्तन की कोई सम्भावना भी नहीं थी ।[1]

देश में समस्याओं का एक विस्तृत साम्राज्य व्याप्त था । हिन्दोस्तानी और अंग्रेजी सिपाहियों के बीच अंग्रेजों का पक्षपात का दृष्टिकोण था । उदाहरण स्वरूप अंग्ररेज रंगरूट को भरती के समय एक मोटी रकम मिलती थी, किन्तु हिन्दोस्तानी सिपाही को भरती के समय कुछ भी न मिलता था । अंग्रेज सिपाहियों को ऊँचे पदो पर नियुक्ति मिलती थी किन्तु भारतीय को निम्न स्तर पर नियुक्त किया जाता था। दोनों की तनख्वाह, पेंशन और भत्ते के कायदों में बहुत बड़ा अन्तर था एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदली के समय अपने रहने का प्रबन्ध अपने ही खर्च पर करना पड़ता था गोरे सिपाहियों की अपेक्षा देशी-सिपाहियों के धार्मिक और सामाजिक भावों का बहुत कम ध्यान रखा जाता था । उनसे अंग्रेज सिपाहियों की अपेक्षा कई गुना काम लिया जाता था ।[2]

इस प्रकार अंग्रेज व्यापार सम्बन्धी अधिकार प्राप्त कर देश में पूर्णरूप से शासक बन चुके थे । अंग्रेजों की नीति भारत में स्थायी रूप से शासन करने की चल रही थी । वे चाहते यह थे कि इस देश में अंग्रेजी हुकूमत सदा के लिए स्थायी होकर रहे । इसीलिए उन सभी नीतियों से काम लिया जा रहा था, जो शासन की सत्ता को मजबूत बनाती है । इस प्रकार की नीतियों में अंग्रेरेजी प्रचार की भी एक योजना थी । काम, शिक्षा और साहित्य बदल देने से कोई भी जाति अपने गौरव को

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 124, 125
2. भारत में अंग्रेजीराज, (द्वितीय खण्ड), डॉ0 सुन्दरलाल, पृष्ठ - 1058, 1059

भूल जाती है । अंग्ररेज देश के स्वाभिमान को मिटा देना चाहते थे । स्वाभिमान ही किसी भी परतंत्र जाति को स्वतत्रता के लिए किसी समय उभार सकता है । इसीलिए बड़ी दूरदर्शिता के साथ अंग्रेजों की यह योजना देश के सामने आयी, जिसमें अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार प्रमुख था ।[1]

लार्ड विलियम बेंटिंग ने ब्रिटिश भारत की कचहरियों मे फारसी और देशी भाषाओं को बिल्कुल हटाकर अंग्रेजी को उनका स्थान देने की पूरी कोशिश की । बेंटिंग इस बात में विश्वास करता था कि भारतवासियों की भाषा उनके भेष और रहन-सहन में अंग्रेजियत पैदा करके ही देश-प्रेम और राष्ट्रीयता के भावों से दूर रखा जा सकता है । इसीलिये वह भारत मे अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई-धर्म दोनों के प्रचार का पक्षपाती था ।[2]

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में कम्पनी की भारतीय प्रजा के जान-माल की तथा उनकी मान-मर्यादा या उनकी पवित्रतम भावनाओं का अणुमात्र भी मूल्य न था । निःसन्देह संसार के किसी भी देश और किसी भी युग में प्रजा की यह भयंकर दुर्दशा न हुई होगी, जो कम्पनी के शासनकाल में प्रजा की हुई ।[3]

उस समय जनसाधारण न केवल भयंकर दरिद्रता में डूबा हुआ था, वरन् थोड़े से रईसों और जमींदारों को छोड़कर 90 फीसदी लोगों की हालत अनेक बातों में जरखरीद गुलामों की हालत से बेहतर न थी । जिस पार्लियामेण्टरी शासन-पद्धति की

---

1. भारत में अंग्रेजीराज के दो सौ वर्ष, केशव कुमार ठाकुर, पृष्ठ - 374
2. भारत में अंग्रेजीराज, (द्वितीय भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 1102
3. भारत में अंग्रेजीराज (द्वितीय खण्ड), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 894

इतनी अधिक डींग हांकी जाती है, उसका जन्म भी इस आपसी कलह और द्वेष ही में हुआ था जिसके लिये सुसम्य, सुसंगठित, खुशहाल भारत में कभी कोई गुंजाइश ही न थी । सुसंगठित ग्राम - पंचायतों के रूप में ग्राम-वासियों के सच्चे स्वराज्य या ग्रामतंत्र का इंगलिस्तान - निवासियों को कभी अनुमान तक न हो सकता था, न राजा और न प्रजा के बीच वह सुन्दर धार्मिक सम्बन्ध वहाँ कभी कायम हो पाया था, जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के शासनकाल मे भारत मे कम से कम हजार साल तक कायम रहा । अंग्रेजों ने जहाँ भारत में एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया था वहीं दूसरी ओर समृद्ध और लहलहाते हुये जीवन का अंत कर दिया था।[1]

भारत की एक मात्र समस्या ब्रिटिश शासन की ओर से किया जाने वाला अनाचार या अत्याचार ही न था बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तत्कालीन सामाकि व्यवस्था आन्तरिक रूप से भी इतनी अधिक विषाक्त हो गई थी कि उन्हीं कमजोरियों का लाभ उठाकर ब्रिटिश शासकों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति करना अधिक श्रेयस्कर समझा । इसी कारण अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव बढ़ा ।

स्वामी विवेकानन्द जी ने भारत और विश्व की अनेक समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया और सभी समस्याओं का सुनियोजित व क्रमबद्ध रूप में हल अर्थात् समाधान भी प्रस्तुत किया । स्वामी जी का विचार था कि भारत आन्तरिक रूढ़ियों, कुसंस्कारों से यदि दूर हो जाय पुनः परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार एक सर्वश्रेष्ठ, सामाजिक परम्परा पुनः स्थापित करने के लिये स्वामी विवेकानंद जी ने सभी सामाजिक - समस्याओं पर विस्तृत रूप में अपने विचार व्यक्त किये ।

---

1. भारत में अंग्रेजीराज, (प्रथम भाग), डॉ0 सुन्दर लाल, पृष्ठ - 20-21

सामाजिक समस्याओं का एक विस्तृत जाल है - जिसमें जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, धार्मिक - भेदभाव, नारी-उत्थान, शिक्षा सहित अनेकों समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है । एक दार्शनिक, शास्त्र मनीषी, समाज सुधारक की भाँति स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने विचारों को सम्पूर्ण विश्व के समक्ष रखा । उनके प्रमुख सामाजिक विचार इस प्रकार हैं -

(1) जाति-व्यवस्था तथा वर्ण व्यवस्थाः-

संस्कृत में जाति का अर्थ है - 'वर्ग' या 'श्रेणी विशेष' । यह सृष्टि के मूल में ही विद्यमान है । जाति का अर्थ ही सृष्टि है । **"एकोऽहं बहुस्यास"**- अर्थात् मैं एक हूँ - अनेक हो जाऊँ, विभिन्न वेदों में इस प्रकार की बात पायी जाती है। सृष्टि की स्थापना के पूर्व एकत्व रहता है, किन्तु सृष्टि का निर्माण होते ही वैवध्य शुरू हुआ । अतः यदि विविधता समाप्त हो जाये तो सृष्टि का भी लोप हो जायेगा। अर्थात् विविधता ही प्रत्येक जाति की उन्नतिशील दशा का प्रमुख लक्षण है । विविधता के नष्ट होते ही वह जाति नष्ट हो जायेगी ।[1]

जाति का मूल अर्थ है:-

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति को, अपने विशेषत्व को प्रकाशित करने की स्वाधीनता ।[2] स्वामी विवेकानन्द जी मानते हैं कि - उन्नति का एक मात्र सहायक तत्व स्वाधीनता है । उसके अभाव में अवनति अवश्यम्भावी है ।[3]

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (तृतीय खण्ड) पृष्ठ - 366
2. विवेकानन्द साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 366
3. विवेकानन्द साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 15

यहाँ 'जाति' का अर्थ 'वर्ण' से भिन्न है यह प्रकट करना भी आवश्यक है । बहुधा दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में कर दिया जाता है - किन्तु दोनों में अंतर है -

वर्ण की धारणा:-

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के "वृज" धातु से हुई जिसका अर्थ है वरण करना, यह वंश - संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एव व्यवसाय पर मूलत आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है । और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है । स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है । कर्त्तव्यों पर समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना । जबकि जाति-व्यवस्था में जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल दिया जाता है । यह कर्त्तव्यों के आचरण पर बल दिये बिना विशेषाधिकारों पर ही आधारित है । वैदिक साहित्य में जाति के आधुनिक अर्थ का प्रयोग नहीं हुआ है । निरूक्त में "जाति" शब्द जाति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (12/13) । पाणिनि में भी इसके मूल रूप की व्याख्या की गई है । (जात्यन्ताच्छो बन्धुनि, 5/4/9) मनु (10/27, 31) ने 'वर्ण' शब्द को मिश्रित जातियों के अर्थ में प्रयुक्त किया है और कहीं इसका प्रयोग जाति के अर्थ में भी किया गया है ।[1]

स्वामी जी ने लिखा कि मानव समाज एक श्रेणी बद्ध संस्था है । यद्यपि जन्म एवं व्यवस्था पर आधारित जाति - व्यवस्था प्राचीन काल से फारस, रोम एवं जापान में भी प्रचलित थी, किन्तु भारतीय जाति व्यवस्था अपनी विशिष्टता के कारण अधिक प्रशंसनीय रही है । इसकी विशिष्टताएं इस प्रकार हैं -

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ0 पी0वी0 वामनकार्ण, पृष्ठ - 110 (प्रथम खण्ड)

(1) भारतीय जाति-व्यवस्था वश परम्परा पर आधारित है जिसमें सिद्धान्त. जन्म से ही स्थान प्राप्त हो जाता है ।

(2) जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र में या कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों में विवाह न करना ।

(3) कुछ जातियाँ विशिष्ट व्यवसाय ही करती है ।

(4) भोजन सम्बन्धी वर्जना का भी प्रावधान है ।

(5) जाति श्रेणियाँ उच्चतम जातियों और निम्नतम के बीच विभक्त है ।

कुछ जातियों में जाति-सभा, (पंचायत) जिसके द्वारा दण्ड आदि की व्यवस्था की जाती है किन्तु यह बात सभी जातियों पर लागू नहीं होती ।[1] इस प्रकार भारतीय सामाजिक व्यवस्था की दो खास विशेषताएँ देखने को मिलती है -

(1) इसका धर्म से गहरा सम्बन्ध है ।

(2) यह व्यक्तियों की अपेक्षा समूहों का संश्लेषण थी ।[2]

इस प्रकार शताब्दियों से हिन्दू समाज वर्ण-व्यवस्था तथा उससे विकसित जाति-व्यवस्था पर आधारित रहा है । जाति-पाँति की यह व्यवस्था हिन्दू समाज के आपसी खान-पान, शादी - विवाह, जीविकोपार्जन एवं विदेश यात्रा आदि से मुख्य रूप से सम्बन्धित थी । अपनी इसी रूढ़िगत कट्टरता के कारण समाज की आधार शिला डगमगाने लगी ।[3]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन काणे, पृष्ठ-109-110
2. भारत में उपनिवेशवाद व राष्ट्रवाद, डॉ0 सत्या राय, पृष्ठ - 130, 131
3. माडर्न रिलीजस मूवमेण्ट इन इंडिया, फारूकहर, जे0एन0, पृष्ठ-418

किन्तु नवयुग के नवविधाओं से प्रभावित समाज सुधार आन्दोलनों ने उसके विरूद्ध आवाज उठाई । ब्रह्म समाज के सदस्य इस विषय में स्वतंत्रता प्रिय थे । इसका मुख्य कारण पाश्चात्य संस्कृति एवं उनकी विचार धारा का उन पर पूर्ण प्रभाव था । प्रार्थना समाज के सदस्य केवल हिन्दुओं के साथ खान-पान का संबंध रखते थे, ईसाई, मुस्लिम एव विदेशियों के साथ नहीं, किन्तु शिक्षित एव व्यापारी वर्ग के लोग विदेशियों के साथ भी खान-पान मे विश्वास करते थे । थियासॉफिकल सोसायटी मे भी इस क्षेत्र में सुधार का प्रयास किया । डॉ() एनीबेसेन्ट एवं सोसायटी के सदस्य जातिगत विशेषता को महत्व नहीं देते थे । शूद्र के हाथ का भोजन करने मे कोई हानि नहीं, यदि वह स्वच्छ एवं पवित्र अन्तर्मन का हो ।[1] आर्य समाज सहित अनेक संस्थाओं ने भी अन्तर्जातीय खान-पान को महत्व देते हुए उसे अपनाया ।

जातिगत संगठन के संबंधित दूसरी मुख्य समस्या समुद्र यात्रा निषेध की थी ।[2] विदेश यात्रा से लौटे हुए लोगों का अस्पृश्य एवं धर्म भ्रष्ट समझकर उनका सामाजिक बहिष्कार कर देना समाज में प्रचलित धार्मिक अन्ध विश्वासों का परिचायक है । जातिच्युत किए गए लोग तब तक समाज एवं जाति में सम्मिलित नहीं किए जाते थे । जब तक रूढ़िवादी समाज के प्रायश्चित के विधान को पूरा न कर दें । धीरे-धीरे कलकत्ते में एक ऐसे समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ जो संगठन रूप में छोटा होता हुआ भी अत्यंत प्रभावशाली था और विद्यार्थियों को शिक्षा के हेतु विदेश भेजकर सामाजिक बहिष्कार का दंड सहने को प्रस्तुत था । इस समाज के अधिकांश लोग ब्रह्म समाज की शरण में गए ।

---

1. बिल्डर ऑफ न्यू इंडिया कामनवेल्थ, एनी बेसेन्ट, लन्दन, 1914, पृष्ठ - 323
2. क्राउन ऑफ हिन्दुइज्म, फ़ारूकहर, पृष्ठ - 163

स्वामी विवेकानंद जी के विचार में - संसार में सामाजिक जीवन की बुनियाद डालने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किये गए है । एक धर्म के सहारे और दूसरा सामाजिक प्रयोजन के सहारे। एक आध्यात्मिकता पर आधारित है और दूसरे का आधार भौतिकवाद है ।[1] स्वामी विवेकानन्द जी ने जाति-व्यवस्था का समर्थन किया है । संसार का कोई भी देश बिना जाति-व्यवस्था के नहीं है । जाति मनुष्य को घृणा, द्वेष, लोभ आदि से सुरक्षित रखती है । जाति ही समानता और भ्रातृभाव का एकमात्र आदर्श रही है । हमारी पुरानी जाति व्यवस्था के भीतर इतनी शक्ति रही है जिससे दो लाख नई व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है ।[2]

इसी परिपेक्ष्य में स्वामी जी कहते हैं कि दो विभिन्न जातियों का सम्पर्क होने पर जब वे घुल-मिल जाती हैं तो उनसे एक बलशाली तथा भिन्न नस्ल पैदा होती है । वह स्वयं अपने आपको सम्मिश्रण से बचाने की चेष्टा करती है और यही से जाति भेद का प्रारम्भ होता है । सेब का उदाहरण देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि चयनात्मक प्रजनन के द्वारा श्रेष्ठतम प्रकार का सेब उत्पन्न किया जा सकता है। पर एक बार दो नस्लें बनाकर हम उनकी किस्म को सुरक्षित रखने की चेष्टा करते हैं ।[3]

इस प्रकार स्वामी जी ने समय-समय पर जाति-व्यवस्था में आई बुराइयों को दूर कर, नई जातियों का निर्माण कर जाति व्यवस्था के मूल रूप को भी जीवित रखने का आग्रह किया ।

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 53
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 254
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 139

राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थक स्वामी विवेकानन्द जी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को कायम रखना चाहते थ । उनका विश्वास था कि भारतीय वर्ण - व्यवस्था भगवान द्वारा मनुष्य को दी गई सर्वश्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्थाओं मे से एक है ।[1] यह वर्ण-व्यवस्था ही भारतीय जाति-व्यवस्था का मौलिक आधार है ।

प्राचीन भारत म ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया, जिनके आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ समान रूप से सुलभ हो सके । वर्ण व्यवस्था इन शाश्वत मूल्यों में से एक है । सामान्य तौर पर वर्ण-व्यवस्था द्वारा ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्गीकरण किया जाता है । यह व्यवस्था ही प्राचीन काल से भारतीय समाज की आधारशिला है । प्राचीन काल से ही हिन्दू समाज में सहयोग और सहकारिता की भावना प्रबल रूप से कार्यरत रही है ।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय मे प्रमुख रूप से पाँच सिद्धान्त प्रचलित हैं । जिसमे - दैवी सिद्धान्त, गुण का सिद्धान्त, वर्ण अथवा रंग का सिद्धान्त, कर्म का सिद्धान्त, जन्म के सिद्धान्त का उल्लेख किया जाता है ।

दैवी सिद्धान्त के अन्तर्गत - ऋग्वेद के पुरूष सुक्त म वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरूष से बताते हुए कहा गया है कि उसके (विराट पुरूष) मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उर से वैश्य तथा पद से शूद्र उत्पन्न हुए ।[2]

गीता में भगवान श्री कृष्ण जी ने कहा है कि - "चातुर्वण्य मया सृष्टि

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 284
2. ऋग्वेद, पृष्ठ - 10/90/12

गुण, कर्म विभागशः"[1] अर्थात् चारों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर मैंने की है मैं ही इसका कर्त्ता और इसका विनाशक हूँ । इसी प्रकार की मान्यता, मनुस्मृति, विष्णु, मत्स्य, ब्राह्मण, वायु पुराण में भी प्राप्त होती है ।

इसी प्रकार गुण के सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य अपने गुणों के अनुसार वर्ण प्राप्त करता है । सांख्य दर्शन का मत है कि समस्त प्रकृति तीन प्रकार के मूल अणुओं तथा परमाणुओं के मेल का परिणाम है ये तीन है - सत्व, रज, तम । 'सत्वगुण' का लक्षण है शन्ति, ज्ञान, तप तथा शुद्ध आचरण । 'रज' का अर्थ है - क्रियाशीलता, राजसी प्रवृत्ति, धन तथा यश अर्जित करने का उत्साह । 'तम' का लक्षण है - जड़ता अहंकार, आलस्य आदि । इन गुणों को क्रमशः श्वेत, रक्त तथा कृष्णा कहा जाता है । इन तीन गुणों से युक्त परमाणु समस्त प्रकृति में पाये जाते हैं किन्तु इनमें किसी एक गुण की प्रधानता होती है । तो दूसरे में दूसरे गुण की। किस व्यक्ति में कौन से गुण की प्रधानता होगी यह उसके स्वभाव पर निर्भर करता है इस आधार पर शास्त्रकारों की यह मान्यता है कि प्रवृत्ति के अनुसार तीन वर्णों के व्यक्ति पाये जाते हैं । एक तो वह है जिनमें सत्वगुण प्रधान होता है, तथा रज, तक अपेक्षाकृत न्यून होते हैं । ये ब्राह्मण वर्ण में पाये जाते हैं । रजो गुण प्रधान व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं एक तो मान सम्मान और यश के प्रति आसक्त होते हैं और दूसरे धन और संचय के प्रति लगाव रखते हैं। क्रमशः इन्हें क्षत्रिय और वैश्य की संज्ञा की गई है । तमोगुण प्रधान व्यक्ति शूद्र की श्रेणी में रखे गये हैं ।[2]

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का दार्शनिक कारण यह था कि जिस प्रकार राष्ट्र के चार प्रमुख अंग होते हैं - शासन, धर्म, अर्थ एवं सेवक उसी

---

1. गीता, पृष्ठ - 4/13
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम खण्ड), पी0वी0 वामन कार्णे, पृष्ठ - 285

प्रकार समाज के लिए भी चार अंगों का होना अनिवार्य है । परिणाम स्वरूप राज्य एवं सेवक के रूप में समन्वय लाने के लिए, कार्यगत कार्य कुशलता हेतु वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ । वर्ण व्यवस्था को एक धार्मिक मान्यता हिन्दू - धर्मशास्त्र कारों में भी प्रदान की गई है ।[1]

स्वामी विवेकानन्द जी धर्मशास्त्रों मे वर्णित वर्ण के सिद्धान्तों में जाति को मात्र जन्म पर आधारित न मानकर कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं- उनका मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति में - 'सत्य', 'रज्' और 'तम' तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं ।[2] इसी प्रकार ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आदि के गुण भी सब मनुष्यों में पाये जाते हैं । जिस प्रकार समय-समय पर सत्य, रज, और तम् गुण मनुष्य के क्रिया-कलापों में समय-समय पर प्रकट होते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियोचित गुण भी मनुष्य में समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं । जब मनुष्य अर्थ प्राप्ति के लिए किसी की सेवा करता है तब वह शूद्र होता है, जब वह स्वयं अपने लाभ के लिए कोई क्रय-विक्रय करता है तब वैश्य होता है । जब वह अन्याय के विरूद्ध शस्त्र उठाता है तब उसमें क्षत्रिय भाव सर्वोपरि होता है जब वह ईश्वर के चिन्तन में लगा रहता है तो ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार स्पष्ट रूप से मनुष्य के लिए एक जाति से दूसरी जाति में चला जाना सम्भव है ।[3]

स्वामी जी के उपरोक्त विचार सामाजिक आधार पर एक क्रांति का आह्वान करते हैं । जो हिंसा पर आधारित न हो कर सामाजिक - परिवर्तन की बौद्धिक प्रक्रिया है । वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों को जन्म के आधार पर नहीं कर्म के

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 321
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 322
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड,) पृष्ठ - 249

आधार पर विशिष्टता प्रदान करने की बात करते है । भारत में ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही कोई ब्राह्मण कहलाने लगता है पर पश्चिम मे यदि कोई ब्राह्मणोचित गुण से युक्त हो तब ही उसे ब्राह्मण माना जाता है ।[1] जो स्वभाव से सात्विक है वही ब्राह्मण है ।

वैदिक परम्परावादी होने के कारण - स्वामी विवेकानंद जी जाति - व्यवस्था को चार वर्णों में विभाजित मानते हैं । (1) पुरोहित, (2) सैनिक, (3) व्यापारी, (4) मजदूर ।[2]

सभी वर्गों को ईश्वर निर्दिष्ट एकलयता में अपना - अपना कर्त्तव्य पूरा करना पड़ता है । स्वामी जी कट्टरवादी विचारधारा के समर्थक नहीं थे । एक सच्चे राष्ट्रवादी, मानवतावादी तथा उदारवादी होने के कारण उन्होंने भारतीय जाति - व्यवस्था को हानि पहुँचाने वाले विषाणुओं को बाहर निकालने के लिए सदेव प्रयत्न किया। राजा राम मोहन, सहित अन्य समाज सुधारकों की भांति उन्होंने मानव-मानव मे भेद करने वाली जाति-भेद नीति का विरोध किया ।

उनका विचार है कि निम्न वर्ग को ऊँचा उठाया जाय प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया जाय इस कार्य के लिए ब्राह्मणों का सहयोग परमावश्यक है । उनका विचार है कि ब्राह्मण ही हमारे पूर्व पुरूषों के आदर्श है, तथा समस्त प्राचीन धर्म ग्रन्थों में ब्राह्मण-आदर्श विशेष रूप में प्रतिष्ठित हैं ।[3] उन्हें ही ब्राह्मणेत्तर जातियों को विकास के रास्ते पर आगे बढ़ाकर उनका कल्याण करना होगा । आदान-प्रदान जगत

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 248
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 306
3. विवेकानन्द साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 93-94

का नियम है भारत वर्ष यदि फिर उठना चाहे तो उसके गुप्त भण्डार में जो कुछ संचित है उसे विभिन्न जातियों में उदारता पूर्वक बाट देना होगा ।[1]

देश में विभिन्न जाति के लोग रहते हैं । किन्तु इनकी उत्पत्ति कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था से ही निष्कासित हुई है । अतः सभी के बीच समन्वयात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है । जीवन में पराधीनता की नहीं स्वाधीनता की आवश्यकता होती है । समाज में स्वाधीनता की स्थापना होनी चाहिए । यदि तुम्हारी स्वाधीनता के कारण दूसरे की कुछ क्षति होती है तो तुम्हें समझना होगा कि वह वास्तविक स्वाधीनता नहीं है, दूसरे की किसी प्रकार की क्षति कभी मत करो ।[2]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है स्वामी जी सभी जातियों के बीच संघर्ष को समाप्त कर स्वतंत्रता, स्वाधीनता-व्यवसायात्मक प्रतिस्पर्धा की स्थापना करना चाहते हैं । वे मानते हैं कि प्रतिस्पर्धा से ही जाति-भेद अपने आप ही नष्ट हो जायेगा । उत्तरी भारत में दुकानदारी, जूतों का धन्धा और शराब बनाने का काम करने वाले ब्राह्मण देखने में आते हैं । इसका कारण है प्रतिद्वन्द्विता । इस प्रतियोगिता को रोक देने पर जातियों की प्रगति रूक जायेगी ।[3]

इस प्रकार स्वामी जी जाति-व्यवस्था, जाति-भेद का समर्थन करते हुये-जातिगत - कट्टरता, सामाजिक अन्याय और विशेषाधिकारों का विरोध करते हैं । उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्था के हित में माना । यह व्यवस्था

---

1. सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, विवेकानन्द चरित, पृष्ठ - 25
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 28
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 95

मनुष्य को ईश्वर द्वारा दी गई सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं में से एक है - यद्यपि अनिवार्य त्रुटियों ने, विदेशी उपद्रवों ने सर्वाधिक रूप से उच्च कुलीन गुणों के विनष्ट होने आदि अनेक कारणों से इस व्यवस्था को अवश्य ही कुण्ठित किया है, किन्तु फिर भी इस व्यवस्था ने भारत का अद्भुत कल्याण ही किया है और निश्चय ही भारतीय मानव-समाज को अपने लक्ष्य तक पथ - प्रदर्शन करने का कार्य वर्ण-व्यवस्था से ही सम्भव हो सका है ।[1]

स्वामी जी महान आशावादी विचारक थे । उन्होंने कहा कि - सतयुग में पृथ्वी पर कोई एक ही जाति थी वह थी ब्राह्मण, क्रमशः ज्यों-ज्यों अवनति होने लगी, वह जाति-भिन्न जातियों में विभक्त होने लगी, फिर जब काल-चक्र घूमता-घूमता सत्ययुग आ पहुँचेगा तब फिर से सभी ब्राह्मण होंगे । ऊँची जातियों को नीची करने और सुख भोगने के लिए अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा तोड़ने से इस जाति-भेद की समस्या हल नहीं होगी, वेदान्त धर्म का पालन करके प्रत्येक व्यक्ति आदर्श बन जायेगा ।[2]

स्वामी जी चाहते थे कि - भारतीय समाज के सभी वर्गों को जीवन में प्रगति करने के लिए समान अवसर मिले । उन्होंने कहा कि समाज के सभी वर्गों को धन, विद्या तथा ज्ञान का उपार्जन करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए । प्रत्येक विषय में स्वतंत्रता अर्थात् मुक्ति की ओर प्रगति ही मनुष्य के लिए उच्चतम लाभ है, जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं, वे हानि कारक हैं और उन्हें नष्ट करने का उपाय शीघ्र करना चाहिए । जिन संस्थाओं के द्वारा मनुष्य

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 284
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 94

स्वतंत्रता के पथ पर आगे बढ़ता है उन्हें प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । राष्ट्र-झोपड़ियों में बसता है ।[1]

उनका विचार है कि "यदि प्रकृति में असमानता है तो भी सबके लिए समान अवसर होना चाहिए । यदि आवश्यकता हो तो दुर्बलों को सबलों से अधिक अवसर दिये जाने चाहिए ।[2] इस प्रकार समान अवसर के सिद्धान्त का समर्थन कर वे समाज के निम्न वर्गों का उत्थान करना चाहते थे । समाज के प्रत्येक वर्ग का उत्थान होने पर सम्पूर्ण राष्ट्र प्रगति कर सकता है । जिस प्रकार शरीर के किसी भी एक अंग की उपेक्षा उचित नहीं है । शरीर के किसी एक अंग में खराबी आने पर पूरा शरीर अस्वस्थता से प्रभावित हो जाता है उसी प्रकार प्रत्येक जाति, समाज का एक आवश्यक अंग है । सभी अंगों के ठीक से काम करने पर ही शरीर स्वस्थ होता है । उसी प्रकार समाज के सभी जातियों के विकास के द्वारा ही समाज स्वस्थ हो सकता है । यही भावना स्वामी विवेकानंद जी के अन्तःकरण में व्याप्त थी ।

अस्पृश्यता तथा कुसंस्कार

भारतीय समाज अस्पृश्यता और अनेक कुसंस्कारों में जकड़ा हुआ है उन्हें दूर किये बिना एक स्वस्थ समाज की स्थापना करना असम्भव है । यही भावना स्वामी जी के हृदय में भी व्याप्त थी । भारतीय संस्कृति से अथाह स्नेह होते हुये भी वे इस संस्कृति को दूषित करने वाले तत्वों को दूर करना चाहते थे । क्योंकि इन्हीं तत्वों के कारण भारतीय संस्कृति की आत्मा विशेष रूप से आहत हुई है ।

---

1. शिक्षा संस्कृति और समाज, विवेकानंद, पृष्ठ - 95
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 321

अस्पृश्यता की समस्या न केवल भारत मे वरन् यह समस्या अमेरिका एवं दक्षिणी अफ्रीकी देशों में भी पायी जाती रही है । आज की अमेरिकी नीग्रो जाति भारतीय अस्पृश्य जाति से भी कई गुना असह्य अयोग्यताओं एव नियन्त्रणों से घिरी हुई रही है । "अस्पृष्यता" का अर्थ है "न छूने योग्य जिसे छूना वर्जित हो ।"

अस्पृश्यों की उत्पत्ति के अनेक स्रोत है - जिनका अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है -

(1) भयंकर पापों अर्थात् दुष्कर्मों से लोग जाति निष्कासित एवं अस्पृश्य हो जाते हैं ।

(2) धर्म सम्बन्धी घृणा और विद्वेष के कारण लोग अस्पृश्य हो जाते हैं ।

(3) कुछ विशिष्ट व्यवस्थाओं का पालन करने के कारण लोग अस्पृश्य हो जाते हैं ।

(4) कुछ परिस्थितियों में पड़ जाना यथा - रजस्वला स्त्री के स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शव स्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता है ।

(5) निषिद्ध व्यवसायों को करने के कारण भी लोग अस्पृश्य हो जाते हैं ।

(6) म्लेच्छ या विशिष्ट देशों का निवासी होने से भी लोगों को अस्पृश्य माना जाता है ।[1]

अस्पृश्य शब्द का प्रयोग विष्णु धर्म सूत्र में (104) एवं कात्यायन ने किया है । जिसमे चण्डालों, म्लेच्छों, पारसीकों को अस्पृश्यों की श्रेणी में रखा गया है । विभेद की भावना एवं संस्कारोचित पवित्रता की धारणा ने अन्त्यजोंएवं कुछ हीन जातियों को अस्पृश्य बना डाला । मनु एवं याज्ञवल्क्य ने भी यही लिखा है कि चाण्डालों

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन काणे, पृष्ठ - 168

की छाया अपवित्र है । ब्राह्मणों को चाण्डाल की छाया स्पर्श होने पर स्नान करना आवश्यक माना गया है ।[1]

भारतीय समाज में वैदिक परम्परा का विधान रहा है जिसमें ब्राह्मणेत्तर जातियों में शूद्रों को सदैव ही अस्पृश्य माना गया है । उसे अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया । शूद्र की स्थिति पैर के समान है । शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था । वहीं समाज के तीन वर्णों को आध्यात्मिक विद्या को प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त था । भारतीय इतिहास में एक ऐसा भी समय था जब शूद्र को यदि वेद का मंत्र सुनाई पड़ जाय तो उसके कानों में पिघला हुआ गर्म-गर्म सीसा डाल दिया जाता था । इस कथन में कितनी सत्यता है यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि शूद्र को आध्यात्मिक विद्या से सदैव से ही वंचित रखा गया । शूद्र सदैव अनपढ़ एवं अशिक्षित रहा । यही परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी में सुधार - आन्दोलनों के समय भी व्याप्त थी । जिससे दुखी होकर मद्रास में सहस्रों अछूत ईसाई बन गये ।[2]

प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसायटी सहित अनेकों संस्थाओं ने इस भीषण समाजिक समस्या के निवारण के लिए आन्दोलन चलाये । स्वामी रामकृष्ण तो चण्डालों और शूद्र को परमात्मा का अत्यंत प्रिय मानते थे और इसी कारण रात को जाकर अपने केशों से उनका घर साफ किया । स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण जी के विचारों के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे । साथ ही उन्होंने भारत भ्रमण कर अस्पृश्य

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन कार्णे, पृष्ठ - 170
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 149

समझी जाने वाली जातियों की स्थिति को समझा था । इसी कारण उन्होंने कहा कि-हमारी सामाजिक विषमता इस हद तक बढ़ गयी है कि भोग करते समय तो ब्राह्मणेत्तर जातियों से स्पर्श से दोष नहीं होता किन्तु भोग समाप्त होते ही स्नान आवश्यक है। क्योंकि ब्राह्मणेत्तर जातियाँ तो अपवित्र हैं । अन्य समाजों में तो इसकी आवश्यकता ही नहीं है ।[1]

स्वामी जी का कार्य था कुसंकोच के स्थान पर सम्प्रसारण की शक्ति का संचार करना । केन्द्रीभूत सामूहिक शक्ति अपने बल से जातीय जीवन के विकास की बाधाओं को दूर कर उसे बढ़ाने में प्रोत्साहित करेगी । इसी कारण वे सामाजिक कुसंस्कारों का समर्थन न कर सके । वे इस बात को भी स्वीकार नहीं करते थे कि समाज के किसी विशेष स्तर से कुछ आचार-व्यवहारों को उठा देने से अथवा कुछ नवीन आचार-व्यवहारों को प्रचलित कर देने से ही जाति की उन्नति होगी ।[2]

कुसंस्कारों में जकड़े समाज के दलित धीरे-धीरे यह भी भूल गये हैं कि वे मनुष्य हैं । शत-शत शदियों से उन्होंने बाध्य होकर क्रीतदास की तरह केवल पानी भरा है । उन्हें आरम्भ से ही इस प्रकार की शिक्षा दी गई है कि वे गुलामी करने के लिये ही उत्पन्न हुये हैं ।[3]

इस प्रकार वंश परम्परा से मानव-जन्मगत सम्बन्धी गुणों की दुहाई देकर जिस बर्बर व पाशविक मतवाद के मनुष्य को हीन, अन्त्यज, पंचम आदि नाम दिये

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 308
2. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 342
3. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 343

जाते रहे हैं उस पर स्वामी जी ने बहुत तीव्र आक्रमण किये ।

अद्वैत दर्शन का समर्थक होने के कारण स्वामी जी सार्वभौमिकता के पक्षपाती थे । उन्होंने मनुष्य मात्र को यह मानने के लिए प्रेरित किया कि - सबल-निर्बल, उच्च, नीच सभी के हृदय में अनन्त आत्मा मौजूद है । अत. सभी व्यक्ति महान बन सकते हैं । सभी साधु बन सकते हैं ।[1] उन्होंने आगे भी कहा कि गरीबों का उपकार करना ही दया है। मनुष्य भगवान है, नारायण है, आत्मा मे स्त्री-पुरूष नापुंसक तथा ब्राह्मण क्षात्रियादि भेद नहीं है । "ब्रह्मादिस्तवपर्यन्त" सब कुद नारायण है कीट स्वल्पज्ञ तथा ब्रह्म अधिक अभिव्यक्त है ।[2] इसी धारणा के आधार पर वे देश के गरीब, निसहाय लोगों के प्रति उदारता लाने के लिए आह्वान करते हैं ।

'पुरोहितवाद', 'मतछुओवाद' आदि से भी स्वामी जी को अधिक कष्ट पहुँचता था, इसी कारण उन्होंने कहा कि साधु सन्यासी तथा ब्राह्मण दुष्टों ने देश को रसातल तक पहुँचा दिया है । 'देहि-देहि' की रट लगाकर तथा चोर, बदमाश आदि के द्वारा देश की स्थिति अत्यन्त कष्टकारी बना दी है इस पर भी वे धर्म के प्रचारक माने जाते हैं । धन कमायेंगे सर्वनाथ करेंगे इस पर भी यही कहेंगे कि हमें न छूना ।[3]

स्वामी जी के विचारों पर आधुनिक विज्ञान, तकनीकी शिक्षा का प्रभाव था । वे किसी भी मान्यता को तार्किक दृष्टिकोण से सोचते थे और साधारण मानव से भी तार्किक और वैज्ञानिक सोच के आधार पर पूर्णतया पुष्टि करने के बाद ही

---

1. सोशियो पालिटिकल व्यूज ऑफ विवेकानंद, बी0के0 राय, पृष्ठ - 344
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 309
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 308

परम्पराओं को स्वीकार करने पर बल देते थे । इसी कारण वे कर्मकाण्डों का उपहास करते हुए कहते हैं कि - यदि आलू से बैगन का स्पर्श हो जाय तो कितने दिनों के अन्दर यह ब्रह्माण्ड रसातल मे पहुँच जाएगा ? चौदह बार हाथ मिट्टी न करने से पूर्वजों के चौदह पुश्त नरक-गामी होते हैं अथवा चौबीस ? इन उलझे हुए प्रश्नों में मीमांसक हजारों वर्षों से लगे हुए हैं । जबकि देश की 1/4 जनता भूख से मर रही है ।[1]

हमारे देश में पुरोहितवाद मे जकड़ी मान्यताओं के कारण धर्म पाकशाला की सीमा में सीमित हो गया है ।

स्वामी जी अस्पृश्यता आदि सामाजिक दोषों का बहिष्कार कर समाज के सभी वर्गों को विकास का अवसर प्रदान करना चाहते हैं । वे भ्रष्ट आचरण की दीवार को गिराकर सभी ऊँच-नीच को एक साथ मिलकर पुकारते हैं - आओ ! सब दीन-हीन, सर्वहारा, पद-दलित, विपन्नजन - आओ । हम श्री रा‌कृष्ण की छत्रछाया में एकत्र होवें ।[2]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी ने - अस्पृश्यता की कटु आलोचना की। अस्पृश्यकता को वे देश की आध्यात्मिक उन्नति में सबसे बड़ी बाधा मानते थे । उनका मानना थ कि एक लम्बे समय से देश में निम्न वर्ग से घृणा करते-करते स्वयं हिन्दू समाज विश्व में घृणा का पात्र बन गया है । अतः सर्वप्रथम सम्पूर्ण शक्ति के साथ आर्येत्तर जातियों को ब्राह्मण के समान उच्च संस्कार प्रदान करना होगा । क्रमशः

---

1. आज का भारत, रजनी पाम दत्त, पृष्ठ - 248
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 149

देश में सब लोगों को ब्राह्मण के पद पर आरूढ़ करना होगा । उनका कहना था कि कोई भी धर्म या कोई भी जाति दूसरों से घृणा कर जीवित नहीं रह सकती । सभी एक दूसरे के भाई है । "मतछुओवाद" के कारण ही हमारा देश हीनता, भीरूता, मूर्खता तथा कापुरूषता की चरम सीमा को प्राप्त हुआ है । इन्हें उठाना होगा, इन्हें अभय वाणी सुनानी होगी, बतलाना होगा कि तुम भी हमारे समान मनुष्य हो, तुम्हारा भी हमारे समान सब अधिकार है ।[1]

सभी मनुष्यों में ईश्वर का वास है अत· जाति - पाँति का भेदभाव त्याग कर दीन-दुखियों की सेवा करना चाहिए । यदि तुम परमात्मा की सेवा करना चाहते हो तो दीन-दुखियों की सेवा करो । अस्पृश्यता ऊँच-नीच की दीवारें तोड़ गिराओ ।[2]

समाज के सभी वर्ग शरीर के अंग के समान है । निश्चित रूप से यदि शरीर का कोई एक अंग निःस्पन्द हो जाय तो वह शरीर कोई बड़ा काम नहीं कर सकेगा । ठीक इसी प्रकार समाज के प्रमुख अंग के निःस्पन्द हो जाने पर समाज की उन्नति असम्भव है । अस्पृश्यता एक प्रकार की मानसिक व्याधि है ।[3] अतः हमें "आत्मवत सर्वभूतेषु" याद रखना चाहिए ।

विवेकानंद ने परम्परावादी ब्राह्मणों के पुरातन अधिकारवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया[4] यह सिद्धान्त शूद्रों अर्थात् देश की बहुसंख्यक जनता को वैदिक

---

1. विवेकानंद, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 73
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 150
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 310
4. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 190-92

ज्ञान के लाभ से वंचित करता है । शकर ने भी इस लोकतंत्र - विरोधी मतवाद को स्वीकार किया था । किन्तु विवेकानद ने निर्भीकता से आध्यात्मिक समता के आदर्श का पक्षपोषण किया । उनका कथन था कि सभी मनुष्य समान हैं और सभी को आध्यात्मिक अनुभूति तथा पाकज्ञान का अधिकार है उनका लोकतांत्रिक अध्यात्मवाद वास्तव में एक क्रांतिकारी आदर्श था । उन्होंने कहा कि उपरोक्त कार्यों के द्वारा ही तुम सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार कर सकोगे ।[1]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी ने "रसोई-धर्म" और "अस्पृश्यता" से ऊपर उठकर, कूप-मंडूक न बने रहकर खुली आँखों से दुनिया देखने के लिए कहा और पीछे की ओर न देखकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया । उन्होंने कहा कि जीवन प्रगतिशील है और आज का हमारा जीवन पिछली अनेक सदियों में की गई प्रगति तथा विकास का परिणाम है ।

हमें रूढ़िवादिता से अलग रहकर अप्रगतिशील विचारों को त्यागकर प्रगति के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए । समाज में फैले अंध-विश्वास को मिटाना चाहिये । तर्क और बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही किसी परम्परा को स्वीकार करना चाहिए ।[2]

"पण्डित पुरोहितवाद" की आलोचना उन्होंने अनेक स्थलों पर की है । उन्होंने पुरोहितवाद पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये तरह-तरह के विश्वासों पर बल दिया उनका प्रचार किया

---

1. द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानंद, (द्वितीय खण्ड), रोमां रोलां, पृष्ठ - 58
2. जाति, संस्कृति और समाजवाद, विवेकानंद, पृष्ठ - 28

अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों पर बल दिया । सामाजिक रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए उन्होंने उसे तालाब के सड़े हुए पानी के समान बताया जो समाज को जीवन-दान देने की बजाय मृत्यु देता है ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी का हृदय अपने देश के समाज सुधारकों के लिए सम्मान की भावना से भरा हुआ था । किन्तु वे समाज सुधार का ढोंग करने वाले सुधारकों के विरोधी थे । पाश्चात्य सभ्यता का अंधाधुन्ध अनुकरण करने वाले सुधारकों की उन्होंने आलोचना की । उन्होंने कहा कि हमारे देश में कभी भी सुधारकों की कमी नहीं रही । रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, दादू सभी की गणना समाज-सुधारकों में ही की जाती है । रामानुज आजीवन इस बात का प्रयास करते रहे कि चमारों को भी अपने सम्प्रदाय में शामिल करलें । उन्होंने मुसलमानों को भी अपनी मण्डली में मिलाने का प्रयास किया । गुरूनानक ने हिन्दू-मुसलमानों को एक-करके मिलाने का सदैव प्रयत्न किया । उनके इन्हीं योगदानों के कारण आज भी उनका नाम लिया जाता है। वे कट्टरपंथी नहीं थे । वे कभी किसी को गाली नहीं देते थे । किसी की निन्दा नही करते थे ।[2]

स्वामी जी चाहते थे कि सभी व्यक्ति और समूह अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों के पालन में ईमानदार हों । मानव प्राणी का गौरव इस बात में नहीं है कि वह अपने तथा अपने अधिकारों के लिए आग्रह करे, उसकी गरिमा इस बात में है कि वह सार्वभौम शुभ की सिद्धि के हेतु अपना उत्सर्ग कर दे ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 72
2. शिक्षा, संस्कृति और समाज, विवेकानंद, पृष्ठ - 95
3. विवेकानंद एण्ड मार्क्स एज् सोशलिज्म, बी0पी0 वर्मा, पृष्ठ - 374-81

यद्यपि स्वामी जी स्वयं भिक्षु और सन्यासी थे किन्तु उन्होंने निष्काम-भाव से अपना कर्त्तव्य करने वाले गृहस्थ को सर्वोच्च स्थान दिया ।[1]

अरस्तू की भाँति स्वामी जी मिताक्षरा में विश्वास करते थे ।[2] सामाजिक परिपाटियाँ समाज की आत्म-परीक्षण की व्यवस्था का परिणाम हुआ करती है । किन्तु यदि परिपाटियाँ स्थायी रूप से कायम हो जायें तो समाज के अधः पतन का भय उपस्थित हो जाता है । यह ध्यान रखने योग्य है कि वे सामाजिक परिवर्तन को हिंसा के माध्यम से न कर, सहजता और स्वाभाविकता के रास्ते पर चलकर करना चाहते हैं। वे परिपाटियों और नियमों को जन्म देने वाले कारणों को ही नष्ट कर देना चाहते हैं । इस प्रकार विशिष्ट सामाजिक परिपाटियाँ स्वतः विलुप्त हो जायेंगी । उनकी भर्त्सना और निन्दा करने से अनावश्यक सामाजिक तनाव और शत्रुता उत्पन्न होती है ।[3]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी आध्यात्मिकता को सामाजिक परिवर्तन का मेरू दण्ड मानते हैं और सामाजिक - व्यवस्था में परिवर्तन के लिए आदान-प्रदान की प्रक्रिया पर बल देते हैं । उसमे चरित्र की शुद्धता तथा भ्रातृत्व पर अधिक बल दिया गया है । वे न्याय, प्रेम तथा सार्वभौम करूणा के शाश्वत सन्देश का प्रतिपादन करते हैं । उन्होंने उग्र क्रांतिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा अवयवी ढंग के और धीमे सुधार का समर्थन किया ।[4]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 34-49
2. द स्प्रिट ऑफ इण्डियन, बी0सी0 पाल, पृष्ठ - 40
3. द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानंद, (द्वितीय खण्ड), रोमां रोलां, पृष्ठ - 752
4. द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानंद, (द्वितीय खण्ड), रोमां रोलां, पृष्ठ - 790

धर्म - व्यवस्था

देश मे धर्म को लेकर प्राय: संघर्ष होते रहे है । किन्तु अंग्रेजों के शासन-काल में धर्म को लेकर शासक वर्ग ने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति करने का जो सुगम मार्ग खोजा उसने देश की आत्मा को खण्ड - खण्ड मे बाँटकर अलग कर दिया । स्वामी विवेकानद ने धार्मिक समस्या पर विस्तार से विचार प्रस्तुत कर जहाँ एक तरफ मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने का प्रयास किया वहीं राष्ट्रीय एकता का भी मार्ग प्रशस्त किया ।

उनके धर्म सम्बन्धी विचार इस प्रकार है -

धर्म शब्द अर्थात् "रिलीजन" अग्रेजी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है । 'रिलीजन' शब्द 'रि' एवं लैटिन शब्द लेग्रे (Legray) के संयोग से बना है । 'लेग्रे' शब्द का अर्थ है "विचार करना" । किन्तु कालान्तर में रिलीजन शब्द का अर्थ अधिक व्यापक हो गया । उसका अर्थ ईश्वर की प्रार्थना, पूजापाठ, कर्मकाण्ड एवं ईश्वर का ध्यान करना माना जाने लगा । इस प्रकार 'रिलीजन' के शब्द को ईश्वर एवं मनुष्य के सम्बन्ध तक सीमित कर दिया गया ।

किन्तु भारतीय शब्द धर्म का अर्थ अंग्रेजी रिलीजन शब्द से अधिक विस्तृत है । यह शब्द संस्कृत धातु 'धृ' से बना है । जिसका अर्थ है "धारण करना" । इस प्रकार धर्म की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है । "धरति धारयति" वालोकम् इति धर्मः एवं "ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः ।" अर्थात् समाज के द्वारा जो धारण किया जाय वही धर्म है । इसी प्रकार महाभारत में लिखा कि - "धारणात् धर्म मित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः ।" इसलिये भारतीय मनीषियों ने धर्म के अन्तर्गत उन सभी

सद्गुणों का समावेश किया है जो समाज एवं प्रजा को एकसूत्र में बाँध देने के लिए आवश्यक है ।

मनुस्मृति में कहा गया है कि - "धृतिः क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः, धीर्विधा, सत्यम् क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।"[1] अतः भारतीय संस्कृति में धर्म को सामाजिक संरचना का आधार एवं व्यक्तिगत जीवन मार्ग दोनों अर्थों में लिया गया है ।

ऋग्वेद में "धर्म" शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर भिन्न-भिन्न रूपों में किया गया है इसी ग्रन्थ में 'ऋत' एवं 'सत्य 'की धारणाओं का विवेचन हुआ है । बाह्य जगत की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है । इसी को 'ऋत' कहते हैं । इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के "प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श" हैं उन सबका आधार सत्य है । वैदिक आदर्श 'ऋत' और 'सत्य' को एक ही भौतिक तथ्य के दो रूप मानता है ।[2]

उपनिषदों में धर्म को नैतिक आदर्श और सदाचार के रूप में प्रयोग किया गया है । गीता में धर्म शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है । जैसे- स्वधर्मेनिधनं श्रेयः ।[3] धर्मशास्त्र साहित्य में धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मनु ने तीन प्रकार से धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है । परम आचार

---

1. मनुस्मृति, पृष्ठ - 6/92
2. भारतीय संस्कृति का विकास (प्रथम खण्ड), वैदिक धारा, डॉ0 मंगलदेव शास्त्री, पृष्ठ - 104-105
3. गीता, पृष्ठ - 3.35

धर्म है ।[1] धृति, क्षमा आदि धर्म के दस लक्षण है ।[2] वेद, स्मृति सदाचार तथा अपनी आत्मा को प्रिय लगना ये धर्म के चार साक्षात् लक्षण हैं ।[3] पूर्व मीमांसा सूत्र में जैमिनी ने धर्म को "वेद विहित प्रेरक लक्षणों" के अर्थ मे स्वीकार किया है, अर्थात् वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है । धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया संस्कारों से है जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशसित है ।[4]

वैशेषिक सूत्रकार ने धर्म की यह परिभाषा की है- "धर्म" वही है जिनसे आनन्द एवं नि:क्षेयस की सिद्धि हो ।[5] महाभारत शान्ति पर्व में धर्म के विधि और निषेध दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर धर्म का निरूपण किया गया है । अपने विधि पक्ष में धर्म शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का साधन है अपने निषेध पक्ष में धर्म वह है जो किसी को क्लेश न पहुँचाए ।[6]

बौद्ध धर्म साहित्य में धर्म शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । कभी-कभी इसे भगवान बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है । इसे अस्तित्व का एक तत्व अर्थात् जड़, तत्व, मन एवं शक्तियों का एक तत्व भी माना गया है ।[7]

स्वामी विवेकानंद जी भारतीय संस्कृति के प्रबल पक्ष पोषक थे । अतः

---

1. मनुस्मृति, पृष्ठ - 1.108
2. मनुस्मृति, पृष्ठ - 6.92
3. मनुस्मृति, पृष्ठ 2.12
4. पूर्व मीमांसा सूत्र, पृष्ठ - 1.1.12
5. अपातो धर्म ब्याख्या स्यामः । यतोऽम्पुदपनिःश्रेयस सिद्धिः सधर्भः, (वैशेषिक सूत्र 1/1/1 वही 1/1/2)
6. महाभारत शांतिपर्व, पृष्ठ - 109.58
7. धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 5

धर्म सम्बंधी उनकी अवधारणा भारतीय धार्मिक परम्परा के अनुरूप है । स्वामी जी ने धर्म को इस रूप में परिभाषित किया है - "यह संसार इन्द्रियों, बुद्धि और युक्ति सभी की ओर से अनन्त, अज्ञेय और अज्ञात से परिसीमित है ।" यह अनन्तता ही हमारी खोज है । इसी में अनुसन्धान के विषय है । इसी में तथ्य हैं और उससे प्राप्त होने वाले प्रकाश को संसार धर्म कहता है । उनके अनुसार धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि व्यक्ति के अभ्यन्तर से ही उदित होता है । धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित है । और यह बात इस सीमा तक सत्य है कि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है ।[1]

जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति है तब तक यह संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक किसी न किसी रूप में यह धर्म रहेगा । इस प्रकार विश्व में धर्म के विविध रूप मिलते हैं । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि "धर्म सम्पूर्ण मानव में परिव्याप्त है, न केवल वर्तमान मे अपितु भूत और भविष्य में भी। अतः हम उसे "शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म से शाश्वत सम्बन्ध" कह सकते हैं ।[2]

उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि, "हम सब धर्मों में निम्न सत्य से उच्च सत्य की ओर जाते हैं । सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे एक एकता है । पर मनों में बड़ी विविधता है । वह (ब्रह्म) एक है ज्ञानी उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं । हम छोटे सत्य से बड़े सत्य की ओर बढ़ते हैं । निम्नतम धर्म केवल सत्य के निम्न पाठ मात्र हैं । हम धीरे-धीरे समझते हैं । शैतान की उपासना भी चिलन्तन

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 189
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 243

सत्य और अनन्त ब्रह्म का ही विकृत पाठ मात्र है ।[1] उनके अनुसार धर्म का एक ही स्वरूप सभी के लिये उपयुक्त नहीं है । वे कहते हैं कि सभी "धर्म एक सूत्र में गुहे मोतियों के समान है ।" हम लोगों को अन्य सब बातों को अलग रखते हुए सभी में व्यक्तित्व को खोजने की चेष्टा करनी चाहिए । मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में निहित है । कोई पद्धति जिससे व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है वह अंततोगत्वा विनाशक सिद्ध होती है । हर जीवन में एक धारा प्रवाहित हो रही है और अंत में वही उसे ईश्वर को प्राप्त करा देगी ।[2]

धर्म एक ही है परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी चाहिए । अतः सभी अपना-अपना धर्म - सन्देश तो दें, परन्तु दूसरे धर्मों में कोई त्रुटि न देखें ।[3] विवेकानंद जी के विचार में धर्म केवल - सिद्धान्त और मत की बात नहीं है । वे कहते हैं कि - जो व्यक्ति धर्म के लिए केवल किताबें पढ़ता है उसकी हालत तो गल्प वाले उस गधे की है जो पीठ पर चीनी का भारी बोरा ढोता हुआ भी उसकी मिठास को नहीं जान पाता ।[4] इस प्रकार विवेकानंद जी चिन्तन में पुस्तक - पुस्तिकाओं को धर्म नहीं मानते । वे अन्तर्दृष्टि द्वारा मानव हृदय में प्रवेश कर ईश्वर तथा अमरत्व सम्बन्धी सत्यों को ढूँढ निकालने को धर्म कहते हैं ।

विवेकानंद जी ने आत्म त्याग को सर्वोच्च लोक का धर्म माना । उनके

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 252
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 234
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 253
4. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 235, 236

शब्दों में 'धर्म की उत्पत्ति आत्म-त्याग से ही होती है । अपने लिए कुछ भी मत चाहो । सब दूसरों के लिए करो । विवेकानंद भारतीय धर्म-परम्परा को एक संयुक्त-उत्पत्ति मानते थे जिसमें शंकर का अवैयक्तिक, एकात्मवाद, रामानुज और उनके अनुयायियों का भक्ति मार्ग और बौद्ध - धर्म का मानवतावाद एक दूसरे में विलीन हो गया हो ।[1]

हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानंद जी में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था । स्वामी जी ने इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्व उच्च स्तर पर बतलाया है । सामान्यतः वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है । जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती है । किन्तु इस्लाम मुख्यतः धर्म का मार्ग है, तथा हजरत मुहम्मद का पन्थ देह-दहन सन्यास और वैराग्य को महत्व नहीं देता । किन्तु विवेकानंद की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एवं तात्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रकृति - मार्ग से उसका कोई विरोध नहीं था । इसलिये विवेकानंद की कल्पना थी कि व्यवहारिकता को आत्मसात किए बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते । सन् 1898 में उन्होंने एक पत्र में लिखा कि - हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि - इसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिलकर एक हो जायं । वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है ।[2]

इस प्रकार विवेकानंद ने संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं उनकी अनिवार्यता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 254
2. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह' दिनकर,' पृष्ठ - 596

बताते हुए कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश - देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं ।[1] भारत में जितने भी धर्म प्रचलित है उनके विषय में स्वामी जी का कहना था कि ये सभी धर्म हमारे अपने धर्म हैं । इस भाव से, उन सबको हमें अपना लेना है । विवेकानंद के विचार में धर्म को समाज का आधार एवं व्यक्तिगत जीवन-मार्ग दोनों रूपों मे लिया गया है । उनका विचार है कि धर्म मनुष्य एवं ईश्वर के सम्बन्ध से तो सम्बन्धित है ही किन्तु वह उसी तक सीमित नहीं है, वह मनुष्य के सामाजिक जीवन को भी नियन्त्रित करता है ।[2] इसी परिपेक्ष्य में स्वामी जी ने माना कि मनुष्य की धार्मिक आवश्यकता का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । चर्च, मन्दिर आदि सभी धार्मिक संस्थाएँ हैं । इन सभी संस्थाओं ने मनुष्य को कल्याणकारी कार्य करने की ओर प्रेरित किया है ।

उनका विचार है सभी धर्मों का लक्ष्य है पूर्ण रूप से भक्ति, ज्ञान अथवा योग की शिक्षा देना वेदान्त इन साधना पद्धतियों का अमूर्त विज्ञान है ।[3] पवित्रता तथा नैतिकता धर्म के विषय रहे है ।[4] इन्द्रिय सुख मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है । ज्ञान ही सफल प्राणी का लक्ष्य है । स्वामी जी शुद्धता पर विशेष बल देते हैं । दूसरों के प्रति सहिष्णुता पूर्ण नीति का पालन करे । प्रत्येक मनुष्य में शिव का दर्शन कर उसकी सेवा सुश्रुण करे ।[5]

---

1. "रिलीजस एण्ड मॉरल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद", शैल कुमारी सिंह, पृष्ठ - 20
2. "रिलीजस एण्ड मॉरल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद", शैल कुमारी सिंह, पृष्ठ - 21
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 228
4. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 174
5. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ 120

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी के धार्मिक विचार भारतीय धार्मिक परम्परा के मुख्य लक्ष्य मनुष्य मात्र का कल्याण करने में सहायक हैं । स्वामी जी ने देश में धार्मिक, साम्प्रदायिक विवादों को दूर करने के लिए मनुष्य को जोड़ने का अभियान धर्म के माध्यम से आरम्भ किया वे मानते हैं कि धर्म का स्थान राजनीति से भी श्रेष्ठ है ।[1] अतः जीवन की अनेक समस्याओं को हम धर्म के माध्यम से ही सुलझा सकते हैं । उनका कहना था कि धर्म सब कुछ है और सब वस्तुओं में है ।[2]

सर्व धर्म समन्वयः-

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त के विभिन्न, सम्प्रदाओं एवं भारतीय दर्शनों में जिनमें बहुत समय से विरोध चला आ रहा है, विवेकानंद ने उनका समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया । द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत आदि सम्प्रदायों में समन्वय विद्यमान है ।[3] जिस तरह हमारे षड दर्शन महान तत्व समूहों के अद्भुत क्रम विकास मात्र है, जो संगीत के समान पिछले धीमे स्वर वाले परदों से उठते हैं और अन्त में अद्वैत की गम्भीर ध्वनि में समाप्त होते हैं, उसी तरह अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतों में भी मनुष्य मन उच्च से उच्च आदर्शों की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में सभी मत अद्वैतवाद के उच्चतम सोपान पर पहुँचकर अद्भुत एकत्व में परि समाप्त हुए हैं ।[4] जिस प्रकार से विभिन्न नदियाँ भिन्न - स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रूचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 38
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 241, 243
3. भारत में विवेकानंद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 305
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 305, 9

रास्ते से जाने वाले लोग अन्त मे एक ही लक्ष्य को प्राप्त होते हैं ।[1] इसी तरह - "दर्शन, द्वैतवाद से प्रारम्भ होकर विशिष्टाद्वैत से होता हुआ शुद्ध अद्वैतवाद मे विकसित होता है ।"[2]

विवेकानंद के अनुसार हमे धर्मान्धता एवं सकीर्णता से अपने आपको ऊपर उठाना है एवं सभी धर्मो का सम्मान करना है । कूप - मण्डूक बनने से काम नहीं चलेगा, "हिन्दू अपने छुद्र कुए में बैठा हुआ यह समझता है कि - मेरा कुआं ही सम्पूर्ण संसार है, इसी तरह ईसाई और मुसलमान भी अपने-अपने क्षुद्र कुएँ में बैठे हुए उसी को सारा ब्रम्हाण्ड मानते है । अतः हमें अपने-अपने इन क्षुद्र कुओं से निकलना है ।[3] सब धर्मो में समन्वय स्थापित करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि "विश्व के सब धर्म मूलतः अभिन्न हैं ।"[4] प्रत्येक धर्म का उद्देश्य ससीम को असीम का साक्षात्कार कराना है ।"[5] त्रिज्याएँ हजारों हो सकती हैं परन्तु सभी एक केन्द्र बिन्दु पर आकर मिलती है ।[6] उसी प्रकार विभिन्न धर्म पृथक-पृथक प्रतीत होते हुए भी सबका मूल उद्देश्य परमतत्व है ।

स्वामी जी के अनुसार धर्म का तात्पर्य कोई मत विशेष या सम्प्रदाय विशेष नहीं है । उन्होंने धर्म को मन बुद्धि से परे और प्रत्यक्षानुभूति से अभिन्न बतलाया

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 4
2. आत्म तत्व, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 21
3. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 6
4. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 227
5. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 234
6. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 334

है ।[1] इस दृष्टि से वे वेदान्त और धर्म को अभिन्न मानते हैं । विवेकानन्द ने कहा, हिन्दुओं के ब्रह्म, जोरास्तरों के आहुर-मजदा, बौद्धों के बुद्ध, यहूदियों के यहोवा, ईसाइयों के स्वर्गीय पिता आपको शक्ति दे । ईसाई को हिन्दू या बौद्ध बनाना अथवा हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनाना आवश्यक नहीं परन्तु प्रत्येक को दूसरे की भावना आत्मसात करनी है और साथ ही अपना वैशिष्टय अक्षुण्य रखते हुए अपने ही नियमों के अनुसार विकास करना है ।"[2]

इस प्रकार विवेकानंद ने सर्व-धर्म महा सम्मेलन में सिद्ध कर दिया कि धार्मिकता, पवित्रता और सहिष्णुता विश्व के किसी एक मठ की बपौती नहीं है, और प्रत्येक व्यवस्था ने उदारचरित अन्यतम नर एवं नारी उत्पन्न किए हैं । उनके शब्दों में, प्रत्येक धर्मपताका पर अब प्रतिरोध के स्थान पर अंकित होगा "लड़ो नहीं साथ दो" खण्डन नहीं, संगम, समन्वय और शान्ति,विग्रह नहीं ।[3]

विवेकानन्द ने कहा है, मैं एक ऐसा धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब प्रकार की मानसिक अवस्था वाले लोगों के लिए उपयोगी हो, इसमे ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय भाव हो । मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा।[4] विवेकानंद के अनुसार हर धर्म का परम उद्देश्य यही है कि आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन किया जाय । यहीएक सार्वभौमिक धर्म है, वे कहते हैं, सभी धर्मों में कोई

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 1
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 21
3. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 83
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 150-151

एक सर्वव्यापी सत्य है, तो मै कहूँगा कि वह है ईश्वर को पाना । आदर्श और साधन भिन्न - भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सभी का मौलिक तथ्य यही है, सभी धर्म एक है विभिन्न देशों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण उनके बाह्य रूप में भिन्नता आ गई है ।[1]

इसी परिपेक्ष्य में वे आगे कहते हैं - धर्म का अध्ययन अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिये। सम्प्रदाय जाति व राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा । हर जाति या राष्ट्र को अपना अलग-अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त करना एक अन्ध विश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए । ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा ।[2] वे कहते हैं कि धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए । ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक-दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए । ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त सगुण, निर्गुण, अनन्त नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए ।[3]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विवेकानंद ने समस्त धर्मों और सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह सिद्ध कर दिया कि - धर्म में साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धता आदि के लिए कोई स्थान

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 234, 235
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 200
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 394

नहीं है । धर्म अनुभूति की वस्तु है । आत्मा के ब्रह्म स्वरूप को जान लेना, तद्रूप हो जाना, उसका साक्षात्कार करना यही धर्म है । इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी सर्व-धर्म समन्वय के आधार पर विश्व-बन्धुत्व की स्थापना करना चाहते थे ।

विश्व - बन्धुत्व की स्थापना तभी हो सकती है जब मानव धर्म की स्थापना हो । मानव-धर्म की स्थापना के लिए आवश्यक है कि - धार्मिक कुरीतियों का निराकरण किया जाय । रूढ़िवाद को उन्होंने "रसोई-धर्म" अस्पृश्यता वाद कहकर उसकी तीव्र आलोचना की । उन्होंने कहा "कोई आदमी संसार के सारे सम्प्रदायों में विश्वास करता हो, समस्त धर्म ग्रन्थों का ज्ञान वहन करता हो अथवा संसार की सभी पवित्र नदियों में स्नान कर पुण्य कमा चुका हो, पर यदि उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है, तो मैं उसे पहले सिरे का नास्तिक समझूँगा ।[1] अंधविश्वास मनुष्य का महान शत्रु है और धर्मान्धता तो उससे भी बड़ा शत्रु है ।[2]

मूर्ति पूजा के विषय में स्वामी जी कहते हैं कि - आजकल मूर्ति पूजा को गलत बताने की एक प्रथा सी चल गयी है मैंने भी किसी समय ऐसा ही सोचा था - किन्तु दण्ड स्वरूप मुझे ऐसे व्यक्ति के चरण कमलों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी जिन्होंने सब कुछ मूर्ति पूजा के द्वारा ही प्राप्त किया था । यदि मूर्ति-पूजा द्वारा रामकृष्ण परमहंस उत्पन्न हो सकते हैं तो और हजारों मूर्तियों की पूजा करो ।[3] मूर्ति पूजा हमारे आध्यात्मिक विकास (निम्नतर से उच्चतर) की प्रक्रिया

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 234
2. विवेकानंद संचयन, भगिनी निवेदिता, पृष्ठ - 16
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 113

में एक प्रारम्भिक प्रक्रिया है । वे कहते हैं कि मूर्ति पूजा करने वालों की निन्दा मत करो ।[1] ईश्वर की अनुभूति के लिए मूर्ति पूजा ठीक वैसी ही है जैसी बाल्यावस्था वृद्धावस्था की परिपक्व बुद्धि के लिए है।

मूर्ति पूजा के विरोध की समीक्षा करते हुए विवेकानंद जी ने कहा है कि यद्यपि मूर्ति पूजा उच्चकोटि की उपासना नहीं है - और नहीं किसी प्राचीन पुराण में ही मूर्ति पूजा को ऊँचे दर्जे की उपासना बताया गया है । परन्तु यदि भगवान की मूर्ति बनाकर इस प्रेम के आदर्श पर पहुँचने मे मनुष्य को कुछ भी सहायता मिलती है तो उसे एक की जगह बीस मूर्तियाँ पूजने दो । चाहे कोई भी काम क्यों न हो, यदि उसके द्वारा धर्म के उस उच्चतम आदर्श पर पहुँचने में सहायता मिलती हो तो उसे अबाध गति से करने दो, पर हाँ वह नैतिकता के विरूद्ध न हो । ऐसा इसलिए कहा गया है कि - नैतिकता विरोधी काम हमारे धर्म-मार्ग में सहायक नहीं होते बल्कि व्यवधान ही उपस्थित करते हैं ।[2]

विवेकानंद जी आगे कहते हैं कि - धर्म बुद्धि के परे है और बल - प्राकृतिक है । श्रद्धा का अर्थ कुछ भी मान लेना नहीं है - वह है उस चरम तत्व को हस्तगत करना, वह एक प्रकाश है । पहले उस आत्म तत्व के सम्बन्ध में श्रवण करो, उसके बाद विचार करो - विचार द्वारा उक्त आत्म-तत्व के सम्बन्ध में यथा शक्ति जानने का प्रयत्न करो । इसके ऊपर से विचार की बाढ़ को बहने दो- उसके बाद जो शेष रहे उसी को गृहण करो । यदि कुछ भी शेष न रहे, तो तुम भगवान को धन्यवाद दो, क्योंकि तुम एक अन्ध विश्वास से बच गए । और जब तुम्हें यह निश्चय हो जाएगा कि तुम्हारी आत्मा को कोई भी नहीं ले जा सकता, तब आत्मा

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 347
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 28

हर कसौटी पर खरी उतरेगी ।[1]

विवेकानन्द जी मानते हैं कि धर्म हमारे भीतर ही है । कोई गुरू या कोई शास्त्र हमें उसकी प्राप्ति में सहायता मात्र दे सकते हैं इसके अतिरिक्त वे और कुछ भी नहीं कर सकते । शास्त्र और आचार्यों के प्रति कृतज्ञ रहो, किन्तु देखो वे तुम्हे कहीं बद्ध न कर लें । गुरू को ईश्वर समझकर तुम उनकी उपासना करो, किन्तु अन्ध भाव से उनका अनुसरण मत करो, जहाँ तक हो सके उनसे प्रेम करो, किन्तु स्वाधीन भाव से विचार करो । किसी प्रकार का अन्ध विश्वास तुम्हें मुक्ति नहीं दे सकता, तुम स्वयं मुक्ति प्राप्त कर लो । ईश्वर के सम्बंध में यह एकमात्र धारणा रखो कि वे हमारे नित्य सहायक है ।[2]

वे आगे कहते हैं कि - मानव शरीर की अपेक्षा और कोई बड़ा तीर्थ नहीं है । इस शरीर में जितना आत्मा का विकास हो सकता है, उतना और कहीं नहीं। श्री जगन्नाथ जी का जो रथ है, वह भी मानो इसी शरीर रूपी रथ का एक स्थूल रूप है । इस शरीर रूपी रथ में हमें आत्मा का दर्शन करना होगा ।

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमो तु ।

मध्ये वामन आसिन् विश्वे देवा उपासते" ।[3] इसमें जो वामन रूपी आत्मा के दर्शन का वर्णन किया गया है, वही, ठीक जगन्नाथ दर्शन है । इसी प्रकार "रथे

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 73
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 101
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 81

च वामनं दृष्टवा पुनर्जन्म न विद्यते ।[1] का भी यही अर्थ है - "तेरे शरीर में जो आत्मा है उसका दर्शन यदि तू कर लेगा तो फिर तेरा पुनर्जन्म नहीं होगा, परन्तु अभी भी तू इस आत्मा की उपेक्षा कर अपने इस विचित्र गढ़ शरीर को ही सर्वदा "मैं" समझा करता है । यदि लकड़ी के रथ में भगवान को देखकर ही जीव की मुक्ति हो जाती, तब तो प्रत्येक वर्ष करोड़ों मनुष्यों को ही मुक्ति लाभ हो जाता और आजकल तो जगन्नाथ जी पहुँचने के लिए रेल की भी सुविधा हो गयी है । फिर भी मैं जगन्नाथ जी के सम्बन्ध में साधारण भक्तों का जो विश्वास है उसके बारे में यह नहीं कहता हूँ कि वह कुछ भी नहीं अथवा मिथ्या है । सचमुच एक श्रेणी के लोग ऐसे हैं भी जो इसी - मूर्ति का अवलम्बन कर धीरे-धीरे उच्च तत्व को प्राप्त हो जाते हैं । अतएव इस मूर्ति का आश्रय लेकर भगवान की विशेष शक्ति जो प्रकाशित हो रही है, इसमें भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।[2]

कर्मकाण्डों के विषय में विवेकानंद जी कहते हैं कि जिस धर्म की जड़े-प्रथा और रूढ़ियों में होती है वह दुकानदारी का धर्म हो जाता है । जिसमें ईश्वर साध्य नहीं साधन बन जाता है ।[3] उन्होंने तंत्र पर आधारित कर्मकाण्ड पूर्ण धर्म की बड़ी आलोचना की और कहा कि इसमें गुरू और शिष्य का सुन्दर सम्बंध भी गर्हित हो गया है । "गुरूवाद हमारे देश में बड़ा चलता हुआ धन्धा है ।"[4] इसी प्रकार उन्होंने भोजन और स्नान विधिक विषय में भी पाये जाने वाले अनेकों पाखण्डों की आलोचना कर धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया । क्योंकि धार्मिक कुरीतियों ने ही हमारी राष्ट्रीय एकता को सदा हानि पहुँचाई है । वास्तव में जो धार्मिक प्रवृत्ति

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 82
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 83
3. आधुनिक भारतीय चिन्तन, बी0एस0 नरवणे, पृष्ठ - 111
4. आधुनिक भारतीय चिन्तन, बी0एस0 नरवणे, पृष्ठ - 111

के लोग है वे इन झगड़ों में नहीं पड़ते । वे जानते है कि सभी धर्मों का प्राण एक ही है वे भाषा इत्यादि को लेकर झगड़ा नहीं करते । धार्मिक विविधता स्वाभाविक है । वे मानते हैं कि प्रकृति एक रस है, विविधता अभिव्यक्ति से है । "नेचर" के लिए संस्कृत शब्द है प्रकृति - जिसका अर्थ है - विभेद सब कुछ एक है किन्तु विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ ।[1]

इसी आधार पर सामूहिक धर्म कभी नहीं हो सकता । धर्म का यथार्थ कार्य तो स्वयं अपने ही सोचने का विषय है । मेरी अपनी एक भावना है मुझे उसको पवित्र और गुप्त रखना चाहिए जो भावना हमारी है वहीं दूसरे की भी हो वह आवश्यक नहीं है ।[2]

स्वामी जी की धर्म निरपेक्षता:-

स्वामी जी के धार्मिक विचारों का सारांश यह है कि वे पूर्णतया निरपेक्ष वादी थे - स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि मैं अतीत के समस्त धर्मों को स्वीकार करता हूँ और उनकी पूजा करता हूँ । मैं ईश्वर की पूजा सभी धर्मों के अनुसार करता हूँ । चाहे वे जिस रूप में उसकी पूजा करते हो । मैं मुसलमानों की मस्जिद में चला जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजाघर में जाकर क्रास के सामने घुटने टेकूँगा । बौद्ध - विहार में प्रविष्ट होकर, बुद्ध और उनके संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर हिन्दुओं के पास बैठ, ध्यान में निमग्न हो उनकी भाँति सबके हृदय को उद्भासित करने वाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा । मैं भविष्य में आने वाले सभी धर्मों के लिये अपना हृदय खुला रखूँगा ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 163
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 53
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 273

स्वामी जी का मानना है कि संसार की समस्त धार्मिक अनुभूतियाँ एक अद्भुत ग्रन्थ है । बाइबिल, वेद, कुरान और अन्य धार्मिक ग्रन्थ समूह मानो उसी ग्रन्थ के विभिन्न पृष्ठ है और उसके असंख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित है । अतीत में जो कुछ भी हुआ है वह सब हम ग्रहण करेंगे । वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में आनेवाली बातों को ग्रहण करने के लिय अपने हृदय के सारे दरवाजों को हम खुला रखेंगे अतीत के ऋषियों को प्रणाम, वर्तमान के महापुरूषों को प्रणाम और जो-जो भविष्य में आएंगे उन सब को प्रणाम ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी सार्वभौमिक धर्म में विश्वास करते हैं । उनका कहना है कि अब ऐसा अवसर आ गया है जब ऐसे पुरूष जन्म ले, जो देखें कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे हैं,[2] और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिनका हृदय, निर्बल और पददलितों के लिये पानी-पानी हो जाये और साथ ही जिनकी असाधारण तीव्र बुद्धि न केवल भारतवर्ष के, वरन् भारतेत्तर देशों के भी सारे विरोधी मत - मतान्तरों में समन्वय स्थापित कर दें । और इस प्रकार एक अद्भुत समन्वय और सार्वभौम धर्म का अविष्कार करें । ऐसे पुरूष का जन्म हुआ और मुझे उनके चरणों के समीप वर्षों तक बैठकर शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।[3] अपने गुरूदेव से मैने इस अद्भुत सत्य को सीखा कि संसार के भिन्न-भिन्न धर्म एक दूसरे से असंगत या विरोधी नहीं है । वे सब एक ही सनातन - धर्म के भिन्न - भिन्न रूप हैं ।[4]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), 373-74
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 267
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 186
4. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 180

श्री रामकृष्ण ने कभी किसी के विरूद्ध कोई कड़ी बात नहीं कही । उनमें ऐसी अपूर्व सहिष्णुता थी कि हर एक धर्म वाला व्यक्ति यही समझता था कि ये उसी के धर्म के मानने वाले हैं । सब पर उनका प्रेम था । उनके लिये सभी धर्म सच्चे थे । उनका सारा जीवन मतवाद और साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमा को तोड़ने में ही बीता ।[1]

मानव - जाति को जिसे तीव्रतम प्रेम का अनुभव हुआ है, वह धर्म से ही प्राप्त हुआ है । धार्मिक क्षेत्र के पुरूषों से ही संसार के अत्यत उदार शांति सन्देश प्राप्त हुए हैं - फिर संसार ने घोरतम निन्दा - वाक्य भी धर्म में आस्था रखने वालों के द्वारा ही कहे गये हैं ।[2]

प्रत्येक धर्म अपने सिद्धान्तों को सामने रखता है और इस पर जोर देता है कि केवल वे ही सत्य है । कोई-कोई तो अपने धर्म मतों को जबरदस्ती मनवाने के लिये तलवार तक खींच लेते हैं । यह बात नहीं है कि दुष्टता के कारण ऐसा किया जाता हो, पर इसका कारण है, मानव-मन की एक प्रकार की बीमारी, जिसे धर्मान्धता कहते हैं।[3] किन्तु इन झगड़ों और झंझटों, धर्मों और मतों की पारस्परिक घृणा और द्वेष के बावजूद भी समय-समय पर शांति और समन्वय की घोषणा करने वाली शक्ति मयी आवाजें सिर उठाती रही हैं ।[4]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 24
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 375
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 377
4. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 376

धर्म एवं विज्ञानः-

स्वामी विवेकानंद जी आधुनिक वैज्ञानिक विचार धारा से विशेष रूप से प्रभावित थे । धार्मिक व्यख्याओं के अनेक स्थलों पर विज्ञान के उदाहरण देकर उन्होंने अपने मत की पुष्टि की है । वेदान्त दर्शन की व्याख्या करते - करते प्रायः वे विज्ञान के किसी न किसी क्षेत्र में भौतिकी, खगोल, गणित अथवा जीव विज्ञान के क्षेत्र में चले जाते थे । उनका विचार था कि - धर्म और विज्ञान में घनिष्ठ सम्बंध है वे कहते हैं कि भारत को धार्मिक शिक्षा की नहीं तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता है ।[1]

वैज्ञानिक पद्धति को वे अध्ययन करने की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानते थे । उनका दृष्टिकोण है कि - वैज्ञानिक पद्धति में एक सीमित क्षेत्र की विषय-सामग्री का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है । इस पद्धति मे बड़े धैर्य, साहस, कठोर - परिश्रम, रचनात्मक कल्पना शक्ति और तटस्थता की आवश्यकता होती है । इस वैज्ञानिक अभिवृत्ति या भावना के बिना कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिक पद्धति से लाभ नहीं उठा सकता । वैज्ञानिक पद्धति से कार्य प्रारम्भ करने के पहले अनुसंधान करने वालों को उस समस्या की सूक्ष्म व्याख्या करनी चाहिए । जिस पर वह खोज करना चाहता है । यह व्याख्या जितनी अधिक स्पष्ट होगी, खोज करने में उतनी ही अधिक आसानी होगी ।[2]

वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं में व्यापकता, निश्चयता, यथार्थता, व्यवस्था पाई जाती है । वैज्ञानिक ज्ञान की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है । इसके अतिरिक्त

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 52
2. दर्शन की मूल धारणाएं, डॉ0 अर्जुन मिश्र, पृष्ठ - 57

वैज्ञानिक चिन्तन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है । इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक चिन्तन की अनेक मान्यताएँ भी हुआ करती हैं जैसे - दिक् - काल, उर्जा, कारण - कार्य भाव, ज्ञान की सम्भावना, बुद्धि की ज्ञान प्राप्ति की योग्यता आदि के अस्तित्व में विश्वास । विज्ञान का लक्ष्य अनुसन्धान के द्वारा एकत्व की खोज है ।

विज्ञान का प्रयोग धर्म के क्षेत्र में करने की आवश्यकता है । वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा धर्म का विश्लेषण किया जाता है । धर्म के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य मिथ्या से सत्य की ओर नहीं जाता, परन्तु निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है ।[1] धर्म में परम श्रेयस की धुंधली चेतना होती है । धर्म में मूल्यों की अपर्याप्तता अथवा अपूर्णता की चेतना होती है जो कि विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार न्यूनाधिक तीव्र होती है । अपने वर्तमान जीवनसे असंतोष और उच्चतर लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा तथा प्रवृत्ति होती है । इस लक्ष्य को ईश्वर, निर्वाण, पूर्णत्व अथवा मोक्ष आदि नामों से पुकारा जाता है ।[2]

स्वामी विवेकानंद जी के विचारों में धर्म और विज्ञान के बीच सामंजस्य पाया जाता है । उनके मतानुसार - विज्ञान एकत्व की खोज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । उदाहरण स्वरूप रसायन शास्त्र यदि एक बार पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा । इसी प्रकार भौतिकी जब उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगी, अन्य शक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति है, तब वह वहीं रूक जाएगी । इसी प्रकार जब वैज्ञानिक विधि के द्वारा-धर्मशास्त्र भी इस परिवर्तनशील जगत का शाश्वत आधार परमात्मा (ब्रह्म) का यथार्थ स्वरूप ज्ञात कर लेगा तो धर्म का उद्देश्य पूर्ण हो जायेगा । इस प्रकार अनेकता और द्वैत में होते

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 37
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 37

हुए इस परम अद्वैत की प्राप्ति होती है । धर्म इससे आगे नहीं जा सकता । यही समस्त विज्ञानों का चरम लक्ष्य है ।[1]

प्राय. यह स्वीकार किया जाता है कि धर्म मे निश्चयत्व का अभाव है क्योंकि अनुभव पर आधारित विज्ञान के रूप में इसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती । किन्तु रहस्यवादी इस बात को स्वीकार नहीं करते तथा सदैव एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं ।[2] धर्मार्थी व्यक्ति पहले किसी धर्मक्षेत्र में धार्मिक शिक्षा ग्रहण करता है और तब उसका अभ्यास करता है वह अनुभव को अपने धर्म का आधार नहीं बनाता किन्तु रहस्यवादी व्यक्ति सत्य का अन्वेषण अपने निजी अनुभव के आधार पर करता है तब अपने मत का सूत्रपात करता है । धर्म संघ बाहर से भीतर की ओर जाता है किन्तु रहस्यवादी भीतर से बाहर की ओर जाता है । विवेकानद जी का कथन है कि धर्म तात्विक (आध्यात्मिक) जगत के सत्यों से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत के सत्यों से । धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तुम्हारी पुस्तक अपनी बुद्धि तथा हृदय है ।[3]

कभी - कभी तो विवेकानंद ने यहाँ तक कह दिया है कि - धर्म भी एक विज्ञान ही है । जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत के नियमों का अनुसंधान करता है, उसी प्रकार धर्म नैतिक और तत्वमीमांसीय जगत के सत्यों से सम्बद्ध है और मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव के भव्य नियमों की खोज करता है दोनों ही एकता के लिए अभियान करते हैं, और दोनों ही यद्यपि विभिन्न दिशाओं से व्यक्ति और जाति के लिए मुक्ति की खोज करते हैं एक अर्थ में समस्त ज्ञान ही धर्म है, और एक अन्य

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 16
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), 25।
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 25।

अर्थ में समस्त ज्ञान ही विज्ञान है ।[1] इस प्रकार स्वामी जी के विचारों में जहाँ धर्म को विशेष स्थान प्राप्त है वहीं विज्ञान का स्थान गौण है । विज्ञान और धर्म दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और वे मानते थे कि धर्म और विज्ञान के सम्मिलित योगदान से ही विश्व का कल्याण सम्भव है ।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी का धर्म - मानव मात्र का कल्याण करने वाला धर्म कहा जाता है वह जाँति-पाँति की दीवारों को गिराने वाला है । इसी कारण उनके धर्म को मानव धर्म की संज्ञा दी गई । उन्होंने कहा कि ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त सगुण, निर्गुण अनन्त-नैतिक, नियम अथवा आदर्श मानव धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए । आत्म त्याग ही सर्वोच्च लोक का धर्म है ।[2] और यही सच्चा मानव धर्म है । बुद्धि और हृदय का प्रयोग कर ही धर्म के वास्तविक लक्ष्य सत्य अर्थात ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है ।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी धर्म को विज्ञान से जोड़कर एक ऐसे धर्म की स्थापना करना चाहते हैं जिसे सच्चे अर्थों में मानव धर्म की संज्ञा दी जा सके । यही मानव धर्म सार्वभौमिक धर्म है ।

विवेकानंद जी का शिक्षा-दर्शन

शिक्षा की समस्या भारतीय जन-मानस की अनेकों मूलभूत समस्याओं की जननी है । हमारे शास्त्रकारों ने प्रारम्भ से शिक्षा के विषय में इस प्रकार का विधि-विधान कर दिया था कि कालान्तर में देश में एक भीषण स्थिति पैदा हो गई ।

---

1. विवेकानंद का दार्शनिक चिन्तन, डॉ0 भारत कुमार तिवारी, पृष्ठ - 146-147
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 200

ब्राह्मणों और क्षत्रियों को जहाँ विशेषाधिकार प्राप्त थे, वहीं अन्य जातियों को शिक्षा अधिकार से वंचित रखा गया । वैश्यों की स्थिति कुछ ठीक भी रही तो धर्मशास्त्रों में शूद्र शिक्षा के विषय में कोई नियम नहीं है ।[1] अंग्रेजों के शासन काल तक देश की सांस्कृतिक विरासत का इस हद तक दोहन हो चुका था कि पाश्चात्य शिक्षा की आंधी भारतीय अन्तःकरण को उद्वेलित कर रही थी । अतः देश में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का स्थापना की तीव्र आवश्यकता थी । अंग्रेजों द्वारा चलाई गई शिक्षा - प्रणाली से चारों ओर विद्रोह हो रहा था । स्वामी विवेकानंद जी ने अपने समय की अनेकों समस्याओं के समाधान हेतु शिक्षा की समस्या को भी हल करने के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए ।

स्वामी विवेकानंद जी ने अपने विचारों में 'पाश्चात्य' शिक्षा प्रणाली की तीव्र आलोचना की । उन्होंने कहा कि - पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली हमारी भारतीय संस्कृति से मेल नहीं खाती । विश्वविद्यालयी शिक्षा ने हमारे विद्यार्थियों को सिखाया है कि हमारा कोई राष्ट्रीय इतिहास नहीं है ।[2]

विवेकानंद जी का विचार है कि - जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो चरित्र-निर्माण नहीं कर सकती वह शिक्षा नहीं है । कुछ उपाधियाँ प्राप्त कर लेने या अच्छा भाषण दे सकने से ही सभी शिक्षित नहीं हो जाते । आजकल स्कूल-कॉलेज से प्राप्त होने वाली शिक्षा से अजीर्ण के रोगियों की एक जमात पैदा हो गई है । इस शिक्षा से मनुष्य का बाह्य परिवर्तन तो हो रहा है किन्तु आन्तरिक (आत्मा) परिवर्तन की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है।[3]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड), डॉ0 वी0वी0 वामन एवं कार्णे, पृ0-248,249
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 228
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 106

विश्वविद्यालयी शिक्षा मात्र "बाबू" पैदा करने की मशीन बन कर रह गयी है । इस शिक्षा से लोग - श्रद्धा और विश्वास से रहित होते जा रहे हैं । विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त लोग कहने लगे हैं कि - "गीता एक प्रक्षिप्त अंश है और वेद देहाती गीत मात्र है । वे भारत के बाहर के देशों तथा विषयों के सम्बन्ध में तो हर बात मानना चाहते हैं किन्तु उनसे यदि उनके पूर्वजों के नाम पूछे जाय तो चौदह पीढ़ी तो दूर रही सात पीढ़ी तक भी नहीं बता सकते ।[1]

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए विवेकानंद ने उसकी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की है जिसे अपने गधे को घोड़ा बनाने के लिए खूब पीटने की सम्मति दी गई थी और उस व्यक्ति ने अपने गधे को घोड़ा बनाने की इच्छा से इस हद तक पीटा कि वह मर ही गया ।[2]

स्वामी जी स्वतंत्र रूप से व्यक्तित्व को निखारना चाहते थे इसी कारण वे कहते हैं कि - प्रत्येक विद्यार्थी में ऐंसी असंख्य प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं जिनके विकास के लिए समुचित क्षेत्र की आवश्यकता है । बच्चों में सुधार के लिए अनुचित रूप से पीटने और ठोक-पीट करने की जो प्रणाली है उसे स्वामी जी ने स्वीकार नहीं किया, उन्होंने कहा कि किसी को सिंह न बनने दोगे, तो वह सियार ही बनेगा ।[3] मौलिक चिन्तन की कमी ही भारत की वर्तमान हीन अवस्था का कारण है । स्वामी जी ने कहा कि - भारत के उत्थान के लिये एक समुचित शिक्षा - प्रणाली की आवश्यकता है शिक्षा के बिना भारतीयों में आत्म विश्वास नहीं उत्पन्न हो सकता ।[4]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 227-228
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 228
3. शिक्षा, संस्कृति और समाज, विवेकानंद, पृष्ठ - 18, 19
4. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 397

जिस समय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद तथा हिन्दू विश्वविद्यालय आदि की किसी ने कल्पना तक नहीं की थी उस समय स्वामी जी ने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा संस्था स्थापित करने का संकल्प व्यक्त किया जिस पर विदेशियों का किसी भी प्रकार से आधिपत्य न हो । लौकिक शिक्षा को जातीय-आदर्श के अनुकूल बनाने के लिए उनकी इच्छा थी कि वे भारत के अनेकों केन्द्रों मे अनेक शिक्षालयों की स्थापना करें। इन शिक्षालयों में शिक्षित युवक नए सिरे से शिक्षा प्राप्त करे । इन शिक्षालयों मे शिक्षित युवक नए सिरे से शिक्षा प्रदान भी करें। और निम्न स्तर पर चाण्डाल को ब्राह्मण बनाने के लिए शिक्षा का प्रसार करे । उच्च वर्गों की शिक्षा व सदाचार निम्न जातीयगण भी बिना रोक-टोक के प्राप्त कर सके - यही नवीन शिक्षा-प्रणाली की विशेषता होगी ।[1]

स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-प्रणाली, पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से भिन्न है। स्वामी जी की शिक्षा प्रणाली भारतीय संस्कृति की प्राचीन शिक्षा प्रणाली के अनुरूप है ।[2] भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप अति प्राचीन काल से ही शिक्षा का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति का वर्तमान जीवन में तो कल्याण करना था कि मुख्यतया वह पारलौकिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती रही है । वह व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करती रही है । वेदों उपनिषदों आदि धर्मशास्त्रों में शिक्षा का जो स्वरूप प्राप्त होता है उसके आधार पर अति प्राचीन भारतीय शिक्षण - पद्धति की विशेषताएं इस प्रकार हैं-

---

1. एजूकेशनल फिलासफी ऑफ स्वामी विवेकानंद, टी0एस0 अविनाश, लिंसम, पृष्ठ - 146
2. युग प्रवर्तक विवेकानंद, अपूर्वानंद स्वामी, पृष्ठ - 30

1. आचार्य को उच्च एवं सम्माननीय पद प्राप्त था ।
2. गुरू-शिष्य में व्यक्तिगत सम्बंध था । गुरू शिष्य पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देता था ।
3. शिष्य, गुरू के कुल के सदस्य के रूप में रहता था ।
4. अनुशासन कठोर था । संवेगों एवं इच्छा पर संयम किया जाता था ।
5. शिक्षा सस्ती थी, क्योंकि कोई निर्दिष्ट शुल्क नहीं लिया जाता था ।
6. शिक्षा मौखिक थी । पुस्तकों की सहायता सर्वथा नहीं ली जाती थी ।
7. यह विद्यार्थियों को साहित्यिक शिक्षा देती थी । विशेषत. वैदिक साहित्य, दर्शन, व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी ।[1]

किन्तु - पाश्चात्य प्रभाव के कारण - शिक्षा में अनेकों विकार उत्पन्न हो गए । किन्तु यहाँ इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारी प्राचीन शिक्षण पद्धति में कई दोष भी थे । भारतीय शिक्षण पद्धति के कुछ दोष इस प्रकार वर्णित हैं -

1. यह अत्यधिक साहित्यिक थी ।
2. स्मृति व्यायाम पर अधिक जोर दिया जाता था ।
3. व्यवहारिक शिक्षा, यांत्रिक शिक्षा पर कम जोर दिया जाता था ।
4. अनुशासन कठोर एवं निःरस था ।
5. विशिष्ट वर्गों को ही शिक्षा का अधिकार था ।
6. तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा की उपेक्षा की गई ।[2]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन एवं कार्णे, पृष्ठ - 250
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, (द्वितीय खण्ड), डॉ0पी0वी0 वामन एवं कार्णे, पृष्ठ - 250

शिक्षा प्रणाली की उपरोक्त कमियों को दूर करने के लिए स्वामी विवेकानंद जी सदैव प्रयत्नशील रहते थे । यही कारण है कि यूरोप और अमरीका के नगरों में सामान्य व्यक्तियों के स्तर और शिक्षा को देखकर स्वामी जी के मन में बार-बार अपने देशवासियों की दीन-दशा के लिए दुःख उत्पन्न होता था । उन्होंने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया कि इस दीन-दशा का कारण उपयुक्त शिक्षा का अभाव है । उन्होंने कहा - शिक्षा से आत्म विश्वास आता है और आत्म-विश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्म भाव जग उठता है । परन्तु हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित व संकुचित होता चला जा रहा है ।[1]

हमारे देश की वर्तमान स्थिति आयरलैण्ड के समान है । वर्तमान शिक्षा हमारे स्कूल के लड़कों का विनाश ही कर रही है । और इसका फल है- "श्रद्धा का अभाव" । इस समस्या का निदान एक मात्र शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है।[2]

स्वामी विवेकानंद जी शिक्षा का अर्थ व्यक्त करते हुए कहते हैं कि शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करती है ।[3] समस्त ज्ञान चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक मनुष्य के मन में है । बहुधा वह प्रकाशित न होकर रूका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हटता है तो हम कहते हैं कि हम सीख रहे हैं । ज्यों-ज्यों यह प्रक्रिया बढ़ती जाती है ज्ञान की वृद्धि होती जाती है जिस मनुष्य पर से यह आवरण अधिक उठता जाता है वह ज्ञानी है और जिसपर यह आवरण तह पर तह पड़ा रहता है वह अज्ञानी है । जिस पर से यह आवरण पूरा उठ जाता

---

1. शिक्षा, संस्कृति और समाज, विवेकानंद, पृष्ठ - 7
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 133
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 358

है वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है ।[1] इस प्रकार स्वामी जी एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता महसूस करते हैं जिसमें वेदान्त युक्त - पाश्चात्य विज्ञान, ब्रह्मचर्य के आदर्श और श्रद्धा तथा आत्म-विश्वास का समन्वय हो । अतः विदेशी नियंत्रण हटाकर, हमारे विविध शास्त्रों, विधाओं का अध्ययन होना आवश्यक है ... । साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात विज्ञान भी सीखना आवश्यक है । हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिसमें चरित्र निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के नवयुवक अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे ।[2]

यहाँ पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों से स्वामी जी के विचारों में पर्यान्त मतभेद-दिखाई देता है - पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार "ज्ञान मानव प्राणी के परिवेश की अन्तः क्रिया से उत्पन्न होता है ।" स्वामी जी प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुकूल होने के कारण कहते हैं "ज्ञान मनुष्य में उसके अन्दर से उत्पन्न होता है, बाहरी परिवेश के प्रभाव से नहीं । संसार का असीम ज्ञान भण्डार हमारे अन्दर ही है । जब ज्ञान का स्रोत हमारे ही अन्दर है तो स्वाभाविक है कि - शिक्षा स्वयं ही प्राप्त की जा सकती है । स्वामी जी ने कहा कि वास्तव में कभी किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं सिखाया । हममें से प्रत्येक को अपने - आपको सिखाना होगा। बाहर के गुरू तो केवल सुझाव अथवा प्रेरणा देने वाले कारण मात्र है । मनुष्य की आत्मा में अनन्त शक्ति निहित है चाहे वह जानता हो या नहीं । इसको जानना इसका बोध होना ही, प्रकट होना है ।[3] शिक्षा आत्म विकास की एक प्रक्रिया है। बालक स्वयं अपने आपको शिक्षित करता है । शिक्षक-बालक के आत्म-विकास के

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 422
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 229, 231, 277
3. शिक्षा संस्कृति और समाज, विवेकानन्द, पृष्ठ - 19-20

मार्ग में आने वाली बाधाओं को बाधित करता है । शिक्षक का कार्य बालक की देखभाल करना और उसको ऐसा परिवेश प्रदान करना जिसमे उसका समुचित विकास हो सके ।[1]

शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी शिक्षा पद्धति का जो मापदण्ड बताते हैं वह प्राचीन गुरूकुल प्रणाली पर आधारित है ।[2] भारत वर्ष की प्राचीन शिक्षा प्रणाली वर्तमान शिक्षा प्रणाली से एकदम भिन्न थी । विद्यार्थियों को शुल्क नहीं देना पड़ता था । शिक्षा को बेचना अनुचित समझा जाता था । शिक्षक वर्ग अपने विद्यार्थी को अन्न और वस्त्र भी दिया करते थे । शिक्षकों के निर्वाह के लिये धनिक लोग दान दिया करते थे । पुराने जमाने में शिष्य गुरू के आश्रम को **'समित्पाणि'** होकर (हाथ में समिधा लेकर) जाता था और गुरू उसकी योग्यता का निश्चय करने के बाद उसके कटि प्रदेश में तीन लड़ी वाली मेखला बांधकर उसे वेदों की शिक्षा देते थे । यह मेखला तन-मन और वचन को वश में रखने की उसकी प्रतिज्ञा की चिन्ह स्वरूप थी ।[3]

इसी क्रम में स्वामी जी शिक्षक अर्थात् गुरू के विषय में विस्तृत रूप से विचार करते हैं । वे कहते हैं कि गुरू के व्यक्तिगत जीवन के बिना कोई शिक्षा नहीं की जा सकती है ।[4] गुरू का चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान होना चाहिए। उसे त्यागी होना चाहिए । गुरू को शास्त्रों का मर्मज्ञ होना चाहिए । साथ ही आत्मा

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 324
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 227
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 472
4. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 224

की शुद्धता और निष्पाप होना चाहिए । उसे धन अथवा यश का मोह नहीं होना चाहिये। शिक्षक के मानव मात्र के प्रति विशुद्ध प्रेम होना चाहिए । गुरू को शिष्य की प्रवृत्ति में सारी शक्ति लगा देनी चाहिए सच्चा गुरू तो वह है जो क्षण भर मे अपने आपको मानो सहस्त्र पुरूषों के रूप में परिवर्तित कर सकता है । सच्चा गुरू अपने आपको शिष्य की सतह तक नीचे ला सकता है और अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है तथा शिष्य के मन द्वारा समझ सकता है । ऐसा ही गुरू यथार्थ रूप में शिक्षा दे सकता है दूसरा कोई नहीं ।[1]

स्वामी जी शिष्य के विषय में भी अपना विचार व्यक्त करते है । गुरू हमारे वंशज के समान हैं । शिष्य के मन में गुरू के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय और श्रृद्धा होना आवश्यक है । शिष्यों के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता शुद्धता की है । साथ ही ज्ञान की सच्ची पिपासा तथा लगन के साथ परिश्रम, विचार वाणी एवं कार्य की पवित्रता अत्यंत आवश्यक है ।[2] गुरू पर पूर्ण विश्वास और श्रृद्धा रखने की शिक्षा देते हुए भी स्वामी जी शिष्य को आँखें मूँद कर गुरू की आज्ञापालन करने से सावधान करते हैं । वे कहते हैं कि - प्रेम तो उनपर पूर्ण रूप से करो परन्तु स्वयं भी स्वतंत्र रूप से विचार करो ।[3] शिष्य को अपनी अन्तरिन्द्रियों और बहिरिन्द्रियों को नियन्त्रित करने में समर्थ होना चाहिए । उसमें मुक्त होने की आकांक्षा होनी चाहिये ।[4]

स्वामी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि व्यक्तित्व का निर्माण करना

---

1. शिक्षा संस्कृति और समाज - विवेकानंद, पृष्ठ - 24, 25
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 52
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 85, 86

विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 107

की पूंजी हैं । अच्छे विचार मनुष्य की प्रेरक शक्ति बन उसे अच्छे कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं ।[1]

अच्छे चरित्र के निर्माण में - दृढ़ संकल्प, साहस अच्छी आदतों का विशेष स्थान है । शिक्षक यदि बालकों में इन गुणों को विकसित करने के लिए प्रयास करें तो बालकों का चरित्र उज्ज्वल हो सकता है । किन्तु इसके आवश्यक है कि शिक्षकों का चरित्र उज्ज्वल हो ।

स्वामी जी के दर्शन में एकाग्रता पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है । ज्ञान को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है - एकाग्रता जिस प्रकार रासायनिक व्यक्ति अपनी प्रयोगशाला में अपने मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके, एक ही केन्द्र में स्थित करता है और तत्वों पर उन्हें प्रक्षेप करता है - उससे तत्व विक्षेपित हो जाते हैं और ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । ज्योतिषी भी एकाग्रता के द्वारा अपने विषय को ज्ञात करता है । इस प्रकार एकाग्रता ही ज्ञान की कुंजी है ।[2]

ध्यान को एकाग्र करने के लिये कुछ शर्तों की आवश्यकता होती है - जिसमें ब्रह्मचर्य का पालन सबसे पहली शर्त है । उन्होंने कहा कि - बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को शक्ति प्राप्त होती है । पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है । वासनाओं को वश में कर लेने पर शुभ फल प्राप्त होते हैं । काम शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित

---

1. एजूकेशनल फिलासफी ऑफ स्वामी विवेकानंद, टी0एस0 अविनाश लिंसग, पृष्ठ - 42, 43
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 358

कर लो - यह शक्ति जितनी ही अधिक प्रबल होगी, उससे उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा । ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करने से स्मरण शक्ति, प्रबल कार्य शक्ति, अमोघ इच्छा शक्ति, पवित्रता इत्यादि गुणों का विकास होता है । ब्रह्मचारी को मन, वचन तथा कर्म से शुद्ध रहना चाहिए । प्रत्येक बालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने की शिक्षा देनी चाहिए ।[1]

मन की एकाग्रता के लिए - ब्रह्मचर्य के साथ-साथ अनासक्ति का अभ्यास भी आवश्यक है । अनासक्ति के बिना एकाग्रता गलत रास्ते पर ले जाती है । अतः एकाग्रता और अनासक्ति दोनों ही संयुक्त आदर्श हैं । वे कहते हैं कि - यदि एक बार मुझे फिर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूँगा । मैं तो एकाग्रता की तथा मन को विषय से अलग करने की शक्ति बढ़ाऊँगा और तब साधन अथवा यंत्र की पूर्णता प्राप्त होने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा ।[2] स्वामी जी मानते हैं कि हमारे देश मे चारित्रिक पतन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण ब्रह्मचर्य और अनासक्त भावना का त्याग है । अतः प्रत्येक बालक में उपरोक्त गुणों का विकास करके ही श्रद्धा एवं विश्वास की उत्पत्ति की जा सकती है । तभी शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त किया जा सकेगा ।[3]

शिक्षा का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिये ? इस विषय पर भी एक शिक्षा शास्त्री की भाँति विवेकानंद जी ने अपने विचार विस्तार में प्रस्तुत किए हैं । उनका कहना है कि विचारों को आत्मसात करना आवश्यक है । उसका मनन आवश्यक

---

1. शिक्षा संस्कृति और समाज, विवेकानंद, पृष्ठ - 27
2. विवेकानन्द साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 224
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 369

है । विदेशी भाषा में दूसरे के विचारों को रटकर अपने मस्तिष्ट में उन्हें ठूँसकर और विश्वविद्यालयों की कुछ पदवियाँ प्राप्त करके शिक्षित बनने से शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो जाती । इस विश्वविद्यालयी शिक्षा से अधिक से अधिक यही हो सकता है कि मुंशी गिरी मिल जाना या वकील हो जाना या अधिक से अधिक डिप्टी मजिस्ट्रेट बन जाना, जो मुंशीगिरी का ही दूसरा रूप है । इससे न तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही विकास हो सकेगा और न ही देश का ही विकास हो सकेगा।[1] कभी हमारे देश में अन्न का अक्षय भण्डार रहा है, आज यहीं पर अन्न के लिये करूण पुकार उठ रही है । देश की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में यह विश्वविद्यालयी शिक्षा सक्षम नहीं है ।[1] यहाँ यह स्पष्ट हो गया है कि रामकृष्ण के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रभाव स्वामी विवेकानंद जी पर स्पष्ट रूप से था । रामकृष्ण की भाँति वे भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने के लिए आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा पर बल देते हैं । वही शिक्षा सबसे उत्तम है जो इहलोक और परलोक दोनों में व्यक्ति का कल्याण करें ।[2]

स्वामी जी ने कहा कि जिस प्रक्रिया से मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके उसी का नाम शिक्षा है ।[3] हम सर्वत्र सभी क्षेत्रों में मनुष्य बनाने वाली शिक्षा ही चाहते हैं ।[4]

स्वामी जी आधुनिक शिक्षा से प्रभावित होने के कारण यह स्वीकार करते

---

1. विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड, पृष्ठ - 182
2. भगवान रामकृष्ण धर्म एवं संघ, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 20
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 490
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 224

हैं कि शिक्षा को शिक्षार्थी के परिपेक्ष्य मे परिवर्तनशील होना चाहिये । अतीत के जीवनों ने हमारी प्रवृत्तियों को गढ़ा है इसलिये विद्यार्थी को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा का मार्ग दिखाना चाहिये । जो वहाँ पर हैं वहीं पर उसे आगे बढाओ ।[1] श्री रामकृष्ण देव जी का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि उन्हें जिन्हें हम बिल्कुल निकम्मा समझते थे उनके (विवेकानंद जी के) जीवन का प्रवाह ही बिल्कुल बदल दिया । उन्होंने कभी भी मनुष्य की विशेष प्रवृत्तियों को नहीं जब्त किया । उन्होंने अत्यंत पतित लोगों को आशा एवं उत्साह से परिपूर्ण कर उन्हें ऊँचा उठा दिया ।

अतः शिक्षा को शिक्षार्थी के अनुरूप ढालकर ही उसे रूचिकर और उपयोगी बनाया जा सकता है ।

स्वामी जी विद्यार्थियों को ठोक-पीटकर शिक्षित बनाने की प्रणाली का अन्त करने के पक्ष में हैं ।[2] माता-पिता के अनुचित दबाव के कारण हमारे बालकों को विकास का स्वतंत्र अवसर प्राप्त नहीं होता । हर एक में ऐसी असंख्य प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं, जिनके विकास के लिये समुचित क्षेत्र की आवश्यकता होती है[3] सुधार करने के लिये बलात उद्योग करने का परिणाम सदैव उल्टा ही होता है । समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में अवस्थित है । उसे केवल जागृति एवं प्रबोधन की आवश्यकता है । जिस प्रकार से पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है, उसी प्रकार किसी बालक को भी शिक्षा नहीं दी जा सकती । बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है । प्रत्येक बालक को केवल आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है । आवश्यकता केवल कुछ बाधाओं को हटा देने की है । ज्ञान अपने आप स्वाभाविक

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 170, 171
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 366
3. सोशियो पालिटिकल व्यूज ऑफ विवेकानंद, बी0के0 राय, पृष्ठ - 269

रूप से प्रकट हो जायेगा ।[1]

स्वामी जी शिक्षा प्रणाली का जो स्वरूप प्रस्तुत करते है, उसके माध्यम से बालक का समुचित विकास हो सकता है । बालक के शारीरिक और मानसिक गठन के लिये यह आवश्यक है कि वेदान्त और विज्ञान का समन्वय किया जाय । जिससे लौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव हो सके । इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये विवेकानंद जी संस्कृत की शिक्षा पर अत्यधिक जोर देते हैं, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से हमारी जाति को प्रतिष्ठा, बल और शक्ति प्राप्त होती है ।[2] भगवान बुद्ध ने एक बड़ी भूल की, कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का विस्तार बन्द कर दिया । वे शीघ्र और तत्कालीन परिणाम चाहते थे । इसीलिये उन दिनों की "पाली भाषा" में उन्होंने संस्कृत भाषा में निबद्ध भावों का भाषान्तर करके उनका प्रचार किया । स्वामी विवेकानंद जी चाण्डाल तक को जाज्वल्यमान मंत्रों का उपदेश सरल भाषा में देने के पक्षपाती थे । साथ ही सरल भाषा में जीवन के आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य - व्यापार और कृषि आदि की शिक्षा देने पर भी उन्होंने जोर दिया।[3]

उन्होंने कहा कि - सदियों से ऊँची जाति वालों, राजाओं और विदेशियों के अरूध्य अत्याचारों ने उनकी सारी शक्तियों को नष्ट कर दिया है । और अब शक्ति प्राप्त करने का पहला उपाय है उपनिषदों का आश्रय लेना और यह विश्वास करना कि "मैं आत्मा हूँ", "मुझे तलवार काट नहीं सकती, शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सूखा नहीं सकती । मैं सर्वशक्तिमान हूँ मैं सर्वदर्शी हूँ"।[4] वेदान्त

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 410
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 29
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 381
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 244

के इन सब महान तत्वों को अब जंगलों और गुफाओं से बाहर लाना होगा और न्यायालयों, प्रार्थना मन्दिरों एवं गरीबों की झोपड़ी में प्रवेश कर अपना कार्य करना होगा । अब तो मछली पकड़ते हुए मछुओं और विद्याभ्यास करते हुए विद्यार्थियों के साथ इन तत्वों को कार्य करना होगा । ये सन्देश प्रत्येक स्त्री, पुरूष और बालक के लिये है, वह चाहे जो पेशा करता हो चाहे जहाँ रहता हो ।[1]

हमें विदेशी अधिकार से स्वतंत्र रहकर अपने निजी ज्ञान-भण्डार की विभिन्न शाखाओं का और उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करने की आवश्यकता है । हमें यांत्रिक शिक्षा सहित ऐसी अनेक शिक्षाओं की आवश्यकता है जिनसे उद्योग धन्धों की वृद्धि और विकास हो सके, बेरोजगारी की समस्या का समाधान हो सके । सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम उद्देश्य मनुष्य का विकास करना है ।[2] हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो चरित्र-निर्माण में सहायता कर सके, जिससे मानसिक बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो, मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी शिक्षा के विभिन्न रूपों में शारीरिक विकास की शिक्षा पर विशेष जोर देते हैं । व मानते हैं कि विद्यालय के पाठ्यक्रम में व्यायाम इत्यादि को अनिवार्य शिक्षा के रूप में लागू किया जाना चाहिये । शारीरिक शिक्षा के बिना आत्म - साक्षात्कार अथवा चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता है । भारत का कल्याण शक्ति के बिना नहीं हो सकता । प्रत्येक विद्यार्थी में जो शक्ति छिपी हुई है उसे अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है ।[4] इसी परिपेक्ष्य में वे आगे कहते हैं कि मैं

---

1. विवेकानन्द साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 245
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 368
3. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 147
4. शिक्षा, संस्कृति और समाज - स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 48

भारत में लोहे की मांसपेशियों और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्यों कि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो वज्र से निर्मित है । शक्ति पौरूष क्षत्रिय वीर्य और "ब्राह्मतेज" इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण करना है । शरीर में शक्ति रहने पर ही व्यक्ति आध्यात्मिकता को समझ सकता है और उसकी ओर बढ़ सकता है ।[1] आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने के लिये शरीर का स्वस्थ होना नितान्त आवश्यक है । इस प्रकार शारीरिक विकास व अच्छे स्वास्थ्य की आवश्यकता पर बल देकर स्वामी विवेकानंद जी समाज को यह प्रेरणा प्रदान करते हैं कि भौतिक सुख व इहलोक को उपेक्षित कर पारलौकिक उन्नति प्राप्त नहीं की जा सकती है ।

विवेकानंद जी शिक्षा का विस्तार द्वार-द्वार तक करना चाहते थे । गरीबों के लिये अधिक से अधिक पाठशालाएँ खोल देने से ही गरीबों को शिक्षित करना सम्भव नहीं हो सकेगा । गरीबों के पास आत्मरक्षा का प्रश्न सर्व प्रमुख है अतः चार बरस का बालक पाठशाला जाने की अपेक्षा हल - बैलकी ओर जाना अधिक पसन्द करेगा। क्योंकि आत्म रक्षा निसर्ग की पहली जन्म-जात प्रवृत्ति है । विवेकानंद जी कहते हैं कि यदि खेतिहर का लड़का शिक्षा तक नहीं पहुँच पाता तो शिक्षा उसके हल के पास या कारखाने में अथवा जहाँ भी वह हो वहीं क्यों न भेंट की जाय ।[2] ये जो हजारों और लाखों की संख्या में सन्यासी हैं, जो जनता को आध्यात्मिक भूमिका पर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, उन्हें चाहिए कि वे बौद्धिक भूमिका पर भी शिक्षा प्रदान करें । वे जनता से कुछ इतिहास तथा अन्यान्य विषयों पर भी बाते करें ।[3]

---

1. द सोशल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद, वी0के0 अरोड़ा, पृष्ठ - 120
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम् खण्ड), पृष्ठ - 18
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम् खण्ड), पृष्ठ - 18

शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के द्वारा समाज पूर्णतया विकसित होता है । देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जनसमुदाय में शिक्षा और बुद्धि का प्रसार होता है । भारतवर्ष की पतनावस्था का मुख्य कारण यह रहा है कि मुट्ठी भर लोगों ने देश की सम्पूर्ण शिक्षा और बुद्धि पर एकाधिपत्य कर लिया । यदि हम पुनः उन्नत होना चाहते हैं तो हम जनसमूह में शिक्षा का प्रचार करके ही हो सकते हैं ।[1] निम्न वर्ग के लोगों को अपने खोये हुये व्यक्तित्व का विकास करने के लिये शिक्षा देना ही उनकी एकमात्र सेवा करना है । उनके सामने विचारों को रखो । स्वामी जी का मानना है कि - प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक स्त्री और पुरूष को अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं करना है ।

स्वामी जी **'गरीबी की अवस्था'** को भारत की सभी बुराइयों की जड़ मानते हैं ।[2] उनका मानना है कि मात्र निःशुल्क पाठशाला खोल देने से ही कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि गरीब लड़के पाठशाला में आने की अपेक्षा अपने पिता की सहायता करने खेतों में जाना या जीविका के लिये और कोई धन्धा करना अधिक पसन्द करेंगे यदि गरीब बालक शिक्षा लेने नहीं आ सकता तो शिक्षा को ही उसके पास पहुँचना चाहिए ।[3] हमारे देश में सहस्रों निष्ठावान स्वार्थ - त्यागी, सन्यासी हैं । जो एक ग्राम से दूसरे ग्राम में धर्मोपदेश करते फिरते हैं । यदि उनमें से कुछ को भौतिक विषयों के भी शिक्षक के रूप संगठित किया जा सके, तो वे एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे को न केवल धर्मोपदेश करते हुए वरन् शिक्षा कार्य भी करते जायेंगे ।[4] स्वामी विवेकानंद द्वारा व्यक्त यह सुझाव यदि वास्तविक रूप में

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 482
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 362
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), 362
4. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), 363

क्रियान्वित कर दिया जाये तो देश से (साक्षरता,) बेकारी की समस्या को समूल नष्ट किया जा सकता है ।

स्वामी जी शिक्षा को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करते हुए जनसाधारण की भाषा में शिक्षा दिये जाने पर जोर देते हैं । वे कहते हैं हमारे शास्त्र-ग्रन्थों में आध्यात्मिकता के जो रत्न विद्यमान हैं और जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, सब से पहले उन्हें निकालना होगा । जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं, केवल वहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम न होगा, किन्तु उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उसे शताब्दियों के संस्कृत शब्दों के जाल से निकालना होगा ।[1] इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी शास्त्र ग्रन्थों को निकालकर सबके लिये सुलभ कर देना चाहते हैं । वे इन तत्वों को निकालकर भारत के प्रत्येक मनुष्य की सार्वजनिक सम्पत्ति बना देना चाहते हैं । चाहे वह संस्कृत जानता हो या नहीं वे कहते हैं कि इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा हमारी यह गौरमयी संस्कृत भाषा है ।[2] और वह तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक हमारे देश के सभी मनुष्य यदि सम्भव हो तो संस्कृत के अनेक विद्वान नहीं बन जाते ।

स्वामी जी मानते हैं कि जिन लोगों ने इस भाषा का (संस्कृत भाषा का) कभी अध्ययन ही नहीं किया उनके लिये यह अत्यधिक क्लिष्ट है । अतएव लोगों को बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी ।[3]

जनसाधारण को उनकी निजी भाषा में शिक्षा दो । उनके सामने विचारों को रखो । वे जानकारी प्राप्त कर लेंगे । उन्हें संस्कृति दो । जब तक जनसाधारण

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 290
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 290
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 290

को संस्कृति न प्राप्त हो सकेगी तब तक उनकी उन्नत दशा स्थायी रूप प्राप्त न कर सकेगी ।[1] इस प्रकार शिक्षा को जनसाधारण की भाषा में दिये जाने के पक्ष में जोरदार वकालत करके स्वामी विवेकानंद जी सदियों पुरानी परम्परा पर आघात करते हैं जिसमें शिक्षा विशिष्ट वर्ग में ही सीमित होकर रह गई थी ।

स्वामी विवेकानंद जी ने धार्मिक शिक्षा पर विशेषरूप से बल दिया है । वे कहते हैं कि धर्म तो शिक्षा का मेरूदण्ड है । किन्तु यह धर्म मेरा या तुम्हारा या अन्य की सीमा से आबद्ध नहीं है ।[2] धार्मिक - शिक्षा का उद्देश्य यथार्थ सनातन तत्वों को जनता के समक्ष रखना है । पहले तो हमें महापुरूषों की पूजा चलानी होगी। जो लोग इन सब सनातन सत्यों को प्रत्यक्ष कर गये हैं, उनको जनता के समक्ष आदर्श या इष्ट के रूप में रखना होगा, जैसे- श्रीराम चन्द्र, श्रीकृष्ण, महावीर, श्री हनुमान श्री रामकृष्ण आदि । वर्तमान समय में वृन्दावन बिहारी मुरलीधारी श्रीकृष्ण की पूजा का जोरों से दूर-दूर तक प्रचार करने की आवश्यकता है । सर्वशक्ति स्वरूपिनी जग-माता की घर-घर में नित्य पूजा चलाने की विशेष आवश्यकता है । इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शिक्षा के अन्तर्गत धार्मिक शिक्षा पर विशेष बल देने की आवश्यकता है ।[3]

स्वामी जी का मानना है कि उदान्त वैदिक मन्त्रों की मेघगर्जना के द्वारा देश में पुनः प्राण का संचार करना है । सब बातों में वीर पुरूष के कठोर भाव को जागृत करना है । ऐसे आदर्श के अनुसार अपने चरित्र का गठन करने पर - सहस्रों गुण अपने आप आ जायेंगे । आदर्श से तनिक भी डिगना नहीं है । कभी हिम्मत मत हारो । खान-पान, वेश-भूषा, सोने-बैठने, गाने-बजाने, खेलने-कूदने, सुख-दुःख

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 29।
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 23।
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 388

सभी अवस्थाओं में सदैव उच्चतम नैतिक साहस का परिचय दो ।[1] आध्यात्मिक विकास के लिये मनुष्य को अलग से अभियान चलाने की नहीं दिन-प्रतिदिन की शिक्षा के साथ ग्रहण करने की आवश्यकता है । धार्मिक शिक्षा को यदि व्यवहारिक शिक्षा में समाहित कर दिया जाय तो मनुष्य अपने दिन - प्रतिदिन के जीवन को धार्मिक सूझ-बूझ से संचालित कर सकता है, और इस प्रकार समाज से अधर्म का विनाश अपने आप ही हो जायेगा ।

धार्मिक शिक्षा में उपनिषदों का अध्ययन करना विशेष उपयोगी है । संसार में यही एक साहित्य ऐसा है जिसमें 'निर्भय' शब्द का उल्लेख बार-बार किया गया है । इसका प्रत्येक पृष्ठ 'बल' की महिमा बताता है । उपनिषद शक्ति की विशाल खान है । उनमें ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी कर सकते हैं । उनके द्वारा समस्त संसार पुनरूज्जीवित एवं शक्ति और वीर्यसम्पन्न हो सकता है । मुक्ति अथवा स्वाधीनता, दैहिक, स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूल मंत्र है ।[2]

स्वामी जी शिक्षा के माध्यम से युवकों के मस्तिष्क को परिष्कृत करना चाहते थे, जिससे वे विदेशी चकाचौंध से बच सकें । इस परिपेक्ष्य में उन्होंने विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं - हमारे युवकों को बदली हुई विचार धारा और बुद्धि को सामने रखकर आज उस गौरवमय इतिहास को फिर से लिखना है । इस कार्य के लिये हमें गृहवास और उस जैसी अन्य शिक्षा प्रणालियों को पुनः जीवित करना

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम् खण्ड), पृष्ठ - 233
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 238

होगा । आज वेदान्त युक्त पाश्चात्य - विज्ञान, ब्रह्मचर्य के आदर्श, श्रद्धा तथा आत्म विश्वास की आवश्यकता है ।[1]

युवकों के चरित्र को संवारने के लिये आवश्यक है कि उन्हें बाल्यावस्था से ही जाज्वल्यवान, उज्जवल चरित्र - युक्त किसी तपस्वी महापुरूष के सहवास में रखा जाय । जिससे उनके समक्ष उच्चतम ज्ञान का आदर्श सदा उनकी दृष्टि में रहें, मिथ्या भाषण पाप है ।[2] चरित्रिक निर्माण के लिये गीता तथा वेदान्त युक्त अध्ययन पर विशेष बल दिया जाना चाहिये । युवकों की चिन्तन शक्ति को विकसित किये जाने की आवश्यकता है । सारी शिक्षा तथा समस्त प्रशिक्षण का एकमेव उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिये । इसकी उपयोगिता सर्वदेशीय है । चाहे वह गरीब हो, गृहस्थ हो, अमीर, व्यापारी या धार्मिक सभी के जीवन में व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाना ही एक महत्व की बात है ।[3] व्यक्तित्व बलशाली तभी बन सकेगा जब उसमें बौद्धिकता के साथ-साथ हृदय का भी अनुसरण किया जाय । हृदय की परवाह किये बिना जब शिक्षा दी जाती है तब मनुष्य दस गुना अधिक स्वार्थी बन जाता है ।[4] विवेकानंद जी का विचार है कि जब हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द उपस्थित हो, तब हृदय का ही अनुसरण करना चाहिये । हृदय ही हमें उस उच्चतम राज्य में ले जाता है, जहाँ बुद्धि कभी पहुँच नहीं सकती वह बुद्धि के भी परे वहाँ जा पहुँचता है, जिसे अन्तः प्रेरणा कहते हैं, हृदय में से सदा ईश्वर बोलता है ।[5]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 228
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 229
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 173
4. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 412
5. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 415

विवेकानंद जी का यह दृष्टिकोण है कि समुचित शिक्षा प्राप्त कर मानव पूर्णतया कर्त्तव्य परायण बन जाता है । वह सत्कर्म की ओर प्रेरित होता है, उसकी आत्मा में यह भावना जागृत होती है कि "परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम् ।" इसी कारण गीता में जन्मगत और अवस्थागत कर्त्तव्यों का बारम्बार वर्णन आया है। जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों के प्रति मनुष्य का जो मानसिक और नैतिक विकास होता है वह जन्म और अवस्था के आधार पर निर्मित विवेक पर टिका होता है । आगे चलकर शिक्षा इसे पूर्णता प्रदान करती है । अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की जाय जिससे व्यक्ति कर्त्तव्य परायण बन सके । इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये विवेकानंद जी यह आवश्यक मानते हैं कि समाज के प्रत्येक सदस्य को शिक्षा प्राप्त हो सके, और इस क्षेत्र में नारी जाति की उपेक्षा किया जाना देश के सामाजिक विकास के लिये सर्वथा हानिकारक है ।

स्त्री - शिक्षाः-

विवेकानंद जी का विचार है कि मध्य एवं वर्तमानकाल की अपेक्षा प्राचीन-काल में स्त्रियों की शिक्षा सम्बंधी व्यवस्था कहीं उच्चतर थी । बहुत सी नारियों ने वैदिक ऋचाएं, रचीं, जिनमें क्षत्रिय-कुल की विश्वबारा, घोषा, काक्षीवती, गार्गी, वाचनवी, सुलभा, मैत्रेयी, जैसी अनेक विदुषियों के नाम लिये जा सकते हैं, सूत्रकाल में स्त्रियाँ वेद के मंत्रों का उच्चारण करती थीं । वात्स्यायन के कामसूत्र में भी वर्णन प्राप्त होता है कि बालिकाओं को अपने पिता के घर में - कामसूत्र एवं उसके अन्य सहायक अंगों का (यथा 64 कलाएं, गीत-नृत्य, चित्रकारी आदि सीखने चाहिये) विवाहोपरान्त पति की आज्ञा से इन कलाओं का प्रयोग व्यवहारिक जीवन में करना चाहिये ।[1] किन्तु कालान्तर में नारियों की दशा अधोगति को प्राप्त हो गयी । धर्मसूत्रों एवं मनु ने वेदाध्ययन के मामले में उच्चवर्ण की नारियों को भी शूद्र की श्रेणी में रखा गया है।

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, (प्रथम खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन कार्णे, पृष्ठ-245

वे आश्रित मानी जाती थीं । वैदिक काल में भी स्त्रियों के प्रति एक दुराग्रह था । उनपर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष ढंग से व्यंग्यात्मक छींटे डाले जाते थे । यहाँ तक कहा जाता था कि स्त्रियों का मन संयम में नहीं रखा जा सकता, उनकी बुद्धि या शक्ति भी थोड़ी है । स्त्रियों की मित्रता में भी सत्यता नहीं है । उनके हृदय भेड़ियों के हृदय है ।[1] शतपथ ब्राह्मण में आया है कि 'मधु विद्या पढ़ते समय स्त्री - शूद्र कुत्ते एवं कौआ, पक्षी की ओर न देखो । क्योंकि ये सभी असत्य हैं ।[2] इसी प्रकार मनुस्मृति (2/213/214) और अनुशासन पर्व (19/19-94, 38, 39) में स्त्रियों की कटु भर्त्सना की गई है ।

मध्य एवं वर्तमान काल में उपर्युक्त बातों तथा अपवित्रता एवं बाल-विवाह के कारण नारी शिक्षा अधोगति को प्राप्त हो गई । देश में सदियों से ही नारी - शिक्षा के विषय में विचित्र स्थिति बनी रही । स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया । यह स्थिति हमारे देश के लिए अभिशाप है । अतः आज भारतीय नारी के जीवन में एक अभिनव परिवर्तन एवं क्रांति का सूत्रपात होना चाहिये । हमें अपने इस कार्य में पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये । इस कार्य में देर अवश्य लगेगी किन्तु सफलता निश्चित रूप से प्राप्त होगी ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी ने स्त्री-शिक्षा पर विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत किये । वे कहते हैं कि आधुनिक युग में स्त्री शिक्षा की मूल प्रेरणा ईसाई मिशनरियों द्वारा मिली / जिसे आगे बढ़ाने का कार्य ब्रिटिश सरकार द्वारा सम्पन्न हुआ । यूरोपीय

---

1. ऋग्वेद - पृष्ठ - 8/33/17
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, (द्वितीय खण्ड), डॉ0 पी0वी0 वामन, कार्णे, पृष्ठ - 249
3. भारतीय नारी, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 25

विद्वानों के अतिरिक्त सरकार ने भी स्त्री - शिक्षा की प्रगति में पर्याप्त सहायता दी। स्त्री - शिक्षा को आगे बढ़ाने में हमारे समाज सुधारकों का भी प्रमुख हाथ रहा है। राजाराम मोहन राय स्वयं स्त्री - शिक्षा के समर्थक थे । पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण वह पाश्चात्य आधुनिक शिक्षा को अधिक महत्व देते थे । केशव चन्द्र सेन ने भी स्त्री शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में पर्याप्त योग दिया और बगाल के उत्साही तरूण समाज में उसका पूर्ण प्रचार किया गया । ब्रह्म समाज के सदस्यों को इस बात के लिये प्रोत्साहित किया गया कि अपनी स्त्रियों और कन्याओं को पूर्ण रूपेण शिक्षित करें ।

प्रार्थना समाज ने स्त्री शिक्षा को आगे बढ़ाने में सहायता दी । इस उद्देश्य को लेकर ही इन्होंने स्त्री शिक्षा संघ की स्थापना की । प्रौढ़ों के लिए रात्रि कालीन स्कूलों की स्थापना की गयी । सर सैयद अहमद खाँ ने आधुनिक शिक्षा की प्रगति में अपना सहयोग दिया । ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने लड़कियों के लिये एक हिन्दू स्कूल की स्थापना की । थियोसॉफिकल सोसायटी ने भी स्त्री शिक्षा के प्रचार में अपना अमूल्य योगदान दिया ।

डॉ0 एनीबेसेन्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्री परीक्षा में उत्तीर्ण होना या डिग्री प्राप्त करना ही नहीं है किन्तु गृह कार्यों में निपुर्ण होना भी स्त्री-शिक्षा का एक आवश्यक अंग है । इसी प्रकार आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा का समर्थन किया और स्त्री - शिक्षा को राष्ट्र की प्रगति के लिये आवश्यक माना । शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती पाश्चात्य शिक्षा के सर्वथा विरोधी थे । उनका प्राच्य शिक्षा में अधिक विश्वास था । धार्मिक शिक्षा को वे शिक्षा का प्रमुख अंग मानते थे। आर्य समाज के द्वारा अनेक स्कूल, कॉलेजों की स्थापना की गई । इन पाठशालाओं में आधुनिक शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है ।[1] स्वामी विवेकानंद जी अपने समय

---

1. भारतीय नारी, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 54

की अनेक परिस्थितियों से प्रभावित थे । अतः स्त्री शिक्षा के विषय में काफी चिन्तित रहे । वे मानते थे कि समाज में परिवर्तन स्त्री-शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। स्त्री-शिक्षा के विषय में स्वामी विवेकानंद जी के विचार इस प्रकार है -

मनुष्य की मानसिक शक्तियों का जिस शिक्षा में विकास हो वही सच्ची शिक्षा है । धर्म ही शिक्षा का सार है । अतः स्त्रियों को धर्म पर आधारित शिक्षा दी जानी चाहिये । उन्हें कलात्मक पाक क्रिया और सीना-पिरोना, चित्रकला, फोटोग्राफी, सोने, चांदी, कागज, ज़री और कढ़ाई-बुनाई की शिक्षा भी देना अत्यंत आवश्यक है। उन्हें इस प्रकार की व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त होने से आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी जीविका भी कमा सकती है ।[1] स्वामी जी स्त्रियों के लिये भावना - प्रधान शिक्षा को परमावश्यक मानते हैं । इस शिक्षा के प्राप्त होने पर स्त्रियाँ अपनी समस्यायें अपने आप ही हल कर सकेंगी । उन्हें आत्मरक्षा करने का प्रशिक्षण प्राप्त हो सकेगा । स्त्रियों के लिये सतीत्व का अर्थ समझना सरल ही है । यह उनकी विरासत है, परम्परागत सम्पत्ति है । अतः स्त्रियों के हृदय में यह ज्वलन्त आदर्श सर्वोपरि रहना चाहिये ।[2]

हृदय के सतीत्व का स्थान सर्वोपरि होने पर वे इतनी दृढ़चरित्र बन जायेंगी कि - वे चाहे विवाहित हो या कुमारी, जीवन की हर अवस्था में, अपने सतीत्व से तिलभर भी डिगने की अपेक्षा, जीवन का निडर होकर आहुति देने के लिये तैयार रहेंगी । अपने आदर्श के लिये अपने जीवन की ही बलि दे देना यह क्या कम वीरता है ?[3] कुछ महिलायें जीवन में सन्यास धर्म का पालन करने के लिये शिक्षित की जायं

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 140
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 266
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 267

आदि काल से जिनकी नस-नस में सतीव्रत भरा पड़ा है, इन भारतीय महिलाओं के लिये इसमें कोई कठिनता नहीं है । साथ ही महिलाओं को विज्ञान इत्यादि की भी शिक्षा दिया जाना आवश्यक है । हमारे देश को पवित्रात्मा ब्रह्मचारियों और ब्रह्म चारिणियों की आवश्यकता है ।[1]

स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा जाना हमारे देश का सबसे बड़ा कलंक है । किसी शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं है । भारत का अधः पतन उसी समय से हुआ जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेत्तर जातियों के साथ-साथ स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये। वैदिक युग में, उपनिषद युग में मैत्रेयी, गार्गी आदि स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्म विचार में ऋषि तुल्य हो गयी थी । हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया था । भारतीय नारियाँ प्राचीन काल से ही विद्वता के लिये विख्यात रही हैं ।[2]

स्वामी जी आगे कहते हैं कि जब उन्हें पहले से ही आध्यात्म ज्ञान का अधिकार प्राप्त था तब फिर आज उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित किया जाना कहाँ तक न्यायोचित होगा ।[3] विवेकानंद जी गृह लक्ष्मियों की पूजा के उद्देश्य से उनमें ब्रह्म विद्या के विकास निमित्त मठ बनवाने की योजना प्रस्तुत करते हैं -

गंगा जी के तट पर एक विस्तृत भूमिखण्ड लिया जायगा । उसमें अविवाहित कुमारियाँ रहेगीं तथा विधवा ब्रह्मचारणियाँ भी रहेंगी । गृहस्थ घर की भक्तिमती स्त्रियां

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 277
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 182
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 183

भी बीच-बीच मे यहाँ आकर ठहर सकेगी । इस मठ से पुरुषों का किसी भी प्रकार का सम्बंध न रहेगा । पुरूष मठ के वृद्ध साधुगण दूर से स्त्री मठ का काम चलायेग। स्त्री मठ में लडकियों का एक स्कूल होगा । जिसमे धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण और साथ ही अंग्रेजी की भी शिक्षा दी जा सकेगी । जप, ध्यान, पूजा तो उनकी शिक्षा के आवश्यक अंग रहेंगे ही । जो स्त्रियाँ घर छोड़कर हमेशा के लिये यहीं रह सकेंगी उनके भोजन, वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जाएगा ।[1]

छात्राएँ दैनिक रूप से यहाँ आकर भी शिक्षा प्राप्त कर सकेंगी । यदि सम्भव होगा तो मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वे यहाँ पर रहेंगी और जितने भी दिन रहेंगीं भोजन भी पा सकेगी । स्त्रियों के ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिए वृद्धा ब्रह्मचारणियाँ छात्राओं की शिक्षा का भार लेंगी । इस मठ में 5-7 वर्ष तक शिक्षा का भार प्राप्त करने के बाद लड़कियों का विवाह उनके अभिभावक कर सकेंगे । यदि कोई अधिकारिणी समझी जाएगी तो अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वह वहाँ पर चिर-कौमार्य व्रत का पालन करती हुई ठहर सकेंगी । जो स्त्रियाँ चिर-कौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी वे ही समय-समय पर मठ की शिक्षिकाएं तथा प्रचारिकाएं बन जाएंगी और गाँव-गाँव और नगर-नगर में शिक्षा केन्द्र खोलकर स्त्रियों के शिक्षा के विस्तार के लिए चेष्टा करेंगी ।[2] चरित्रशीलता एवं धर्मपरायण प्रचारिकाओं द्वारा देश में यथार्थ स्त्री शिक्षा का प्रसार होगा । वे स्त्री मठ के सम्पर्क में जितने दिन रहेगी, उतने दिन तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा । धर्म परायणता, त्याग और संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे और सेवा धर्म उनके जीवन का व्रत होगा । इस प्रकार इनके आदर्श जीवन का देखकर सभी इनका अनुसरण करेंगी और देश में सीता, सावित्री गार्गी का फिर से आविर्भाव हो सकेगा ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 184
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 183
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 184

स्वामी जी का विचार था कि - स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय, जिससे वे निर्भय होकर भारत के प्रति अपने कर्त्तव्य को भलीभाँति निभा सकें और संघमित्रा, लीला, अहिल्या बाई और मीरा बाई, आदि भारत की महान देवियों द्वारा चलायी गयी परम्परा को आगे बढ़ा सके और वीर प्रसू बन सके । भारत की स्त्रियाँ पवित्रता और त्याग की मूर्ति हैं, क्योंकि उनके पास वह आध्यात्मिक बल है, जो सर्वशक्तिमान परमात्मा के चरणों में सम्पूर्ण आत्म समर्पण से प्राप्त होता है क्योंकि धर्म ही शिक्षा का मेरूदण्ड है ।[1]

धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य स्वास्थ्य, सीना-पिरोना आदि सब विषयों का जो स्थूल गुण है उसे छात्राओं के सामने रखा जाना चाहिये । जिससे उनमें त्यागरूप व्रत का अनुराग उत्पन्न हो सके । स्वामी जी उच्च वर्ग में ही नहीं सर्वसाधारण वर्ग में भी शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे । इसी कारण वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ बनाने पर विशेष बल देते हैं । यह ब्रह्मचारी गण समय-समय पर सन्यास लेकर देश-देश गाँव-गाँव जायेंगे तथा सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रसार करने का प्रबन्ध करेंगे तथा ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रसार करेंगी ।[2]

स्वामी विवेकानंद जी विलायती शिक्षा को नारियों के लिये हानिकारक मानते थे । नारी को केवल पढ़ने - लिखने की योग्यता प्रदान करना ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं है । वस्त्र, घर को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की शिक्षा देना भी स्त्री शिक्षा का उद्देश्य है ।

स्वामी जी द्वारा प्रस्तुत स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विचारों में प्रायः ऐसा प्रतीत

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 49
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 141

होता है कि इस परिपेक्ष्य में उनका दृष्टिकोण सकीर्ण है । विशेषतः जब वे यह कहते हैं कि स्त्रियों को - धर्म, शिल्प-विज्ञान, गृहकार्य, भोजन-बनाना, सीना-पिरोना व शरीर पालन आदि सभी विषयों की मोटी-मोटी बातें सिखलाना ही उचित है । नाटक, उपन्यास तो उनके पास तक नहीं पहुँचना चाहिये ।[1] यहाँ यह विचार नारी-जाति को एक विशिष्ट ज्ञान से वंचित रखने के लिए प्रेरित करता है । जो स्त्री-पुरूष दोनों के अधिकारों में असमानता व्यक्त करता है । यदि नाटक-उपन्यास से स्त्री जाति का चरित्र भ्रष्ट हो सकता है तो पुरूष भी इस भ्रष्टता से बच नहीं सकते ।

किन्तु विवेकानंद जी एक स्थल पर यह भी कहते हैं कि स्त्रियों को केवल पूजा-पद्धति सिखलाने से ही काम न चलेगा, सभी विषयों में उनकी आँखे खोला जाना आवश्यक है । स्त्रियों को आत्म रक्षा की शिक्षा विशेष रूप से दिया जाना चाहिये ।[2] स्वामी जी स्त्रियों को वैराग्य की शिक्षा देने पर जोर देते हैं । उनका विचार था कि स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी तभी देश-समाज, गाँव का भी उत्थान होगा ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी मानते हैं कि महिलाओं की सभी समस्याओं का निदान एकमात्र शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है । शिक्षा के विकास के बिना इन समस्याओं का निदान सम्भव नहीं है । मनुराज ने भी यही आदेश दिया है कि पुत्रियों का लालन-

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 40
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 49
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 231

पालन और शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी पुत्रों की । अत: पुत्रों के समान पुत्रियों की शिक्षा भी सावधानी और तत्परता से होनी चाहिये ।[1]

इस प्रकार भारतीय धर्म शास्त्रों में शिक्षा के उद्देश्य को जिस अर्थ में व्यक्त किया गया है वही उद्देश्य स्वामी विवेकानंद जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का भी है । "सा विद्या या विमुक्तये" यही धारणा स्वामी जी की भी थी । वे शिक्षा के पाश्चात्यीकरण के विरूद्ध थे । इसी कारण उन्होंने बाबू पैदा करने वाली शिक्षा का विरोध कर जनमानस के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की कामना कर एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया जिससे मनुष्य के हृदय - कपाट खुल सके । स्वामी जी पर पूर्णतया आध्यात्मिक शिक्षा का पक्षपाती होने का आरोप लगाया जाना न्यायोचित न होगा । पाश्चात्यीकरण के दुश्प्रभाव से सतर्क रहते हुए भी वे पाश्चात्य देशों की यांत्रिक और तकनीकी शिक्षा को भारतीय शिक्षा पद्धति में समायोजित करना चाहते थे । भारत की भौतिक उन्नति के लिये यांत्रिक और तकनीकी शिक्षा की ही आज सबसे अधिक आवश्यकता है । इस परिपेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द जी अपने समय के विचारकों में सबसे आगे थे । आधुनिक परिपेक्ष्य में वर्तमान कालीन समस्याओं को सुलझाने के लिये स्वामी विवेकानंद जी के विचारों का अनुसरण किया जाना आवश्यक है । समाज के सभी वर्गों को शिक्षा का अधिकार प्रदान करने का उन्होंने आह्वान किया । निर्धन वर्ग को विशेष सहायता प्रदान कर उनका शैक्षिक स्तर बढ़ाने के लिए प्रेरित किया ।

स्वामी जी पुरोहित वर्ग द्वारा शूद्र वर्ग, दलित वर्ग को शिक्षा से वंचित किये जाने के विरोधी थे । सदियों से नारी को शिक्षा के अधिकार से वंचित किये जाने की उन्होंने तीव्र आलोचना की ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 231

निष्कर्षत: स्वामी विवेकानंद जी समाज के सभी वर्गों को समान रूप से शिक्षा प्रदान कर उनमें भारतीय सांस्कृतिक गुणों को पिरोकर यांत्रिक और तकनीकी शिक्षा का समन्वय कर एक ऐसे भारत का पुनर्निर्माण करना चाहते थे जिसकी प्रतिष्ठा विश्व के अग्रणी राष्ट्रों में स्थापित हो सके ।

स्त्री - दशा

स्त्री-दशा पर विचार व्यक्त करते समय विवेकानंद जी यह आशंका व्यक्त करते हैं कि - "मैं एक ऐसे आश्रम का मनुष्य हूँ जिसमें विवाह नहीं किया जाता (ब्रह्मचर्य आश्रम) अत: स्त्री जाति के विषय में मेरा ज्ञान अपूर्ण भी हो सकता है। भारत देश की विशालता तथा मानव वंश की विविधता भी इस विषय पर सर्वमान्य मत स्थापित करने में बाधक बनती है ।" किन्तु एक धर्म प्रचारक होने के नाते मुझे भारतीय स्त्रियों के बारे में जानने का साधारणतया अधिक अवसर प्राप्त हुआ है ।[1] इस प्रकार स्वामी विवेकानंद ने अपने परिव्राजक के रूप मे प्राप्त अनुभवों के आधार पर स्त्री जाति के आदर्श व दुर्दशा को विश्व के समक्ष रखा है ।

स्वामी जी कहते हैं सभी जातियाँ स्त्रियों की पूजा करके ही बड़ी बनी हैं, जिस देश, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं की जाती, वह देश, वह जाति कभी बड़ी ... नहीं बन सकती । हमारे देश का जो अध: पतन हुआ है उसका प्रधान कारण इन नारी रूपी मूर्तियों का अपमान किया जाना है ।[2] अद्वैतवादी परम्परा का अनुगामी होने के कारण वे मानते हैं कि - "परब्रह्म तत्व में लिंग भेद नहीं है।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 308
2. भारतीय नारी, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 20

हमारी दृष्टि में "मैं" और "तुम" का भेद होने के कारण लिंग - भेद दिखायी देता है । मन जितना अन्तर्मुख होता जाता है, उतना ही यह भेद-ज्ञान लुप्त होता जाता है । अन्तत. जब मन एकरस ब्रह्मतत्व मे डूब जाता है तब मन से स्त्री-पुरूष का भेद नष्ट हो जाता है ।[1]

विश्व के समक्ष भारतीय नारियाँ की गौरवमयी सस्कृति का विवरण प्रस्तुत करते हुए स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि पावित्र्य और सतीत्व भारतीय नारी जाति. का आदर्श है । जो उसे अतीत की परम्परा से प्राप्त हुआ है । आज हमें इसी आदर्श के प्रति श्रद्धा, सम्मान और भक्ति प्रदर्शित करनी चाहिये, फलस्वरूप नारियों का चरित्र और भी अधिक बलवान और दृढ़ हो जायेगा । उसके प्रभाव से वे अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपने पावित्र्य और सतीत्व की रक्षा करना अपना धर्म समझेगी ।[2] पाश्चात्य राष्ट्रों में भी महिलाओं की विशिष्टता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि मुझे अमेरिका के समान सुसंस्कृत और शिक्षित स्त्रियाँ संसार में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती । मुझे अमेरिका मे सहस्रों स्त्रियाँ मिली है, जिनके हृदय हिमखण्ड के समान शुद्ध एवं निष्कलंक हैं । उन्हीं स्त्रियों के हाथ में सभी सामाजिक और नागरिक कर्त्तव्यों की बागडोर भी रहती है । वहाँ की शालाएं और विद्यालय दोनों स्त्रियों से बिल्कुल भरे पड़े हैं । अमेरिका के पुरूष स्त्रियों के साथ अत्यंत सम्मानपूर्ण व्यवहार करते हैं इसी कारण यह एक उन्नतिशील, विद्वान, स्वतंत्र और बलवान राष्ट्र हो गया है । अमेरिका में बालिकाओं का जीवन अत्यधिक शुद्ध, पवित्र और सरल है । बीस या पच्चीस वर्ष के पहले यहाँ पर कुछ ही स्त्रियों का विवाह होता है और वे आकाश-बिहारी पक्षियों की भाँति स्वतन्त्रता से विचरण करती हैं । वे बाजार-

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 24।
2. भारतीय नारी, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 33

हाटों, शालाओं और महाविद्यालयों मे जाती है, जीविकापार्जन करती हैं तथा सभी प्रकार के काम धन्धे करती हैं । सम्पतिवान स्त्रियाँ गरीबों की मदद भी करती हैं ।[1] जबकि भारत में स्थिति बिल्कुल भिन्न है, यहाँ नियमित रूप से कन्याओं का विवाह ग्यारह वर्ष की आयु में कर दिया जाता है, जिससे वे कहीं भ्रष्ट या दुश्चरित्र न हो जायं। अमेरिका की प्रत्येक स्त्री को इतनी उत्तम शिक्षा प्राप्त होती है, जिसकी कल्पना भी अधिकांश भारतीय स्त्रियों के लिये कठिन है । विवेकानंद जी कहते हैं कि "मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि भारतीय स्त्रियों की ऐसी ही बौद्धिक प्रगति हो, जैसी अमेरिका इत्यादि देशों में हुई है । परन्तु यह उन्नति तभी अभीष्ट है जब वह उनके पवित्र जीवन और सतीत्व को अक्षुण्य बनाये रखते हुये हो । भारत में नैतिकता और आध्यात्मिक उन्नति को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है । भारतीय स्त्रियाँ अमेरिकी स्त्रियों की भाँति सुशिक्षित न होते हुए भी उनका आचार-विचार बहुत पवित्र होता है ।[2]

पाश्चात्य राष्ट्रों में जहाँ स्त्रियों के अधिकारों पर अधिक बल दिया जाता है वहीं भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में नारियों के कर्त्तव्य पर अधिक बल दिया जाता है । मातृत्व ही नारी जाति का मूल गुण है, जिसका उद्देश्य देना ही है, वह अपने लिए कुछ नहीं रखती सब कुछ दान कर देती है । पाश्चात्य राष्ट्रों में स्त्री को पत्नी की दृष्टि से देखा जाता है, वहाँ स्त्री में पत्नीत्व की कल्पना की जाती है । पाश्चात्य राष्ट्रों में गृह की स्वामिनी और शासिका पत्नी है, भारतीय गृहों में घर की स्वामिनी और शासिका माता है । पाश्चात्य राष्ट्रों में यदि माता हो तो भी, उसे पत्नी के अधीन रहना पड़ता है, किन्तु भारत में माता ही सब कुछ है, पत्नी को उसकी आज्ञा का पालन करना ही चाहिये ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 98
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 297
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 318

विवेकानंद जी का विचार है कि विश्व के सभी देशों में स्त्री जाति के अधिकारों और कर्त्तव्यों मे भेद होते हुए भी उनके आचरण के विषय मे सर्वत्र समानता है । सभी देशों की सामाजिक व्यवस्था मे पुरुषों को स्त्रियों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त है । सभी समाजों में यद्यपि पुरूष का दूसरी स्त्री के साथ सपर्क रखना बड़ा अपराध नहीं है, किन्तु स्त्रियों के लिये यह एक भयकर पाप का रूप धारण कर लेता है फ्रांसीसी इस विषय में और भी अधिक स्वतत्र है । यूरोपीय पुरूष समाज इस विषय को निन्दनीय नहीं मानता । भारतीय महिलाओं की स्थिति इस क्षेत्र मे और भी अधिक दयनीय है । किन्तु इस बात के पीछे एक पूर्व निर्धारित श्रेष्ठ उद्देय है - हमारे देश में मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ व अन्तिम लक्ष्य है । मनुष्य अपना जीवन गरिमामयी माता से ही प्राप्त करता है । पुरूषों के समान यदि स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व को नहीं बचा सकेंगी, तो देश को श्रेष्ठ सन्तानों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। पुरूष यदि सौ विवाह करे तो उससे देश की व वंश की कोई हानि नहीं किन्तु यदि स्त्री बहुत से पति ग्रहण करेगी तो उससे बन्धात्व का आ जाना अनिवार्य है । इसीलिये सभी देशों में स्त्रियों के सतीत्व पर विशेष बल दिया जाता है । पुरूषों के लिये कुछ भी नहीं । "प्रकृतियान्तिभूतानि निग्रह किं करिष्यात ।"[1]

मनुमहाराज के आदर्श को स्वीकार करते हुए स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि "विश्व के समस्त दैवी गुण और शक्तियाँ उस गृह, समाज और राष्ट्र में विद्यमान रहती हैं, जहाँ नारी की पूजा होती है ।" हम भारतवासियों ने स्त्रियों पर बड़ा अत्याचार किया है, हमारी अवनति का यही कारण है, हम नारी को कीड़े - मकोड़े की भाँति ही, घृणित समझते हैं । उसे नरक का द्वार बतलाते हैं ।[2] यह सब स्थिति होते हुए

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 96
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 97

भी भारत की इस पवित्र भूमि में सीता, सावित्री ने जन्म लिया । आज भी हमारे देश की नारियों में चारित्रिक उत्कृष्टता, सेवाभाव, प्रेम, दया, सन्तोष और भक्ति पायी जाती हैं, जो विश्व में कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हुई । पाश्चात्य देश की नारियों में बहुधा नारीत्व का सर्वथा अभाव दिखाई देता है वे पुरूषों से होड़ लेने मे तल्लीन हैं, वे यान चलाती हैं, कार्यालयों में कलम घिसती है, उच्च शिक्षा प्राप्त करती हैं और सभी प्रकार के धन्धे करती हैं, किन्तु भारतीय स्त्रियों के समान नारी सुलभ लज्जा दिखाई नहीं देती । इतनी सुयोग्य और गुणसम्पन्न स्त्रियों के होते हुए भी भारतवासी अपने देश की स्त्रियों को उन्नत नहीं बना सके । भारतीय स्त्री को यदि उचित शिक्षा मिले, तो वह संसार की सर्वश्रेष्ठ आदर्श नारी बन सकती है ।[1]

हमारे देश में स्त्रियों को सदैव नि:सहाय अवस्था में रहने और दूसरों पर गुलाम के समान अवलम्बित रहने की शिक्षा दी जाती है । इसी कारण वेजीवन कठिनतम परिस्थितियों में आंखों से आँसू बहाने के सिवाय और किसी योग्य नहीं रहती । स्वामी जी का विचार है कि स्त्रियों को ऐसी अवस्था में रखा जाना चाहिये कि अपनी समस्याओं को वे अपने तरीके से हल कर सकें । हमारे देश की स्त्रियाँ इस कार्य में अन्य देशों की स्त्रियों के समान ही दक्ष हैं ।[2]

हमारे देश में शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं की उपेक्षा की जाती रही है । इसी कारण यहाँ स्त्रियाँ उदासीन और दु:खी जीवन व्यतीत करती हैं । स्त्री जाति की यह दुर्दशा होते हुए कुटुम्ब या देश की उन्नति की आशा नहीं की जा

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 78
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 342

सकती ।[1] स्वामी विवेकानंद जी का विचार है कि भारत वर्ष की स्त्रियों का यह कर्त्तव्य है कि वे सीता, सावित्री आदि महान नारियों के आदर्श चरित्र को अपने जीवन में उतारें । क्योंकि पूर्ण विकसित नारीत्व के समान भारतीय आदर्श सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं । हमारी नारियों मे आधुनिकता के रंग में रंगने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं यदि उससे सीता-चरित्र के आदर्श को भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी, तो हमारी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा विनष्ट हो जायेगी ।[2] भारतीय नारियों में धर्म - केन्द्रित शिक्षा का संचार करके ही उनका चारित्र गठन किया जाना चाहिये । उन्हें वैराग्य की शिक्षा दी जानी चाहिये । हमारी जन्म भूमि की कुछ सन्तानों को विशुद्धात्मा ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ बनाने की आवश्यकता है ।[3] इससे देश और समाज का बहुत उपकार होगा ।

स्वामी विवेकानंद जी का विचार है कि नारी से मातृ प्रकृति का विकास अधिक हुआ है । नारी जाति की गरिमामय भूमिकाका अनेक स्थलों पर वर्णन करते हुए विवेकानंद देश मे एक ऐसा अभियान चलाने की आवश्यकता पर बल देते हैं, जिससे संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई और मीराबाई के आदर्शों को चरितार्थ करने वाली स्त्रियों को सामने लाया जा सके । वे स्त्रियाँ अपनी पवित्रता और निर्भयता और ईश्वर के पादस्पर्श द्वारा प्राप्त शक्ति के कारण वीर माता बनने की योग्यता रखती होंगी। इनकी सन्ताने सद्गुणों को संसार में अधिक विकसित कर सकेंगी । शिक्षित और धार्मिक माताओं के ही घर में महापुरूष जन्म लेते है, यदि स्त्रियाँ उन्नत हो जाये तो उनके बालक अपने उदार कार्यों के द्वारा देश का नाम उज्ज्वल करेंगे । तब तो संस्कृति

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 215
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 255
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 343

ज्ञान, शक्ति और भक्ति देश में जागृत हो जायेगी ।[1] पाश्चात्य स्त्रियाँ दुश्चरित्रता के अनेक बन्धनों में जकड़ी हुई हैं, किन्तु भारतीय स्त्रियाँ इस प्रकार के बन्धनों से मुक्त हैं भारतीय समाज में गुण-दोष दोनों हैं । अत. गुणों को आत्मसात करते हुए दोषों को दूर करना अत्यंत आवश्यक है ।

लिंग-भेद को अस्वीकार करते हुए विवेकानंद जी स्त्री - पुरूष के बीच भेदभाव को सामाजिक शांति के लिए कलंक मानते है । भारतीय समाज में स्त्रियाँ की हीनता का प्रादुर्भाव बौद्ध धर्म के पतन-काल से ही हुआ । कोई भी आन्दोलन किसी एक नवीन विशेषता के कारण संसार में शीघ्र ही फैल जाता है । परन्तु जब उसका पतन होता है तब उसकी वह अभिभानास्पद विशेषता ही उसकी दुर्बलता का मुख्य कारण बन जाती है । बौद्ध संघ मे भिक्षुणियों के प्रवेश पर प्रतिबंध था । अपनी इसी विशेषता के कारण बौद्ध - धर्म को काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई । इस प्रकार के जीवन से धर्म संगठित तो हो गया किन्तु अन्तोगत्वा इसके परिणाम खेदजनक हुए। समाज में नारी जाति की उपेक्षा की शुरूआत इसी समय से आरम्भ हुई । स्त्रियों को धार्मिक, शैक्षिक, सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों से वंचित किये जाने की परम्परा यहीं से आरम्भ हुई ।[2] स्वामी विवेकानंद जी ने इस स्थिति की तीव्र आलोचना की । वे पुरूषों के समान स्त्रियों को भी अनेक अधिकार प्रदान करने के पक्ष में थे । वेदान्त में घोषणा की गई है कि - "सभी प्राणियों में वही एक आत्मा विराजमान है ।" किन्तु स्मृतियाँ आदि सीखकर और स्त्रियों पर कड़े बन्धन डालकर पुरूषों ने इन्हें सन्तानोत्पादक यंत्र मात्र बना रखा है । अवनति के युग में जबकि पुरोहितों ने अन्य जातियों को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहराया, उन्होंने स्त्रियों को अनेक अधिकारों से

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 220
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 319

भी वंचित कर दिया ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि - "नारीत्व का आदर्श भारत की आर्य-जाति में केन्द्रित है । जिसमें नर और नारी सहधर्मी हैं । जिसमे पुरूष को स्त्री के बिना पूजा का भी अधिकार नहीं प्राप्त है । कोई अविवाहित पुरूष पुरोहित नहीं बन सकता । यह बात प्राचीन रोम और यूनान के विषय में भी सत्य है ।[2] किन्तु अपनी स्थिति के लिये स्त्रियाँ स्वयं भी काफी हद तक जिम्मेदार है । यदि सभी स्त्रियाँ इतनी पवित्र होती तथा तनिक भी पथ भ्रष्ट न होतीं तो निश्चय ही समस्त संसार में एक भी पतित पुरूष भी अपवित्र पुरूष न रह जाता । एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री ' अपने पति को छोड़ कर अन्य सब पुरूषों को पुत्रवत समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है । एक पवित्रतापूर्ण नारी अपने नम्र - प्रेम पूर्ण व्यवहार से अपने पथ भ्रष्ट पति को संभाल सकती है ।[3] किन्तु पवित्रता की आवश्यकता मात्र स्त्रियों के लिये ही नहीं बल्कि पुरूषों के लिये भी है । यदि स्त्रियों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरूषों को पुत्रवत् समझें तो, पुरूषों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियों को अपनी माता समझें ।[4]

श्री रामकृष्ण के विचारों का प्रभाव होने के कारण स्वामी विवेकानंद जी नारी को पतित रूप में स्वीकार नहीं करते हैं । वे मानते हैं कि नारियाँ तो पवित्रता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 214
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 215
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 42
4. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 220

की मूर्ति है । भारतीय जनमानस मे पतिता नारियों के प्रति दुर्भावना उचित नहीं है। यहाँ इस प्रकार की नारियों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है । उसका कोई स्पर्श नहीं कर सकता और न ही उससे कोई वार्तालाप ही कर सकता है । यदि वह घर के भीतर जाती है तो उस स्थान को साफ-सुथरा कर पवित्र बनाया जाता है । पाश्चात्य राष्ट्रों मे अच्छी और बुरी स्त्रियाँ साथ-साथ रहती है - परन्तु भारत में जब स्त्री एक बार गिरती है तो सदा के लिए बहिष्कृत कर दी जाती है । वह उसके पुत्र व पुत्रियाँ सभी बहिष्कृत कर दिये जाते हैं ।[1] यद्यपि इस प्रकार के आचरण से समाज में शुद्धता अवश्य ही स्थापित होती है किन्तु नारियों के प्रति यह उपेक्षा समाज के लिए दुःखदायी है । भारत में जब कोई स्त्री अपने पति के प्रति विश्वास-घात करती है, तब वह अपनी जाति खो देती है, पर अपने नागरिक और धार्मिक अधिकार नहीं खोती वह सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती है । स्वामी विवेकानंद जी पाश्चात्य राष्ट्रों में नारी जाति में फैली विलासिता को समाज के लिए अभिशाप मानते थे । जबकि भारत में सामाजिक प्रतिबन्ध होने से व्याभिचार फैलने की सम्भावना नहीं रहती ।[2]

भारत में पतिता नारियों का विवाह नहीं होता । वे अपने समान बहिष्कृत वर्ग में ही विवाह कर सकती हैं । वे स्त्रियाँ कभी वृक्ष और कभी तलवार को वरण करती हैं । कभी-कभी वे स्त्रियाँ बड़ी दानशीला और धनी बन जाती हैं । किन्तु वे कभी भी अपनी जाति को नहीं पा सकती । उन्हें बग्घी में बैठने का अधिकार नहीं होता अधिक से अधिक बैलगाड़ी में ही बैठ सकती हैं । उन्हें अपनी एक निजी पोशाक पहननी पड़ती है । उनसे कोई बोलता नहीं ।[3] स्वामी विवेकानंद जी धर्म

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 295
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 295
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 299

प्रचारक सस्थाओं व समाज सुधारकों से आग्रह करते है कि - यदि वे पतिता व वेश्याओं के आचरण में परिवर्तन कर सके तो यह बहुत कल्याणकारी कार्य होगा । इस सम्बन्ध में वेष्णव सम्प्रदाय स्त्रियों के पुनरूद्धार के लिए सदैव प्रयासरत रहा है । स्वामी जी स्त्रियों को भ्रष्ट घोषित किये जाने के विरूद्ध थे । वे कहते हैं कि यह कोई सामाजिक प्रक्रिया नहीं है । इस प्रकार की प्रक्रिया सामाजिक विकास में बाधक है । विवेकानंद जी कहते हैं कि - भारत में अभागिन-स्त्रियों के विषय में कोई बात भी नहीं करता ।[1]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी ने अपने अद्वैतवादी दर्शन के अनुरूप ही संसार के समक्ष पुरूष के समान स्त्री को भी समान अधिकार और उत्तरदायित्व दिलाने का प्रयास किया । स्वामी जी के नारी सम्बन्धी अधिकारों में कर्त्तव्यों पर विशेष बल दिया गया है । विशेष कर जब वे कहते हैं कि अपने सतीत्व और पवित्रता के बल पर पथभ्रष्ट पति को सत्यता के मार्ग पर लाया जा सकता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्त्रियों के अधिकारों के प्रति उतने अधिक गम्भीर नहीं है अर्थात् आधुनिक परिपेक्ष्य में प्रगतिशील नहीं है जिस परिपेक्ष्य में उनके समय के अनेक दूसरे समाज सुधारकों ने अपने विचारों को व्यक्त किया है । किन्तु यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक होगा कि वे पाश्चात्य सभ्यता की अंधी चकाचौंध में अंधे न थे । वे संसार के समक्ष भारतीय नारियों के एक आदर्श को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे और पथभ्रष्ट समाज को यह बताना चाहते थे कि यह देश सीता और सावित्री के आदर्शों का देश है । जो अपने सतीत्व के बल पर आज भी हमारे बीच चिरस्मृति के रूप में विद्यमान है और उन्हीं के पदचिन्हों पर चलकर भारतीय नारियाँ पुनः अपने समाज को सुधार कर देश का कल्याण कर सकती हैं ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 298

विवाह - व्यवस्था

सामाजिक - व्यवस्था के निर्माण के पूर्व आदिम अवस्था में विवाह - व्यवस्था का अस्तित्व नहीं था । समाज का स्वरूप मातृसत्तात्मक सत्ता पर आधारित था जिसके कारण कालान्तर मे समाज में एक जटिलतम स्थिति उत्पन्न हो गई । अतः कुछ ऐसे नियमों की स्थापना की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिससे सामाजिक व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से संचालित हो सके । धीरे - धीरे विवाह - व्यवस्था की शुरूआत हुई । विश्व की विभिन्न सभ्यताओं में विवाह सम्बन्धी अलग-अलग प्रथाएं पायी जाती रही हैं । जिनमें भारतीय विवाह - व्यवस्था धर्म संस्कारों पर आधारित एक विशिष्ट व्यवस्था है । ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही इस व्यवस्था में अनेकों दुर्गुण प्रवेश कर गये । जिसके कारण समाज में एक भीषण समस्या उत्पन्न हो गई । स्वामी विवेकानंद जी ने इन समस्याओं के निवारण के लिए भी अपने विचार प्रस्तुत किये ।

इस समस्या में जिन प्रमुख विषयों को उन्होंने अपना केन्द्र बिन्दु बनाया उनमें, बाल - विवाह, दहेज - प्रथा, अन्तर्जातीय प्रथा इत्यादि का प्रमुख स्थान है। स्वामी जी का यह विचार था कि विवाह - व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं का समाधान कर हम समाज को एक पतन के रास्ते पर जाने से रोक सकते हैं । पाश्चात्यीकरण के कारण हमारा देश आँख बन्द कर इस संस्था की विशिष्टताओं को सुरक्षित नहीं रख पा रहा है ।

विवाह सम्बन्धी समस्याओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान बाल-विवाह व्यवस्था का है । अनेक समाज-सुधार आन्दोलनों ने इस समस्या के विरोध में आन्दोलन भी चलाये । विलियम बैंटिंग के सहयोग से कानून के द्वारा बाल-विवाह को निषिद्ध घोषित किया गया । विवेकानंद जी का मानना है कि 25 वर्ष के पूर्व किसी भी बालक व बालिका का विवाह नहीं किया जाना चाहिये ।[1] इस उम्र से पूर्व विवाह करने से

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 25।

परिवार, देश, समाज, राष्ट्र सभी का अहित निश्चित है । किसी भी शास्त्र में बाल-विवाह का समर्थन नहीं किया गया है । सभी शास्त्रों में इस व्यवस्था का विरोध किया गया है । स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि "बाल-विवाह से मुझे अत्यंत घृणा है, इसके लिये मैंने अनेक कष्ट भोगे हैं । इस महापाप के कारण हमारे राष्ट्र को भी अनेक कष्ट भोगने पड़ रहे हैं । इसलिये प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी दृष्टि से इस पैशाचिक प्रथा का समर्थन नहीं किया जाना चाहिये । मैं इस प्रथा के विरूद्ध यथासाध्य लड़ता रहूँगा"।[1]

भारतीय धर्म-शास्त्रों में बाल-विवाह प्रथा का समर्थन करने के पीछे यह तर्क दिया जाता रहा है कि "बाल-विवाह" में हिन्दू जाति को सतीत्व धर्म से विभूषित किया है । सतीत्व ही जाति की जीवन शक्ति है । सतीत्व का विनाश होने पर देश की मृत्यु हो जाती है । अतः सतीत्व की रक्षा का सुगम मार्ग यह है कि माता-पिता अपनी सन्तान के लिये वर-वधू का निर्वाचन करे, तभी यह दोष कम हो सकेगा।[2] बाल-विवाह प्रथा के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाता है कि - "छोटी अवस्था में कन्याओं का विवाह कर देने से वे ससुराल में जाकर लड़कपन से ही कुल धर्म को सीख जायेंगी और गृहकार्य में दक्ष हो जाएंगी इसके अतिरिक्त पिता के गृह में व्यस्क कन्या के स्वेच्छाचारिणी होने की आशंका है । बाल्यकाल में विवाह होने से स्वतंत्र होने का कोई भी भय नहीं रहता और लज्जा, नम्रता, धीरज तथा दानशीलता आदि नारी सुलभ गुणों का विकास होता जाता है ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 360
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 55
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 39

इन सभी तर्कों की आलोचना करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि बाल-विवाह होने से बहुत स्त्रियाँ अल्पायु में ही सन्तान प्रसव करके मर जाती हैं । उनकी सन्तान क्षीण - जीवी होकर देश में भिक्षुओं की संख्या की वृद्धि करती हैं, क्योंकि माता-पिता का शरीर सम्पूर्ण रूप से सबल न होने से, सबल और निरोग सन्तान कैसे उत्पन्न हो सकती है । पठन-पाठन कराके अधिक उम्र होने पर कुमारियों का विवाह करने से उनकी जो सन्तान होगी, उसके द्वारा देश का कल्याण होगा । विधवाओं की संख्या अधिक होने का कारण बाल - विवाह प्रथा ही है ।[1]

किन्तु अब धीरे-धीरे सामाजिक सोच में परिवर्तन आ रहा है लड़कियों का विवाह भी पहले की अपेक्षा देर में होने लगा है । स्वामी जी का विचार है कि बाल विवाह प्रथा के पीछे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण सामाजिक उलाहना है, जिसमें लड़की ज्यों ही जरा सी बड़ी हुई, माँ से लेकर पड़ोसिनें तक विवाह करने को प्रेरित करती रहती हैं । इस प्रथा के पण्डित - पुरोहित भी बहुत अधिक उत्तरदायी हैं ।[2]

स्वामी विवेकानंद जी के वैचारिक प्रभाव के युग में जहाँ अनेकों सामाजिक-समस्याओं पर कई विवाद चल रहे थे, वहीं समाज - सुधारकों के द्वारा विधवा-विवाह जैसी समाज की भीषण समस्या पर भी सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ । स्वामी विवेकानंद जी का इस विषय पर दृष्टिकोण अपने समय के विचारकों से भिन्न प्रकार का था। वे कहते हैं कि सरकार व समाज-सुधार आन्दोलनों द्वारा विधवा विवाह के क्षेत्र में किये गए कार्यों से भारतीय - समाज को कोई लाभ होने वाला नहीं है । विधवा-विवाह की समस्या का समाधान ऐसी कोई योजना नहीं है जिससे स्त्रियों का कोई भला

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 40
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 276

हो सके या राष्ट्र को कोई इससे लाभ ही प्राप्त हो सके ।[1] वे कहते हैं कि मैंने अभी तक ऐसा देश नहीं देखा जिसके भाग्य का निर्णय इस बात से होता हो कि वहाँ की विधवाओं को कितने पति प्राप्त हुए हैं ।[2]

विधवा विवाह के विषय में स्वामी विवेकानंद जी का दृष्टिकोण परम्परावादी है । वे मानते हैं कि हमारे धर्म शास्त्रों में विधवा को सामाजिक बहिष्कार की स्थिति का सामना करना होता है इस प्रकार का व्यवहार स्वामी विवेकानंद जी की दृष्टि में उचित नहीं है क्योंकि वे समाज में किसी भी प्रकार के अस्पृश्यता के व्यवहार को उचित नहीं मानते हैं । स्वामी जी, का विचार है कि विधवा-विवाह के विषय में हमारी सामाजिक - व्यवस्था में दो प्रकार के नियम चले आ रहे हैं -

(1) निम्न जातियों में विधवा-विवाह का प्रचलन रहा है । क्योंकि उनमें पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम रहती आयी है ।

(2) उच्च जातियों में विधवा - विवाह का प्रचलन कम रहा । क्योंकि उसमें पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होती आयी है । उच्च जातियों में पारिवारिक मर्यादा स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों को अधिक मात्रा में अधिकार प्राप्त होते हैं जिसके कारण पुरूष तो बहु-विवाह और पत्नी की मृत्यु के बाद विवाह कर सकता है किन्तु स्त्री नहीं ।[3]

उच्च जातियों में दहेज-प्रथा का प्रचलन अधिक रहा है । इसी कारण बड़ी मुश्किल

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 260
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 263
3. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 362

से कन्या का एक बार ही विवाह करना कठिन होता है दुबारा विवाह करना असम्भव ही है ।[1] धर्मशास्त्र कारों ने समाज में विधवा विवाह का निषेध सामाजिक - आचारों व सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया है । अतः विधवा की स्थिति में सुधार की आवश्यकता है किन्तु इसके लिए सुधार आन्दोलनों, भाषणों, सामाजिक टकराहट की नहीं सामाजिक आचार को बदलने की आवश्यकता है ।[2] स्वामी जी विधवा- विवाह की समस्या का समाधान अन्तर्जातीय - विवाह को प्रोत्साहन देकर करना चाहते थे। इस प्रकार के विवाह से जहाँ सभी कन्याओं का विवाह सहजता पूर्वक बिना किसी कठिनाई के हो सकेगा वहीं दहेज - प्रथा जैसी सामाजिक समस्या का भी समाधान किया जा सकेगा । साथ ही समाज में विवाह के विषय में जो एक बाध्यकारी स्थिति है उससे मुक्ति पाई जा सकेगी जो स्वैच्छिक विवाह कर सकेंगे ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी समान धर्मावलम्बी जातियों में ही अन्तर्विवाह किये जाने के पक्ष में थे । वे मानते हैं कि - ऐसा न करने पर समाज के बंधन ढीले पड़ जायेंगे प्रत्येक जाति की उपजातियों में अन्तर्विवाह शुरू होने चाहिये ।[4] इस प्रकार विवाहों की परिधि विस्तृत करने पर हम अपनी संतति में नये और ताजे खून का संचार कर पायेंगे । जिससे उसकी आजकल के विविध रोगों और अनेक व्याधियों से रक्षा की जा सकेगी ।[5]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 361
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 269
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 270
4. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 275
5. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 276

इसी प्रकार स्वामी विवकानंद जी दहेज प्रथा का भी विरोध करते हैं । उनका मानना है कि यह एक सामाजिक अभिशाप है । जिसके कारण कन्या के जन्म लेते ही उसे परिवार - समाज सभी की उपेक्षा सहन करनी पड़ती है और समाज में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का जन्म दुःख का कारण बन जाता है । कितनी ही योग्य कन्याओं को योग्य पति नहीं प्राप्त हो पाते । देश के कई भागों में जन्म लेते ही कन्या की हत्या भी कर दी जाती है । स्वामी विवेकानंद जी का मानना है कि शिक्षा का विस्तार करके ही समाज को दहेज - प्रथा जैसी समस्या से छुटकारा प्राप्त हो सकता है । शिक्षा के द्वारा ही सामाजिक सोच में परिवर्तन लाया जा सकता है ।

सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हुए स्वामी विवेकानंद जी यह चाहते थे कोई ऐसा एक सार्वभौमिक नैतिक मापदंड प्रस्तुत किया जा सके जिसके माध्यम से मानव-मन स्वतः सच्चरित्रता, आपसी एकता, और प्रेमभाव की ओर प्रेरित हो सके। उसके हृदय में "सत्य" तत्व जागृत हो सके । इसके लिये आवश्यक है कि मनुष्य का खान-पान भी सात्विक हो । स्वामी जी ने इसी कारण भोजन के विषय में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं । भोजन में पवित्रता का होना नितान्त आवश्यक है। स्वामी जी के अनुसार तीन प्रकार के दोषों से खाद्य पदार्थ दूषित हो जाता है । जिनमें प्रथम है - "जाति दोष" अर्थात् भोज्य पदार्थ को जाति में प्रकृतिगत दोष - जैसे लहसुन प्याज और इसी प्रकार के अन्यान्य दोषों से दूर रखा जाना चाहिये । द्वितीय दोष "आश्रय दोष" - जिस पदार्थ को कोई दूसरा छू लेता है तो वह भोजन दूषित हो जाता है । तृतीय दोष "निमित्त दोष" है - भोज्य पदार्थों में बाल, कीड़े या धूल आदि पड़ जाने से निमित्त दोष होता है ।[2] स्वामी जी बहुत चर्बी और अधिक तेल

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 242
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 229

से पके हुए भोजन को अच्छा नहीं मानते। पूरी (पूड़ी) से रोटी अच्छी है । पूरी रोगियों का भोजन है ।[1] ताजा शाक अधिक मात्रा में खाना चाहिये और मिठाई भी कम ही खाना चाहिये । परिस्थितिवश मांसाहारी भोजन करना ठीक है किन्तु साधारणतया शाकाहारी भोजन ही किया जाना चाहिये । स्वामी जी भोजन की सात्विकता के साथ-साथ पौष्टिकता पर भी विशेष ध्यान देते हैं ।

स्वामी विवेकानंद जी इसी प्रकार अनेक अन्य सामाजिक विषयों यथा - सन्यास धर्म, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, संगीत इत्यादि पर भी अपने विचार प्रस्तुत करते हैं । वे समाज के सदस्यों को शक्ति, आत्म संयम, प्रेम की शिक्षा प्रदान कर सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाना चाहते थे ।[2]

स्वामी जी के सामाजिक विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन:-

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत सामाजिक विचारों का अध्ययन करने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी का दृष्टिकोण अत्यधिक सैद्धान्तिक था । अनेक स्थलों पर वे पुरातन पन्थी का पूर्णतया उन्मूलन नहीं कर सके थे । "जाति-व्यवस्था" और "वर्ण-व्यवस्था" पर अपने विचार प्रस्तुत करते समय वे प्राचीन काल से चली आ रही "जाति-व्यवस्था" का पूरी तरह से समर्थन करते हैं । वे "जाति" एवं "वर्ण" को समाज की आवश्यक संस्था मानते हैं इस कारण उन्हें परम्परावादी सामाजिक विचारक ही स्वीकार किया जा सकता है । आज समाज में जाति व्यवस्था ने एक विकृत रूप धारण कर लिया है इसी कारण आधुनिक समाज सुधारक जाति

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 229
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 242

व्यवस्था का विरोध करते हैं और यह मानते हैं कि जाति-पाँति का भेदभाव मिटाने के लिये आवश्यक है कि जाति विहीन सामाजिक - व्यवस्था का निर्माण किया जाए। इस विषय पर स्वामी जी का अपना अलग ही दृष्टिकोण है जिसके कारण स्वामी विवेकानंद जी को आधुनिक सामाजिक चिन्तक के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इसी प्रकार धार्मिक विचारों की श्रृंखला में वे सर्व-धर्म-समन्वय पर अवश्य ही बल देते हैं किन्तु उनका दृष्टिकोण पूर्णतया उग्र हिन्दूवाद का है । वे स्वयं कहते हैं कि मैं वेदान्ती हूँ । शिकागो - धर्म महा सम्मेलन में भी उन्होंने हिन्दू-धर्म की ही महिमा मण्डित की । वे न केवल भारतीय धर्मों को वरन् विश्व के सभी धर्मों को हिन्दू - धर्म में समाहित करने पर जोर देते हैं । इस कारण उनके धार्मिक विचारों में विरोधाभास प्रतीत होता है ।

अपने शिक्षा सम्बंधी विचारों में भी वे आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही रखते हैं । महिलाओं को गृह-कला, पाक-कला, सीना-पिरोना इत्यादि की ही शिक्षा दी जानी चाहिये । स्वामी जी द्वारा यह विचार स्त्री और पुरूष के बीच असमानता की भावना व्यक्त करता है । इसी प्रकार वे बार-बार इस बात पर बल देते रहे हैं कि सतीत्व की रक्षा के लिए ही नारी जीवन है । अतः जिस शिक्षा के द्वारा नारी-भावना सतीत्व को सुरक्षित रखने के लिए प्रेरित हो सके, वही वास्तविक शिक्षा है ।

स्वामी विवेकानंद जी स्त्री-स्वतंत्रता के अर्थ को भी एक सीमित मायने में ही लेते हैं । स्वामी जी सतीत्व और स्त्री शब्द को एक साथ रखते हैं । सतीत्व की आवश्यकता न केवल स्त्रियों के लिए बल्कि पुरूषों के लिए भी है । यह कहना

कि स्त्री के द्वारा ही वंश-वृद्धि होती है अतः उसका ही पवित्र रहना अधिक जरूरी है यह बात उचित नहीं प्रतीत होती । पवित्रता की आवश्यकता न केवल स्त्री के लिए बल्कि पुरूष के लिए भी इस कारण आवश्यक है क्योंकि सन्तान में स्त्री पुरूष दोनों के ही समन्वित संस्कारों का प्रभाव होता है । स्वामी जी के इन पक्षपात पूर्ण विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्त्री - जाति के विषय में वही प्राचीन प्रदूषित परम्परावादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाये जाने के पक्ष में थे ।

स्वामी जी की विवाह सम्बंधी परिकल्पना भी पूर्णतया दोष मुक्त नहीं दिखाई देती । विवाह को अत्यंत पवित्र संस्था के रूप में स्वीकार किया जाना तो ठीक है किन्तु यदि यह संस्था किसी कारण से डगमगाने लगे तो वे तलाक की आज्ञा नहीं देते । स्वामी विवेकानंद जी का यह दृष्टिकोण पुरातन पंथी की ओर अधिक झुका हुआ दिखाई देता है विवाह सम्बन्धी उनके विचार प्रगति - शीलता के विरूद्ध हैं । समाज में दहेज प्रथा का निवारण करने के लिये वे अन्तर्जातीय - विवाह को प्रोत्साहित अवश्य करते हैं किन्तु समान धर्मावलम्बियों के बीच ही अन्तर्जातीय विवाह होना चाहिए यह कहकर वे एक अटूट सीमा रेखा निर्धारित कर देते हैं । इसी प्रकार उनके अन्तर्जातीय विवाह सम्बंधी विचार उन्हें उग्र क्रांतिकारी विचारकों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देते हैं । उनके भोजन इत्यादि सम्बन्धी विचारों में भी विरोधाभास दिखाई देता है। एक तरफ वे भोजन की शुद्धता पवित्रता पर अधिक जोर देते हुए शाकाहारी भोजन करने के लिए प्रेरित करते हैं किन्तु दूसरी ओर भोजन की पौष्टिकता का विवरण प्रस्तुत करते हुए वे मांस-भक्षण करने का निषेध नहीं करते ।

यद्यपि यह सत्य है कि स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत सभी सामाजिक विचारों में कुछ शिथिलताएँ अवश्य हैं वे परम्परावाद से अपने आपको मुक्त नहीं कर पाते हैं । किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि वे प्राचीन भारतीय संस्कृति

को पुनर्जाग्रत करना चाहते थे । इसी कारण उन्होंने 'जाति-व्यवस्था', वर्ण-व्यवस्था, धर्म इत्यादि सभी क्षेत्रों में अपने संस्कृति के मूल स्वरूप को पुनः आरोपित करने का प्रयास किया । स्वामी विवेकानंद का लक्ष्य विश्व की आधुनिकता की ओर आँख मूंद कर आगे बढ़ना नहीं था । उन्होंने स्त्री जाति को आत्म रक्षा करने की शिक्षा दिये जाने पर जोर दिया । स्त्रियों को ब्रह्मचारिणियाँ बनाये जाने के लिये प्रस्तुत कार्यक्रम, बाल - विवाह का निषेध, अन्तर्जातीय - विवाह व्यवस्था को प्रोत्साहन देना एक नवीनतम प्रयोग है जो देश की तत्कालीन परिस्थितियों में उन्हें अत्यंत आधुनिक सामाजिक दार्शनिकों की परम्परा में लाकर खड़ा कर देता है ।

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत अनेकों सामाजिक समस्याओं का विवरण व समाधान का एक मात्र लक्ष्य भारतीय सामाजिक - व्यवस्था में आये सभी विषाणुओं को दूर करना था । वे देश के प्राचीन गौरव की पुनर्स्थापना करना चाहते थे । इसी कारण उन्होंने प्रत्येक - मानव से मानव को जोड़ने के लिए उसके दिल और दिमाग में आयी संकीर्णता को दूर कर उनके बीच की खाई को पाटने के लिए अनेक सामाजिक समस्याओं की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया । स्वामी विवेकानंद जी प्रत्येक भारतवासी को जगाते हुए कहते हैं कि हमारे इस देश में अभी भी धर्म और आध्यात्मिकता विद्यमान है, जो मानो ऐसे स्रोत हैं, जिन्हें अबाध गति से बढ़ते हुए समस्त विश्व को अपनी बाढ़ से आप्लावित कर पाश्चात्य तथा अन्य देशों को नवजीवन तथा नवशक्ति प्रदान करनी होगी ।[1] पाश्चात्य सभ्यता की अंधी दौड़ से हमारे राष्ट्र की रीढ़ टूट जायेगी अतः उपनिषदों के आदर्श अपनाकर जीवन अपनाने से ही भारतीय समाज का उद्धार हो सकेगा ।[2]

---

1. शक्तिदायी विचार, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 29
2. शक्तिदायी विचार, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 31

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त सभी सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी विचारों को अपनाकर हम अपने देश में व्याप्त हिंसा, अत्याचार, धार्मिक - कट्टरता, सम्प्रदायवादिता, नारी दुर्दशा व अशिक्षा को दूर कर सकते हैं साथ ही भारतीय समाज को परिष्कृत तथा आदर्श - समाज बना सकते हैं ।

*****

अध्याय - षष्टम

स्वामी विवेकानंद के राजनीतिक विचार

स्वामी विवेकानंद का जन्म राजनीतिक अव्यवस्था के युग में हुआ था । राजनीतिक सुव्यवस्था स्थापित किये बिना समाज की अन्य समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता था । अतः स्वामी विवेकानंद जी ने एक राजनीतिक दार्शनिक की भाँति अनेक राजनीतिक समस्याओं पर अपने विचार प्रस्तुत किये । उनके प्रमुख राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं -

स्वतंत्रता विषयक विचार

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में विवेकानंद का महत्वपूर्ण अनुदान उनकी स्वतंत्रता विषयक अवधारणा है । उनके स्वतंत्रता विषयक विचार विभिन्न भाषणों में प्राप्त होते हैं । स्वतंत्रता प्रिय होने के कारण ही वे बार-बार जीव मात्र की उन्मुक्ति चाहते थे । उन्होंने कहा कि "जीवन सुख और समृद्धि की एकमात्र शर्त-चिन्तन और कार्य में स्वतन्त्रता है । जिस क्षेत्र में यह नहीं है - उस क्षेत्र में मनुष्य जाति और राष्ट्र का पतन होगा ।[1] उनका कहना था कि सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति द्वारा मुख्यतः स्वतंत्रता की खोज कर रहा है । वे कहते हैं कि - "शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरों को उसकी ओर अग्रसर होने में सहायता न देना मनुष्य का सबसे बड़ा तिरस्कार है । जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के विकास में बाधा डालते हैं वे हानिकारक हैं और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये जिनके द्वारा मनुष्य स्वतंत्रता के मार्ग में आगे बढ़ता है ।"[2] अनेक विचारों की भाँति स्वामी जी के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार भी स्वामी रामकृष्ण देव के विचारों पर आधारित हैं ।

---

1. स्वामी विवेकानंद, एक अध्ययन, मनमोहन गांगुली, पृष्ठ - 60
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 72

स्वामी विवेकानंद स्वाधीनता को मुक्ति के अर्थ मे लेते है अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना। लोहे की श्रृंखला भी श्रृंखला है। और सोने की श्रृंखला भी श्रृंखला है । श्री रामकृष्ण देव जी कहते हैं कि - पैर में कांटा चुभने पर उसे निकालने के लिए दूसरे कांटे की आवश्यकता होती है कांटा निकल जाने पर दोनों कांटे फेंक दिये जाते हैं इसी प्रकार 'सत्प्रवृत्ति' के द्वारा 'असत्' प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है । परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है ।[1] स्वामी विवेकानंद जी स्वतंत्रता को उश्रृंखलता के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं । वे स्वतंत्रता को व्यक्तित्व निर्माण के लिए आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं । वे कहते हैं कि स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है । स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो दूसरे लोगों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो, उदाहरण स्वरूप यदि अंग्रेज भारतीयों को सभी अधिकार दें किन्तु व्यक्तिगत उन्नति की स्वतंत्रता न प्रदान करें तो इसका परिणाम अच्छा न होगा । भारतीयों में कोई न कोई प्रबल वर्ग भी सभी लोगों के अधिकारों को छीन लेगा और दूसरे लोगों को दबाने की कोशिश करेगा क्योंकि गुलाम तो शक्ति चाहता है, जिससे दूसरों को गुलाम बनाया जा सके ।[2]

स्वतंत्रता बन्धनों का अभाव नहीं है यह सकारात्मक परिकल्पना है इस दृष्टिकोण की परिपुष्टि करने के लिए स्वामी विवेकानंद जी तार्किक आधार प्रस्तुत करते हैं । कार्य कारण नियम के आधार पर वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं- नियम स्वयं कार्य-कारण का व्यापार है - कुछ पूर्व घटित कार्यों के अनुसार कुछ परवर्ती कार्य होते हैं - प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपना अनुवर्ती होता है । प्रकृति को

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 374
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 334

भी ऐसा ही है । इसी नियम से मन भी आबद्ध है अतः वह स्वतंत्र नहीं है । इच्छा स्वतंत्र नहीं है ।[1] इस प्रकार प्राच्य दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया कि - मन तथा इच्छा देश, काल एवं निमित्त के अन्तर्गत है, ये ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से जड़ पदार्थ हैं । वे कारणता के नियम से आबद्ध हैं । हमारे विचार भी काल में आबद्ध हैं । जो कुछ है उन सबका अस्तित्व देश और काल में है । सब कुछ कारणता के नियम से आबद्ध हैं । इसी प्रकार सभी जड़ पदार्थ भी देश, काल निमित्त के बन्धन में हैं । प्रकृति ही विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करती है सभी प्रकृति से आबद्ध हैं ।[2]

मनुष्य में स्वतंत्र कर्ता मन नहीं है, क्योंकि वह तो आबद्ध है । वहाँ स्वतंत्रता नहीं है । मनुष्य मन नहीं है । वह आत्मा है, मनुष्य का स्वतंत्र कर्त्तव्य आत्मा में प्रतिष्ठित है । व्यक्ति जीवन के निकृष्टतम रूप में भी आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति अंतर्भूत है और विकास कही जाने वाली प्रक्रिया के माध्यम से वह बाहर-प्रकट होने का उद्योग कर रही है ।[3] स्वामी विवेकानंद जी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि - नियमों का पालन करना ही सच्ची स्वतंत्रता है । अपने आप को मुक्त समझने के लिये, स्वतंत्र समझने के लिए बंधन की भावना का त्याग करना ही होगा। वे कहते हैं कि मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि - प्रकृति के नियमों का आज्ञापालन स्वतंत्रता है । यदि हम मानव जाति की उन्नति के इतिहास का अध्ययन करें तो मालूम हो जाएगा कि वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन ही है, जो उस उन्नति का कारण है । वे स्वीकार करते हैं कि "संघर्ष भी नियम के अन्तर्गत है।"

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 162
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 163
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 164

जीवन मुक्ति की स्वतंत्रता की घोषणा है । यदि नियमों की आज्ञानुवर्तिता पर्याप्त मात्रा में की जाय तो वह हमें जड़ और निर्जीव बना देंगी यह बात चाहे समाज के क्षेत्र में हो, राजनीति के क्षेत्र के हो या धर्म के क्षेत्र में हो[1]

स्वामी विवेकानंद जी का मानना है कि - शाश्वत नियम स्वतंत्रता नहीं हो सकता यह कहना कि शाश्वत भी नियम के अन्तर्गत है, उसे आश्वस्त और सीमित बना देता है । यह कहना बुद्धिहीनता है कि नियम अनन्त है नियम मनुष्य में स्वभाव सिद्ध नहीं है मनुष्य के सम्बन्ध में यह विज्ञान सिद्ध बात है कि हम जहाँ से प्रारम्भ करते हैं वहीं समाप्त भी होते हैं । वास्तविकता यह है कि - हम क्रमशः नियम के बंधन से बाहर होते हुए ही मुक्त हो पाते हैं । और उसमें पूरे जीवन के अनुभव भी मिल जाते हैं - हमारा प्रारम्भ परमात्मा और मुक्ति से होता है और हमारा लय भी उसी में ही होता है । यह नियम बीच की स्थिति के लिए है, जहाँ से होकर हमें मार्ग तय करना है । यदि नियम शाश्वत हो तो उससे छुटकारे की सम्भावना ही नहीं ।[2]

स्वतंत्रता की परिभाषा देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि एकमात्र स्वतन्त्रा ही मुक्ति है यह - चेतन जीवन का सार है । वे एक स्थल पर कहते हैं कि - "मनुष्य रोटी खाने से अधिक अपनी स्वतंत्रता को पसन्द करता है"।[3] दार्शनिक दृष्टिकोण से हम स्वतंत्र नहीं है किन्तु हमारे अन्दर यह भाव बना ही रहता है कि हम स्वतंत्र हैं । वेदान्त दर्शन में भी प्राणियों की इसी स्वतंत्रता एवं मुक्ति की परिकल्पना की गई है ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 165
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 166
3. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 168

स्वतंत्रता के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि "सृष्टि में स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है ।" "मैं" और "तुम" कोई भी स्वतंत्र नहीं है । समस्त प्रकृति की प्रत्येक वस्तु बंधन में जकड़ी हुई है । प्रकृति में सामंजस्य है, जिसका अर्थ है "गुलामी" । मनुष्य को जब इस प्रकृति के रहस्य की जानकारी होती है, तब वह स्वतंत्र हो जाता है । मुक्त हो जाता है, एक मात्र ईश्वर ही स्वतंत्र है । ईश्वर शब्द से अभिप्राय है "पूर्ण स्वतंत्र इच्छा" । ईश्वर की इच्छा के कारण ही यह जगत प्रपंच है । अतः संसार की प्रत्येक वस्तु उसी से आबद्ध है ।[1] स्वामी विवेकानंद जी इसी परिपेक्ष्य में स्वतंत्रता की व्याख्या करते हैं । वे आधुनिक राजनीतिक चिन्तकों से जिनमें - मिल, स्पेन्सर, बेंथम, डार्विन के विचारों से प्रभावित होते हुए भी स्वतंत्रता को स्वच्छन्दता के अर्थ में नहीं ग्रहण करते । मिल जहाँ स्वतंत्रता को "बन्धनों का अभाव" के अर्थ में ग्रहण करते हैं, वहीं स्वामी विवेकानंद का मानना है कि सम्पूर्ण सृष्टि बंधन मय है । एक मात्र ईश्वर ही स्वतंत्र है । उसकी इच्छा ही स्वतंत्र है । मनुष्य स्वतंत्र तभी होता है, जब मुक्ति को, ईश्वर को प्राप्त कर लेता है । इसी परिपेक्ष्य में वे आगे कहते हैं कि - "तुम इस जगत से पृथक नहीं हो, जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा तुम्हारे शरीर से पृथक नहीं है, सभी आत्माओं के बीच संचार है । मैं अपने मन को आनंद की अवस्था में लाता हूँ, तो तुम्हारे मन में आनंद की उत्पत्ति होती है, हर जगह हम सब एक हैं । यह ऐसी वस्तु है, जिसे हम समझ नहीं पाते । समस्त जगत देश, काल, निमित्त एवं निर्मित है ।[2]

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों की मान्यता भिन्न है । वे स्वतंत्रता की परिकल्पना में मन को प्रकृति से बाहर मानते हैं । क्योंकि प्रकृति कठोर और

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 138
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 140

दृढ़ नियम मे बंधी और शामिल है । यदि मन को प्रकृति के अन्दर माना जाये तो वह नियमों से आबद्ध होगी । अतः स्वतंत्रता का सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है, क्योंकि जो नियम से बधा है, वह स्वतंत्र कैसे हो सकता है ।[1] भारतीय दार्शनिकों मत पाश्चात्य दार्शनिकों से भिन्न है, उनका मत है कि सभी भौतिक जीवन, चाहे वह व्यक्त हो या अव्यक्त नियम से आबद्ध है । मन तथा बाह्य प्रकृति दोनों नियम के बंधन से आबद्ध है ।[2]

स्वतंत्रता की परिभाषा को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि "तन, मन, धन का बिना दूसरों को हानि पहुँचाये, इच्छानुसार उपयोग करने का नाम ही स्वतंत्रता है । धन, विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने के लिए समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधा मिलनी चाहिये ।[3] विवेकानंद जी का कहना है कि सभी विषयों में स्वाधीनता अर्थात् मुक्ति की ओर अग्रसर होना ही पुरूषार्थ है । जो सामाजिक नियम इस स्वाधीनता के स्फुरण में बाधा डालते हैं, वे ही अहितकर हैं । अतः जिन नियमों के द्वारा सब जीव स्वाधीनता की ओर बढ़ सके, उन्हीं की पुष्टि करनी चाहिए ।[4]

स्वतंत्रता के स्वरूप को परिभाषित करने के बाद स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत स्वतंत्रता के विभिन्न रूपों या प्रकारों की विवेचना भी की जानी आवश्यक है। स्वामी जी ने स्वतंत्रता को व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 162
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम् खण्ड), पृष्ठ - 168
3. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 363
4. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 364

विविध रूपों में रखा है । यहाँ स्वामी जी द्वारा व्यक्त स्वतंत्रता के विविध रूपों पर क्रमशः विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है ।

(1) व्यक्तिगत स्वतंत्रता:-

स्वतंत्रता उन्नति की पहली शर्त है ।[1] अत. प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का सर्वांगीण विकास करने के लिये कुछ आवश्यक स्वतंत्रताएँ प्राप्त होनी चाहिये । इनके अभाव में मनुष्य का जीवन व्यर्थ है । जीवन में इनकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही स्वामी विवेकानंद जी घोषणा करते हैं कि वे स्वतंत्रता प्राप्त करने के योग्य नहीं है, जो दूसरों को स्वतत्रता देने को प्रस्तुत नहीं होते ।[2] अर्थात् एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति का कर्त्तव्य बन जाता है । हमें यह अधिकार तभी प्राप्त होगा जब हम दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह ठीक तरह से करें । हमें उसी क्षेत्र तक स्वतंत्रता प्राप्त होगी जिस क्षेत्र तक हम दूसरों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप कर हानि न पहुँचायें ।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान "विचार एवं अभिव्यक्ति" की स्वतंत्रता का है । स्वामी विवेकानंद जी वैचारिक स्वतंत्रता के पूर्ण पक्षपाती थे । वे किसी के मन में किसी भी विचार को जबरदस्ती भरे जाने के बिल्कुल विरूद्ध थे । वे मानते थे कि मनुष्य को अपना मस्तिष्क विकसित करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये । विचार आरोपित किये जाने से मन का विकास रूक जाता है ।[3] शासन का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को यह स्वतंत्रता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 333
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 40
3. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 360

प्रदान कर इसके मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करें । यहाँ राज्य की भूमिका विधेयात्मक नहीं विघ्न-निवारणात्मक होनी चाहिये । वे कहते हैं "जमीन को कुछ गीली कर दो, जिससे अंकुर आसानी से फूट सके । उसके चारों ओर एक घेरा बना दो, सावधानी रखो कि कोई उसे नष्ट न कर डाले, पाला या बर्फ से उसका नाश न हो जाय ।"[1] राज्य की मात्र इतनी ही भूमिका है । शेष तो सब प्रकृति के भीतर से ही अभिव्यक्त हो जाएगा । मनुष्य के मस्तिष्क में निरर्थक बातें भरने का परिवार, समाज, राज्य को कोई अधिकार नहीं है ।[2]

समाज में भिन्न-भिन्न मनुष्यों के भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं । प्रत्येक विचार या कार्य के पीछे विशाल प्रबल प्रसुप्त शक्ति है । प्रत्येक मनुष्य का भिन्न-भिन्न आदर्श है । वे कहते हैं कि तुम्हारी अपनी प्रकृति के अनुसार जो आदर्श सबसे अधिक अनुकूल हो उसे ही तुम ग्रहण करो और उसी ओर अनवरत प्रयत्न करो। वही तुम्हारा विशेष आदर्श है ।[3] सभी प्राणियों में सहज ज्ञान है जिसे जाने बिना ही हम यत्रवत अंगों का संचालन किया करते हैं । हम सभी में एक उच्चतर प्रेरक शक्ति है । जिसे हम तर्क - शक्ति कहते हैं । जिसके द्वारा बुद्धि अनेक बातों को ग्रहण कर उनसे कोई निष्कर्ष निकालती है । फिर उससे भी उच्चतर रूप का एक और ज्ञान है, जिसे हम अन्तः प्रेरणा कहते हैं, जो तर्क नहीं करता और एक स्फुरण में ही चीजों को जान जाता है । वही सर्वोच्च ज्ञान है । अन्तः स्फूर्ति या दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग तर्क-शक्ति में से होकर जाता है । हमारे अंगों का जो संचालन सहज-ज्ञान के कारण हुआ करता है, वह तर्क-शक्ति के विपरीत नहीं रहता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 54
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 55
3. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 56

यथार्थ अंत:प्रेरणा (दिव्य ज्ञान) भी कभी तर्क-वितर्क की विरोधी नहीं होगी ।[1]

स्वतंत्रता व्यक्तित्व निर्माण का जहाँ प्रमुख साधन है वहीं मनुष्य को नैतिक बनाने के लिये भी आवश्यक है । नैतिक़ता का मार्ग अपना कर ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है ।[2]

स्वामी विवेकानंद जी स्वतंत्रता को पुरूषार्थ के अर्थ में भी लेते हैं । वे कहते हैं कि सभी विषयों में स्वाधीनता, यानी मुक्ति की ओर अग्रसर होना ही पुरूषार्थ है । जिससे और लोग शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर हो सकें स्वतंत्रता की ओर बढ़ना उसमें सहायता देना और स्वयं उसी तरफ बढ़ना ही पुरूषार्थ है । जो सामाजिक नियम स्वतंत्रता मार्ग में बाधा डालते हैं वे ही अहितकर हैं अत: उन्हें शीघ्र ही नष्ट हो जाना चाहिये । जिन नियमों से सब स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हो सके उन्हीं नियमों की पुष्टि करनी चाहिये ।[3] समाज को व्यक्ति निर्माण के लिये इस प्रकार के नियमों का निर्माण करना चाहिये जिससे मनुष्य की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो । इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी अपने इन्हीं विचारों के द्वारा मनुष्य को कानूनी स्वतंत्रता प्रदान करते हैं । वे एक कल्याणकारी राज की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं । राज्य की भूमिका स्वतंत्रता के क्षेत्र में नकारात्मक न होकर सकारात्मक है ।

समाज के व्यक्तियों को स्वतंत्रता प्रदान करने के प्रबल पक्षपाती होने के कारण स्वामी विवेकानंद जी शक्ति एवं निर्भीकता के सिद्धान्त को अपनाते हैं ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 59
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 337
3. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 364

राजनीति शास्त्र की शब्दावली में "प्रतिरोध का सिद्धान्त" कहते हैं । हरबर्ट स्पेन्सर से प्रभावित होने के कारण वे अल्पतम प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । विवेकानंद उत्कट देशभक्त और संवेगात्मक देशभक्ति के मूर्तरूप थे । उन्होंने अपने देश उसकी जनता तथा उसके आदर्शों के साथ अपनी चेतना का तादात्म्य स्थापित कर लिया था उन्होंने भारतीयों के हृदय में यह भावना भरने की कोशिश की कि शक्ति एवं निडरता के बिना न तो व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा हो सकती है, और न अपने अधिकारों के लिए ही संघर्ष ही किया जा सकता है । इस तरह अपने प्रतिरोध के सिद्धान्त द्वारा विवेकानन्द ने अप्रत्यक्ष रूप से यह सन्देश दिया कि भारतवासी शक्ति, निर्भीकता और आत्मबल के आधार पर ही विदेशी सत्ता से लोहा ले सकते हैं और अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी कार्य की स्वतंत्रता पर बल देते है । विवेकानंद जब भारतीयों को कमजोर, कायर और आलसी देखते थे तो वे बहुत असन्तुष्ट हो जाते थे । उन्होंने कहा था- "मैं कायरता को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ । कायर तथा राजनीतिक मूर्खता के साथ मैं अपना कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहता । विवेकानंद ने शक्ति और निर्भीकता का दर्शन वेदान्त की व्याख्याओं के आधार पर प्रस्तुत किया और देश के नवयुवकों को विश्वास दिलाया कि कर्ममय और स्वार्थ रहित जीवन से ही व्यक्ति और राष्ट्र दोनों का विकास हो सकता है । उन्होंने 'आत्मा की सबलता' का पाठ देशवासियों को पढ़ाया तथा निर्भयतापूर्ण राष्ट्रीयता की ज्योति देश के कोने-कोने में जगा दी । उन्होंने स्वदेशवासियों को सन्देश दिया - उत्साह से हृदय भर लो, और सब जगह फैल जाओ । काम करो, काम करो - पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं - भारत का भविष्य तुम पर निर्भर है । काम करते जाओ। तगड़े बनो, मर्द बनो, जो कुछ भी तुम्हें भौतिक रूप से, अथवा आध्यात्मिक रूप से

---

1. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन, डॉ0 अमरेश्वर अवस्थी, डॉ0 राम कुमार अवस्थी, पृष्ठ - 90

कमजोर बनाता है, उसे तुम जहर समझो । अगर दुनिया में कोई पाप है जो वह है दुर्बलता। दुर्बलता को दूर करो, दुर्बलता पाप है ।[1] वे भारतीयों को शारीरिक शक्ति ही नहीं यथार्थ चारित्रिक शक्ति देना चाहते थे । जो पवित्रता, निर्भीकता और त्याग की भावना से उत्पन्न होती है ।

(2) धार्मिक स्वतंत्रता:

स्वतंत्रता के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं । हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में स्वतंत्रता दी थी उसी से हमें एक आश्चर्यजनक धर्म मिला । पर उन्होंने समाज के पैर बड़ी जंजीरों में जकड़ दिये । जिसके फलस्वरूप हमारा समाज, एक शक से., भयंकर और पैशाचिक हो गया । पाश्चात्य देशों में समाज को सदैव स्वतत्रता मिलती रही इसी प्रकार उनका समाज उन्नति कर सका ।[2]

धार्मिक स्वतंत्रता के विषय में स्वामी विवेकानंद जी का विचार है कि हर किसी को अपना धर्म चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये । जिसकी उपासना कोई करता हो, किसी दूसरे को उसी की उपासना करने के लिये विवश नहीं किया जा सकता । सभी मनुष्यों को एक ही झुण्ड में शामिल करने का प्रयत्न, फौजी बल, जबरदस्ती या बहस द्वारा हर एक से उसी एक देवता की पूजा कराने के प्रयत्न भूतकाल में निष्फल हुए हैं और भविष्य में भी निष्फल होंगे, क्योंकि प्रकृतियों की विभिन्नता के कारण ऐसा हो सकना असम्भव है । यही नहीं, वरन् इससे मनुष्य की प्रगति के अवरूद्ध हो जाने की सम्भावना है ।[3]

---

1. पत्रावली (प्रथम), स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 35।
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 333
3. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 55

स्वामी विवेकानंद गुरू रामकृष्ण देव के प्रमुख विचार "जितने मत उतने पथ" को धार्मिक स्वतंत्रता के अर्थ में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि - भिन्न-भिन्न स्वभाव के मनुष्यों के लिये भिन्न-भिन्न मार्ग आवश्यक है । ईश्वर तक पहुँचने का तुम्हारा रास्ता, सम्भव है मेरा न हो। हर एक के लिये एक ही मार्ग निर्धारित होना हानिकारक है, निरर्थक है और सर्वथा त्याज्य है । यदि हर एक मनुष्य का धार्मिक मत एक हो जाये और हर एक, एक ही मार्ग का अवलम्बन करने लगे तो संसार के लिये वह बड़ा बुरा दिन होगा । तब संसार के सब मत और सारे विचार नष्ट हो जायेंगे, सब लोगों की स्वाधीन विचार-शक्ति और वास्तविक विचार-भाव नष्ट हो जायेंगे । विभिन्नता ही जीवन का मूल है ।[1] अतएव संसार के किसी भी धर्म का विरोध करना उचित नहीं है । हमारी प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का यही मूल उद्देश्य है । वेदान्त धर्म की यही मूल मान्यता है । वेदान्त कभी किसी को अलग नहीं करता ।

विवेकानंद जी कहते हैं कि - प्रभुत्व से किसी का कल्याण करने की धारणा त्याग देनी चाहिये। जिस प्रकार पौधे के बढ़ने के लिये जल, मिट्टी वायु आदि पदार्थों का संग्रह कर देने पर फिर वह पौधा अपनी प्रकृति के नियमानुसार आवश्यक पदार्थों का ग्रहण आप ही कर लेता है और अपने स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है । उसी प्रकार दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उनका हित करो । संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो । गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो । सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो ।[2] हमारा धर्म स्पष्ट रूप से यह कह रहा है कि जो कोई स्वतंत्रता प्राप्ति की इच्छा रखे, उसे ही इस ऋषित्व का लाभ करना होगा,

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 30
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 142

मन्त्रदृष्टा होना होगा, ईश्वर साक्षात्कार करना होगा । हमारे धर्मशास्त्रों में इसी को मुक्ति कहा गया है ।[1] हमारे देश में इसी कारण 'इष्ट निष्ठा' रूपी जो अपूर्व सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिसके अनुसार इन महान धार्मिक व्यक्तियों में अपना इष्ट देवता चुनने की पूरी स्वतंत्रता दी जाती है । यह स्वाधीनता इस सीमा तक प्राप्त है कि जिसे अपने धर्म के रूप स्वीकार किया गया हो उसे सभी पैगम्बरों में महान और सभी में श्रेष्ठ स्वीकार करने की भी स्वतंत्रता प्राप्त है ।[2]

(3) आर्थिक स्वतंत्रता:-

विवेकानंद के हृदय में गरीबों और पद - दलितों के प्रति असीम संवदेना थी । समाज में उनके लिए समुचित स्थान दिये जाने की उन्होंने जबरदस्त वकालत की और जनसाधारण के उत्थान को अपने कार्यक्रम का सबसे महत्वपूर्ण अंग बनाया। उन्होंने कहा कि राष्ट्र का गौरव महलों में सुरक्षित नहीं रह सकता झोपड़ियों की दशा सुधारनी होगी, गरीबों को उनके दीन-हीन स्तर से ऊँचा उठाना होगा । देशभक्त बनने की दिशा में सबसे पहला कदम यही है कि हम भूख और अभाव पीड़ित करोड़ों व्यक्तियों के प्रति वास्तविक संवेदना का अनुभव करें और उनके उत्थान की दिशा में कुछ करके दिखाएँ यदि दीन-हीन लोगों को उपेक्षित किया गया तो देश का कल्याण न हो सकेगा । वे कहते हैं कि - मैं उस भगवान या धर्म पर विश्वास नहीं करता जो न विधवाओं के आंसू - पोंछ सकता है और न अनाथों के मुँह में एक टुकड़ा रोटी ही पहुँचा सकता है ।[3]

विवेकानंद ने कहा कि मैं निर्धन हूँ और निर्धनों से प्रेम करता हूँ बीस

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 177
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 81
3. पत्रावली, (प्रथम भाग), स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 243

करोड़ नर-नारी जो सदा गरीबी और मूर्खता के दलदल में फँसे हैं उनके लिये किसका हृदय रोता है ?[1] वे एक - क्रांतिकारी विचारक की भाँति कहते हैं कि हर एक अभिजात वर्ग का कर्त्तव्य है कि अपने कुलीन तंत्र की कब्र वह आप ही खोदे और जितना शीघ्र इसे कर सकें उतना ही अच्छा है । प्रत्येक ब्राह्मण जाति का कर्त्तव्य है कि भारत की दूसरी सब जातियों के उद्धार की चेष्टा करें ।[2] जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वास घाती समझूँगा जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता। वे लोग जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और अब ठाट-बांट से अकड़कर चलते हैं । देशवासियों के लिए जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं कुछ नहीं करते, तो वे घृणा के पात्र हैं ।[3] इस प्रकार स्वामी जी "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" के सिद्धान्त को आगे लाकर सभी के आर्थिक कल्याण के लिए प्रयास करते हैं ।

वे आगे कहते हैं कि निम्न श्रेणी के लोग जब जाग उठेंगे और अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों को समझ लेंगे, तब उनकी एक फूँक से उच्च श्रेणी के लोग उड़ जायेंगे । उच्च श्रेणी के लोगों को निम्न श्रेणी के लोगों के लिए पहले अपनी कोठरी का दरवाजा खुला रखना होगा । अभाव ग्रस्त लोगों की सेवा करनी होगी । भूखे और अशिक्षित लोगों को सन्तुष्ट करना होगा ।[4] जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा है कि एक ऐसा चक्र - प्रवर्तन कर दूँ, जो उच्च और श्रेष्ठ विचारों को सब के द्वार-द्वार पहुँचा दें और फिर स्त्री पुरूष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 345
2. जाति संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 28
3. जाति संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 50
4. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 403

सैकडों वर्षों से लोगों को मनुष्य की हीनावस्था का ही ज्ञान कराया गया है । अब उनको आत्मतत्व सुनने दो । हमारा संघ दीन-हीन, दरिद्र, निरक्षर किसान तथा श्रमिक समाज के लिए है । किसान और श्रमिक समाज मरणासन्न अवस्था में हैं इसीलिए जिस चीज की आवश्यकता है धनवान उन्हे अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने में सहायता दें और कुछ नहीं । फिर किसानों और मजदूरों को अपनी समस्याओं का सामना और समाधान स्वयं करने दो ।[1]

श्री रामकृष्ण देव की भाँति स्वामी विवेकानंद जी भी भारत की निर्धनता, अशिक्षा और अज्ञानता को कलंक मानते थे । उन्होंने घोषणा किया कि भूखे पेट को धर्म की शिक्षा देना अर्थहीन है । जनसाधारण को ऊँचा उठाये बिना कोई भी राजनैतिक उत्थान सम्भव नहीं है । जन साधारण की उपेक्षा करना महान राष्ट्रीय पाप है, और हमारे राष्ट्र के पतन का कारण है, मनुष्य की साधुता ही सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का आधार है । जब तक भारत की जनता शिक्षित, सन्तुष्ट और सुप्रशासित नहीं हो जाती, जब तक भारत के नर-नारी भूख और अज्ञानता से त्रस्त है, तब तक मैं हर आदमी को देश-द्रोही समझूँगा ।[2]

स्वामी विवेकानंद द्वारा व्यक्त उपर्युक्त अर्थव्यवस्था सम्बन्धी विचार उनकी व्यक्ति मात्र के प्रति तीव्र अनुराग की भावना व्यक्त करते हैं । वे भली-भाँति जानते थे कि आर्थिक समृद्धि बिना अन्य सभी स्वतंत्रताएं खोखली है । वे लास्की की भाँति इस विचार से पूर्णतया सहमत थे कि आर्थिक स्वतंत्रता ही अन्य स्वतंत्रताओं की आधार-शिला है । वे कहते हैं कि पेट खाली होने की अपेक्षा भरा पेट होने पर श्रीमद्-

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 300
2. पत्रावली (प्रथम भाग), स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 243

भगवद्गीता का अर्थ अच्छी तरह समझा जा सकता है । भोग के द्वारा योग समय पर आयेगा । परन्तु मेरे देशवासियों का दुर्भाग्य है कि योग की प्राप्ति तो दूर रही, उन्हें थोड़ा सा भोग भी नसीब नहीं । सब प्रकार का अपमान सहन कर बड़ी मुश्किल से वे शरीर की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कर पाते हैं ।[1] इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी दरिद्रनारायण के कल्याण के लिए व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं ।

(4) सामाजिक स्वतंत्रता:-

स्वामी विवेकानंद जी ने व्यक्ति की सामाजिक स्वतंत्रता का पूर्णतया समर्थन किया । वे कहते हैं यदि भारत को महान बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल करना है तो, समाज को नये रूप में संगठित करना होगा । शक्ति-संग्रह की बिखरी हुई इच्छा शक्ति को एकत्र करना, उसमें समन्वय लाना होगा । अतः तुम सब लोग एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ । एक मन हो जाना समाज गठन का रहस्य है । इच्छा शक्ति संचय कर उनका समन्वय करना वह रहस्य है, जो व्यक्ति को सामाजिक स्वतंत्रता प्रदान करता है ।[2] समाज का नेतृत्व, विद्याबल से हो, अथवा धन-बल पर, उस शक्ति का आधार प्रजा ही है । अतः प्रजा की सामाजिक उन्नति के लिए उन्हें अनेक प्रकार की स्वतंत्रताएं दी जानी चाहिए ।

स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं कि हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में स्वाधीनता दी थी और उसी के परिणामस्वरूप हमें एक आश्चर्यजनक धर्म (हिन्दू-धर्म) प्राप्त हो सका । पर उन्होंने समाज के पैर बड़ी - बड़ी जंजीरों से जकड़ दिए और

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 243
2. नया भारत गढ़ो - स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 7

उसके परिणाम स्वरूप हमारा समाज भयंकर रूप में पैशाचिक हो गया । पाश्चात्य राष्ट्रों में समाज को विकास करने की जो स्वाधीनता प्राप्त रही उससे वे समाज पर्याप्त मात्रा में विकसित हो सके और जीवन के विविध क्षेत्रों में वहाँ के नागरिकों का विकास हो सका ।[1] समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है । समाज व्यक्तियों की समष्टि है । व्यक्ति स्वतंत्रता पर समाज की उन्नति सम्भव है । समाज विविध स्वभाव वाले व्यक्तियों की समष्टि है इसी कारण स्वामी जी जाति व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था का समर्थन कर्म के आधार पर करते हैं, वे हिन्दुओं और मुसलमानों के जातीय रस्म रिवाजों का समर्थन करते हैं, उनके रहन - सहन, खान-पान, आचार विचार का पूर्ण समर्थन करते हैं, उनका विचार है कि हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति विविधता पूर्ण है, उसके भीतर इतनी जीवन-शक्ति है, जो दो लाख नई व्यवस्थाओं को जन्म देने में सक्षम है, जब तक कोई जाति शक्तिशाली और क्रियाशील रहेगी तब तक वह विविधता अवश्य पैदा करेगी जाति - व्यवस्था मनुष्य को राग - द्वेष, लोभ आदि दुर्गुणों से सुरक्षित रखती है ।[2] हमारी सामाजिक व्यवस्था विश्व की अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं में श्रेष्ठ रही हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि धर्म पर आधारित होने के कारण अनेकों नैतिक नियमों व धार्मिक संस्कारों से मनुष्य बंधा रहता है । ये बन्धन ही उसे अनैतिक होने से बचाते हैं । अतः सभी स्त्री तथा पुरूष विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में होते हुए भी एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं ।[3]

नियमों पर आधारित समाज जहाँ उन्नति की ओर स्वतः पथगामी होता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 333
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 254
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 104

है वहीं गलत नियमों व परम्पराओं मे जकड जाने के कारण पथ भ्रष्ट होने की भी सम्भावना रहती है । अतः स्वामी विवेकानंद जी इन रूढ़ियों, गलत परम्पराओं, धर्मान्धता का जमकर विरोध करते हैं । वे कहते हैं कि समाज ईश्वरीय विधान नहीं है । वरन् यह "मनुष्य" की अपनी जैवकीय तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्मित है ।[1] समय तथा परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन करना पडता है । इस प्रकार समाज का संगठन, रूप तथा उद्देश्य परिवर्तित होता रहता है । सामाजिक जीवन में वर्ण - भेद का विरोध किया जाना चाहिये । शरीर में कितना भेद है । नाक मुँह, गढ़न, लम्बाई, चौडाई, रंग केश आदि में, कितनी विभिन्नताएँ हैं, यह रग की भिन्नता वर्ण - संकरता से उपस्थित होती है । अतः सामाजिक जीवन में वर्ण-भेद को स्वीकार किया जाना सामाजिक स्वतंत्रता के विरूद्ध है ।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी प्रत्येक भारतीय को सामाजिक स्वतंत्रता प्रदान कर उसका पूर्ण विकास करना चाहते हैं । समाज का प्रत्येक वर्ग वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी भी वर्ग का क्यों न हो सभी को समान रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति होनी चाहिए । सामाजिक स्वतंत्रता में प्रत्येक स्त्री व पुरूष को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है । उन्हें समाज में [illegible] करने का अधिकार है । वे समाज में जाति - व्यवस्था, वर्ण - व्यवस्था, अस्पृश्यता, अशिक्षा, धर्मान्धता, स्त्री जाति पर हो रहे अत्याचारों का विरोध कर भारतीय जनमानस की तन्द्रा को भंग करने का प्रयास करते हैं । उन्होंने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच बढ़ती खाई को अद्वैतवादी विचारधारा के आधार पर समाप्त कर लोगों को ईश्वर के सार्वभौमिक स्वरूप का ज्ञान कराया।

(5) स्त्री-जाति की स्वतंत्रता:-

आधुनिक विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण स्वामी विवेकानंद जी ने

---

1. प्राच्य एवं पाश्चात्य, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 20

स्त्रियों की स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन किया । वे पुरूषों के समान ही स्त्रियों को समान स्वतंत्रता प्रदान करते हैं । वे कहते हैं कि इस देश में स्त्रियों और पुरूषों मे इतना भेद क्यों समझा जाता है यह समझना कठिन है - वेदांत शास्त्र में तो कहा गया है कि - एक ही चित् सत्ता सर्व भूत में विद्यमान है ।[1] स्त्रियों की पूजा करके ही सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं । जिस देश में, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वह देश, वह जाति न कभी बड़ी बन सकी है और न कभी बन ही सकेगी ।[2] स्त्रियों का उत्थान हुए बिना देश का उत्थान सम्भव नहीं है ।

वे स्त्री जाति को पुरूषों के समान स्वतंत्रताएं दिये जाने के साथ ही साथ उन्हें शिक्षा का अधिकार भी प्रदान करते हैं । वे कहते हैं कि हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना चाहिये जहाँ वे अपनी समस्या को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें ।[3] वे स्त्री को धर्म जनित शिक्षा प्रदान कर उनका चहुर्मुखी विकास करना चाहते हैं । सीता के चरण चिन्ह का अनुसरण कराकर उनकी उन्नति किये जाने का उन्होंने समर्थन किया । स्त्रियों को भारतीय आदर्शों के साथ ही साथ विज्ञान एवं अन्य विषय सीखने की भी स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए । इस प्रकार वे स्त्रियों को अनेक प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं ।

(6) राजनैतिक स्वतंत्रताः -

स्वामी विवेकानंद जी मूलतः धर्म से सम्बन्धित होने के कारण राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय नहीं थे । किन्तु उनके राष्ट्रवादी विचारों में राजनीतिक स्वतंत्रता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 181
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 182
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 141

का पूर्ण समर्थन प्राप्त होता है । उन्होंने यह भली - भाँति समझ लिया था कि - राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना व्यक्ति के सभी सामाजिक, व्यक्तिगत, धार्मिक, आर्थिक स्वतंत्रताएं निर्मूल हैं । राजनैतिक स्वतंत्रता का समर्थन कर वे प्रत्येक भारतीय को राष्ट्र से जोड़ने के लिये कृत संकल्प थे । वे कहते हैं कि धन, विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने में समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधा मिलनी चाहिये। सभी विषयों में स्वाधीनता, यानी मुक्ति की ओर अग्रसर होना ही पुरूषार्थ है । जो सामाजिक नियम इस स्वाधीनता के स्फुरण मे बाधा डालते हैं वे ही अहित कर्म है। और ऐसा करना चाहिये जिससे वे जल्द नाश हो जायँ । जिन नियमों के द्वारा सब जीव स्वाधीनता की ओर बढ़ सके उन्हीं की पुष्टि करनी चाहिये ।[1] इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी राजनैतिक स्वतंत्रता मे सर्वप्रथम कानूनी स्वतंत्रता प्रदान कर व्यक्ति को आत्म निर्णय का अधिकार प्रदान करते हैं ।

स्वामी जी राजनीतिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति की समानता का समर्थन करते हैं, कानूनी दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति समान है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधाएँ प्राप्त करने की स्वतंत्रता है । यदि यह स्थिति उत्पन्न हो जाय कि किसी को कम या किसी को अधिक सुविधा देने की आवश्यकता है तो बलवानों की अपेक्षा दुर्बलों को अधिक सुविधा मिलनी चाहिये । क्योंकि उनकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता ईश्वर के द्वारा नहीं हुई है । सभी मनुष्य समान हैं, सबका समान अधिकार है ।[2]

स्वामी विवेकानंद जी प्रत्येक व्यक्ति को अवसर की समानता की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं । वे कहते हैं कि भेद-बुद्धि से संसार में सारे अशुभ और अभेद बुद्धि

---

1. नया भारत गढ़ो, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 45
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 73

से ही संसार में सारे शुभ फलते हैं । यदि एकत्व पर विश्वास किया जाय तो संसार का पूरी तरह से कल्याण किया जा सकता है ।[1] स्वामी जी . अल्पवर्गीय लोगों के विशेषाधिकारों का विरोध करते है । विशेषाधिकारों का भाव मानव-जीवन के लिए विष के समान है । जब कभी विशेषाधिकार तोड़ दिया जाता है, तब जाति को अधिकाधिक प्रकाश तथा प्रगति उपलब्ध होती है । किसी को रंचमात्र भी विशेषाधिकार नहीं प्राप्त होना चाहिये ।[2]

शासन - व्यवस्था में भाग लेने के लिए स्वामी जी नागरिकों को लोकतंत्रीय व्यवस्था से जोड़ते है । वे कहते है कि नागरिकों को अपनी समस्याओं को हल करने के लिए शासन - सत्ता में भाग लेने की स्वतंत्रता होनी आवश्यक है । जनतांत्रिक व्यवस्था का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि - अल्पसंख्यक व्यक्तियों के अत्याचार के समान दुनिया में और अत्याचार घातक नहीं हैं । मुठ्ठी भर लोग जो सोचते हैं, और शासन आरोपित कर देते हैं वह दोषपूर्ण है । निजी विधायक संस्थाएँ बनाओ। जिनके अनुमोदन से कानून का गठन होगा ।[3] इस प्रकार स्वामी जी लोक शक्ति की स्थापना कर लोकतांत्रिक व्यवस्था का समर्थन तथा नागरिकों को वोट देने का समर्थन करते हैं, जिससे राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति को सहभागिता प्राप्त हो सके ।

राजनीतिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत शासन व्यवस्था पर विचार विमर्श करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होना चाहिये । स्वामी जी कहते हैं कि "हम मनुष्य हैं" । भगवान ने हमें विचार शक्ति इसलिये दी है कि हम उसका

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 140
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 100
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 111

यथायोग्य उपयोग करें, इसलिये नहीं कि - जिस प्रकार पशुओं को चाहे जो कोई हाँक ले जाता है उसी प्रकार मनुष्यों को हाँका जा सके ।[1]

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी अपने देशवासियों को अनेक प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, मानव समाज विविधता पूर्ण है । विविधता होने के कारण एक ही निर्दिष्ट मार्ग के द्वारा सभी को सन्तुष्ट कर पाना सम्भव नहीं है । मानव रूचियाँ विविध प्रकार की हैं । मानव स्वभाव विविध रूप में है । अतः सभी मनुष्यों को अपने जीवन में योग्यतानुसार अवसर प्राप्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये । स्वामी विवेकानंद के स्वतंत्रता विषयक विचारों के अध्ययन के उपरांत वे एक राजनीतिक की भाँति प्रतीत होते हैं, किन्तु उनकी राजनीतिक दार्शनिक और राजनीतिज्ञ होने की बात स्वीकार नहीं की जा सकती । वे स्वयं कहते हैं "मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ" और न राजनीतिक आन्दोलन मचाने वालों में से हूँ । मैं केवल आत्म तत्व की चिन्ता करता हूँ । जब वह ठीक होगा तब सब काम अपने आप ही ठीक हो जायेगा ।[2]

विवेकानंद राजनीतिक आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे तथापि वे चाहते थे कि एक शक्तिशाली वीर और गतिशील राष्ट्र का निर्माण हो । वे धर्म को राष्ट्रीय जीवन रूपी संगीत का स्थाई स्वर मानते थे । समय-समय पर उन्हें राजनीतिज्ञ होने का आरोप भी सहना पड़ा । देश की तत्कालीन अव्यवस्था से परे हटकर उनके लिये विचार व्यक्त करना ही स्वाभाविक न था । उन्होंने उन आलोचकों का कड़ा विरोध किया । जो उनपर राजनीतिज्ञ होने का आरोप लगाते रहे । किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि स्वामी विवेकानंद के विचारों और भाषणों मे राजनीति का जो दर्शन प्राप्त होता है, वह उन्हें बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और राजनीतिक चिन्तकों से भी कहीं आगे ले जाता है । वे राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहते थे ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 32।
2. जाति, संस्कृति और समाजवाद, विवेकानंद, पृष्ठ - 15

गाँधी जी के समान ही भारतीय राजनीति की धर्म और सार्वदेशिक परिकल्पना को साकार करने के लिये वे प्रत्येक भारतीय की स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं । प्रत्येक भारतीय को स्वतंत्रता का वास्तविक स्वरूप समझाकर, स्वतंत्रता ही प्रत्येक मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है इसी मुक्ति का सन्देश देकर वे भारत को अंग्रेजी दासता की बेड़ी से मुक्त कराना चाहते थे ।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी के स्वतंत्रता विषयक विचार जहाँ एक ओर व्यक्ति को इहलोक के लिए कल्याणकारी है, वहीं वे दूसरी ओर पारलौकिक उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं ।

समाजवाद विषयक विचार

स्वामी विवेकानंद जी धर्म को सैद्धान्तिक रूप में ही स्वीकार नहीं करते हैं, वरन् उनका धर्म व्यवहारिक रूप मे है । स्वामी जी चाहते थे कि धर्म का प्रभाव लोगों के सामाजिक और आर्थिक आदर्शों तथा उनके नित्य आचरण और कार्य-कलाप पर पड़े । अतः धर्म के रूप में वेदान्त बिल्कुल व्यवहारिक होना चाहिये । इसी कारण उन्होंने अपने धर्म का नाम 'व्यवहारिक वेदान्त' रखा । आधुनिक अर्थों में समाजवाद की परिकल्पना स्वामी जी के व्यवहारिक वेदान्त के अन्तर्गत देखने को मिलती है। स्वामी जी ने स्वयं भी कहा कि मैं समाजवादी हूँ ----- ।[1]

तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत होने के कारण वे अराजकतावाद, उच्छेदवाद, समाजवाद और साम्यवाद जैसे पाश्चात्य आन्दोलनों से परिचित थे । वे इन आन्दोलनों

---

1. जाति, संस्कृति और समाजवाद, विवेकानंद, पृष्ठ - ।

से परिचित भी थे । वे इन आन्दोलनों की भारी सफलता में विश्वास रखते थे । स्वामी जी वेदान्तिक दर्शन के आधार पर सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे - इसी कारण उनके "व्यावहारिक समाजवाद" को "वेदान्तिक समाजवाद" की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त है ।[1]

उन्होंने कहा कि - मैं समाजवादी इसलिए नहीं हूँ कि - मै इसे पूरी तरह से निर्दोष मानता हूँ परन्तु इसलिये कि रोटी न मिलने से आधी रोटी भी अच्छी है ।[2]

स्वामी जी को समाजवाद की प्रेरणा परिव्राजक के रूप मे सम्पूर्ण भारत में अपने भ्रमण के दौरान देश और उसके लोगों को देखने से मिली । बौद्धिक दृष्टि से वे निस्संदेह वेदान्ती और ज्ञान योग के समर्थक थे किन्तु भावना की दृष्टि से, वे वेदान्त के द्वैत निर्वचन से और सगुण ब्रह्म की संकल्पना से अत्यधिक प्रभावित थे। जब वे भारतीय विशाल जन-समुदाय, उनकी गरीबी, निरक्षरता, अन्धविश्वास और सामाजिक पतन के सम्पर्क में आये तो ऐसी सामाजिक प्रथा पर आग बबूला हो गए जो गिने चुने लोगों द्वारा अनेकों का शोषण करने की इजाजत देती है । कर्मयोग में उनकी इतनी अधिक आस्था थी कि उन्हें समस्त कर्म के हेतु के रूप में निर्धन की सेवा में निरन्तर कर्मरत रहने की शक्ति प्रदान की ।[3] इसी कारण उन्होंने सगुण उपासना के लिए दरिद्र नारायण को ईश्वर का रूप माना ।

---

1. स्वामी विवेकानंद, वी0के0आर0वी0 राव, पृष्ठ - 172
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 387
3. स्वामी विवेकानंद, वी0के0आर0वी0 राव, पृष्ठ - 173

समाजवादी विचारकों की श्रेणी में गाँधी जी का नाम भी शामिल किया जाता है । गाँधीवादी समाजवाद बहुत कुछ विवेकानंद के व्यावहारिक वेदान्त का ऋणी है और उसी से निकला है । गाँधी जी और विवेकानंद दोनों ने ही अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया है ।[1] किन्तु स्वामी जी द्वारा प्रस्तावित समाजवाद और कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तावित समाजवाद मे अंतर है । मार्क्स अपने समाजवाद में समाज के व्यक्तियों के समान अधिकार पर बल देते हैं, किन्तु स्वामी जी अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर बल देते हैं । मार्क्स का समाजवाद भौतिकवादी है किन्तु स्वामी जी का समाजवाद मानवतावादी व आध्यात्मवादी है ।[2]

विवेकानंद जी ने समाज के विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति का विवेचन किया है, जो कालान्तर मे जाति में परिवर्तित हो गए एक वर्ग ने उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया । एक वर्ग ने उनकी रक्षा का भार वहन किया तथा दूसरे वर्ग ने उन वस्तुओं के उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया । तीसरे वर्ग ने उनकी रक्षा का भार वहन किया तथा चतुर्थ वर्ग ने उन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा उनका विक्रय करने का कार्य संभाला । द्वितीय तथा तृतीय वर्ग ने वस्तुओं से होने वाले लाभ का अधिकांश भाग स्वयं ले लिया तथा वे लोग जो उन वस्तुओं के वास्तविक उत्पादक थे, अपने उचित अंश से वंचित रहे । इस प्रकार रक्षा करने वाला वर्ग राजा या क्षत्रिय कहलाया इन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाला वर्ग वणिक कहलाया । इन दोनों ने अपने श्रम से कुछ भी नहीं उत्पन्न किया किन्तु ये दूसरों के श्रम का लाभ लेते रहे । इस कारण कालान्तर में एक जटिलतम समाज की स्थापना हुई ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 252
2. स्वामी विवेकानंद, वी0के0आर0वी0 राव, पृष्ठ - 172

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार वर्ण-व्यवस्था ही, स्वामी विवेकानंद के समाजवादी विचारों का मूलाधार है, क्योंकि स्वामी जी मानते हैं कि यह व्यवस्था पूर्णतः निर्दोष न होते हुए भी यूरोपीय समाज के वर्ग - भेद से अच्छी है ।[1] अपने वास्तविक रूप में वर्ण - व्यवस्था ने लंबे काल तक भली-भाँति लोगों की सेवा की है, किन्तु कालान्तर में जाति-प्रथा की कठोरताओं के प्रवेश से यह अपवित्र हो गयी[2] इस अव्यवस्था को दूर करने के लिये स्वामी जी ब्राह्मणों से आह्वान करते हैं कि "तुम्हारा जन्मगत और वंशगत अभिमान मित्थ्या है । उसे छोड़ दो । शास्त्रों में वर्णित तुम में ब्राह्मणत्व अब म्लेच्छ राज में निवास करने के कारण नष्ट हो गया है । सभी के लिये ज्ञान का द्वार खोल दो । पद्दलित जनता को उनका उचित एवं प्रकृत अधिकार दे दो ।[3]

स्वामी जी का उद्देश्य था, निम्नतम को उच्चतम की स्थिति में पहुँचाना। एक ओर आदर्श ब्राह्मण हैं और दूसरी ओर चण्डाल । हमारा सम्पूर्ण कर्त्तव्य है चण्डाल का ब्राह्मण तक उन्नयन ।[4] हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र भी शनैः शनैः शूद्रों को अधिक सुविधा देने के लिए तत्पर रहे । किन्तु शूद्रों का वेद श्रवण करना निषिद्ध था। उनके लिये उच्च शिक्षा का भी निषेध किया गया । किन्तु वहीं धर्मशास्त्रों में यह भी कहा गया है कि "यदि शूद्र ब्राह्मणों के नियमों व रीतिरिवाजों का पालन करना चाहे तो उन्हें प्रोत्साहित किया जाय ।"[5]

---

1. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 9-10
2. स्वामी विवेकानंद पर एक लेख, प्रभादीक्षित, (दिनमान सितम्बर 1976)
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ 340
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 370
5. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 295

स्वामी विवेकानंद जी निम्नस्तर के विकास को एक प्रक्रिया के द्वारा सुनिश्चित करना चाहते हैं । उन्होंने कहा कि वास्तविक समाजवाद की स्थापना - विकास के द्वारा ही सम्भव है । क्रांति के द्वारा नहीं । यदि भारत में शूद्रों की स्थिति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणों की स्थिति के समान हो जाय तो वह पूर्ण समाजवादी राष्ट्र बन जायेगा ।[1] मानव समाज का शासन क्रमशः एक दूसरे के बाद - चार जातियों द्वारा हुआ करता है । ये जातियाँ हैं - पुरोहित, योद्धा, व्यापारी और मजदूर । सबसे अन्त में मजदूर या शूद्र का राज्य आएगा । उनके राज्य मे भौतिक सुख-साधनों का समान रूप से वितरण और हानि होगी - संस्कृति का अधः पतन । साधारण संस्कृति का विस्तार बहुत बढ़ेगा पर असाधारण बुद्धिमान लोग कम होते जायेंगे ।[2]

इस प्रकार स्वामी जी एक ऐसे समाजवादी समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें, पुरोहित, का ज्ञान, योद्धा की संस्कृति, व्यापारी की वितरणशीलता और अन्तिम वर्ग के आदर्श तो ज्यों के त्यों बने रहेंगे किन्तु उनके दोष अलग हटा दिये जायेंगे । यही आदर्श राष्ट्र होगा ।[3]

समाजवाद शब्द का प्रयोग सामान्यतया आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्त के अर्थ में किया जाता है । पाश्चात्य अर्थ में यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो मनुष्य के भौतिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बद्ध है । किन्तु जिस अर्थ में इसका प्रयोग स्वामी जी ने किया है उसमें यह उपर्युक्त पक्षों के साथ ही मानव-जीवन के मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों की उन्नति से भी संबद्ध है । स्वामी जी

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 289
2. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 84
3. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 84

का सिद्धान्त समाज के समस्त सदस्यों को - केवल समान अधिकार दिलाने की ही बात नहीं करता - अपितु समान कर्त्तव्यों के पालन की भी बात करता है । उनका समाजवाद केवल अधिकारों एवं सुविधाओं से सम्बद्ध नहीं है वह तो समाज के विभिन्न अंगों को सुविधाएँ देने के साथ - कुछ कर्त्तव्यों के पालन को संलग्न कर देता है। उनका कहना है कि समस्त अशुभ भेद में है । समस्त शुभ - समानता में है । जो समस्त वस्तुओं की एकता तथा तद्रूपता में विद्यमान है ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी ने समाजवाद का विरोध पूँजीवाद से न दिखाकर - व्यक्तिवाद से दिखाया है ।[2] मार्क्स अपने वैज्ञानिक समाजवाद में - पूँजीवाद का विरोध करते हुए एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें किसी भी सदस्य के पास कोई भी व्यक्तिगत उत्पादक सम्पत्ति न हो । स्वामी जी भी व्यक्तिगत - सम्पत्ति के उन्मूलन के पक्ष मे हैं । किन्तु उनका आधार अलग-अलग है । उन्होंने समानता की शिक्षा दी है और बार-बार भारतीयों को इस बात की चेतावनी दी है कि उन्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि लाखों अशिक्षित तथा गरीब लोग उनके भाई एवं बहन हैं तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिये उन्हें प्रयास करना चाहिये और अपने सुखों का त्याग करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए । समाज के सभी व्यक्तियों को धन - विद्या और ज्ञान का उपार्जन करने का एक समान अवसर मिलना चाहिये । हर एक विषय में स्वतंत्रता अर्थात् मुक्ति की ओर प्रगति ही मनुष्य के लिये उच्चतम लाभ है । जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं वे हानिकारक हैं, अतः उनको नष्ट करने के लिए उपाय शीघ्रता से करना चाहिये । जिन संस्थाओं

---

1. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 10

2. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 85

के द्वारा मनुष्य स्वतंत्रता के मार्ग मे अग्रसर होते हैं । उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी द्वारा प्रस्तावित समाजवाद में आन्तरिक शक्ति का प्रयोग होता है । बाह्य बल का नहीं । लोग अपने सुखों तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का त्याग - अन्तरात्मा की पुकार पर करतें है । न कि शासन दण्ड के भय से ।[2] आधुनिक समाजवाद और स्वामी जी द्वारा प्रस्तावित समाजवाद में अन्तर है । आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद - भौतिक सिद्धान्त पर आधारित है । किन्तु स्वामी जी का समाजवाद - आध्यात्मिकता पर आधारित है । आधुनिक समाजवाद का सम्बन्ध मुख्यतया अर्थ और काम से है किन्तु - स्वामी जी के समाजवाद का सम्बन्ध मुख्यता - धर्म और मोक्ष से है । किन्तु यहाँ यह अन्तर आभासी है । वास्तविक समाजवाद - मानव जीवन के निम्न मूल्यों केवल अर्थ एवं काम का ही विवेचन करता है किन्तु स्वामी जी उपरोक्त मूल्यों के साथ - धर्म और मोक्ष को भी स्वीकार करते हैं । स्वामी जी का कहना है कि अन्तिम मूल्य के लिए अन्य समस्त मूल्य साधन है । वेदान्त दर्शन में भौतिक मूल्यों का भी महत्व स्वीकार किया गया है । इसी कारण स्वामी जी भी भौतिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति की कामना करते हैं । इस प्रकार स्वामी जी अपने विचारों में जीवन के निम्न मूल्यों को उच्च मूल्यों से जोड़कर पूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 264
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 374
3. जाति, संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 76

स्वामी विवेकानद जी का विकास मे पूर्ण विश्वास था - जो समाजवाद को स्थापित कर सकता है । उनका विचार था कि मानव समाज का शासन विभिन्न जातियाँ क्रमशः - विकास करती है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में चारों वर्ण एक के बाद संसार का शासन करते है, इनमें से प्रत्येक ने अपनी पूर्ण प्रभुता की अवधि में कई ऐसे कार्य किए हैं, जिनसे लोगों की भलाई हुई है, और कुछ ऐसे है जिनसे उनको हानि पहुँची है । जैसे - पुरोहित समस्त ज्ञान एवं विधाओं को एक साधारण केन्द्र अर्थात् स्वयं में केन्द्रित करने में लगा रहता है । उसी प्रकार राजा स्वयं अपने को केन्द्रीय बिन्दु बनाकर उसी में समस्त पार्थिव शक्तियों को एकत्र करने के लिये यत्नशील रहता है ।[1]

स्वामी जी कहते हैं कि राजा जो अपनी प्रजा की एकत्रित शक्तियों का केन्द्र है, शीघ्र भूल जाता है कि ये शक्तियाँ उसके पास इसलिये सगृहीत है जिसस वह उनमें और अधिक वृद्धि करे उन्हें सहस्र गुना अधिक बलशाली बनाए और पुनः अपनी प्रजा को लौटा दे । ताकि ये शक्तियाँ समस्त समाज की भलाई के लिए फैल जायं किन्तु परिणाम यह होता है कि राजा अहंकार के कारण सम्पूर्ण ईश्वरत्व का दावा करते हुए लोगों को अति नीच समझता है और चाहता है कि वे हीनता दिखाते हुए उसके सामने धरती पर लोटे । उसकी इच्छा का विरोध करना प्रजा के लिए महा पाप है ।[2]

स्वामी जी क्षत्रियों को वेदान्तों के उपदेशों का पालन करने का आदेश देते हैं । वेदान्त शिक्षा के अनुसार सर्वभूतों में उसी एक भगवान को अवस्थित देखना चाहिए।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 233
2. जाति संस्कृति और समाजवाद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 77

यह भी मुक्ति का पथ है समाज कल्याण का पथ है । वैषम्य ही बन्धन का मार्ग है । कोई व्यक्ति या कोई जाति बाह्य एकत्व ज्ञान के बिना बाह्य स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकती, और मानसिक शक्तियों के एकत्व ज्ञान के बिना मानसिक स्वाधीनता का लाभ भी उसे नहीं हो सकता ।[1] भारत का उत्थान केवल तभी होगा, जब क्षत्रियों के वंशज ब्राह्मणों के वंशजों के साथ समवेट प्रयत्नों में कटिबद्ध हों । लूटे हुये वैभव और शक्ति का पुनः बंटवारा हो । समानता की स्थापना की जाए ।[2]

स्वामी जी का विचार है कि सामाजिक अव्यवस्था असमानता का मुख्य कारण है - अज्ञान, भेद-बुद्धि और वासना ये तीन ही मानव जाति के दुःख के कारण है । वैषम्य ही मनुष्य जाति की घोर दुर्बलता है यह मनुष्य जाति के ऊपर अभिशाप स्वरूप है यही भौतिक, मानसिक आध्यात्मिक तथा सर्वविध बंधनों का मूल है ।

"समं पश्यम् हि सर्वत्र सम वस्थितभीश्वरम् ।
न हिनस्यात्मना त्मानं ततो याति परां गतिम् ।।

अर्थात् - ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से अविस्थित देखकर जो आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, वे परम् गति प्राप्त करते हैं ।[3]

स्वामी जी के उपरोक्त शब्दों में मानवतावादी समाजवाद की स्थापना का बार-बार आग्रह दिखाई पड़ता है वे मानते हैं कि इसी रास्ते पर चलकर न केवल मानव का बल्कि पूरे मानव समुदाय का कल्याण सम्भव है । व्यवहारिक - धर्म

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 357
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 358
3. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 357

के रूप में वेदान्त के अन्तः प्रेरित बोध से वे महसूस करने लगे कि व्यक्ति स्वतंत्रता या मुक्ति के रूप में मोक्ष में पारम्परिक हिन्दू विश्वास वास्तव में स्वार्थपरता पर आधारित है और यह अहं के सामने आत्म समर्पण करने के समान है । ब्रह्म ऐसी चीज नहीं जिसे इस संसार से दूर जाकर खोजा जाय । वेदान्त ज्ञान ने उन्हें बताया कि - वस्तुत. ब्रह्म समाज मानव प्राणियों में प्रकट है । और विशेष रूप से दीन - दुखियों में प्रकट हैं । जिनके लिये उन्होंने "दरिद्रनारायण" एक नया शब्द खोजा ।[1]

मार्क्स के समाजवाद के समान स्वामी जी द्वारा प्रस्तावित समाजवाद में श्रमिक वर्ग को शासन करने का अधिकार देने पर बल दिया गया है । वे कहते हैं कि- किसान, मजदूर, मोची, मेहतर आदि ये सभी वास्तव में राष्ट्र की रीढ़ हैं । यदि वे निम्न श्रेणियाँ अपना - अपना काम करना बन्द कर दें तो सभी को अन्य वस्त्र मिलना ही कठिन हो जाएगा । यदि मेहतर लोग एक दिन काम बन्द कर दें तो संक्रामक रोगों से शहर बर्बाद हो जाय ।[2] इन लोगों ने सहस्र - सहस्र वर्षों तक भीषण अत्याचार सहन किया है, उससे पायी है, अपूर्व सहिष्णुता । सनातन दुःख उठाया, उससे पाया है अटल जीवन शक्ति । ये लोग मुट्ठीभर सत्तू खाकर दुनिया को उलट दे सकेंगे। आधी रोटी मिली तो तीनों लोक में इतना तेज न ऊठेगा । ये रक्त बीज के प्राणों से युक्त है, और पाया है सदाचार बल, जो तीनों लोकों में नहीं है ।[3] भारत में चण्डाल जाति की संख्या कई लाख है और वे इतने नीच समझे जाते हैं कि - उनका सामना पड़ना - मंत्रोच्चार करना आदि भी पाप समझा जाता है । कोई यदि धोखे से भी

---

1. स्वामी विवेकानंद, वी0के0आर0वी0 राव, पृष्ठ - 174
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 106
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 168

उन्हें छूले तो उसे कपड़े बदलने पड़ते हैं, स्नान करना पड़ता है ।[1] स्वामी जी का मानना है कि यह स्थिति - ब्राह्मणों के धर्मशास्त्रों पर एकाधिकार स्थापित होने के कारण हुई है । उन्होंने भारत की दूसरी जातियों के मन में यह विश्वास जगा दिया है कि तू नीच है ।[2]

स्वामी जी भारतीय समाज के इस बहुसंख्यक वर्ग की दुर्दशा का कारण .. यह मानते हैं कि जीवन संग्राम म लगे रहने के कारण अभी तक इन लोगों में ज्ञान का विकास नहीं हुआ है । ये लोग अभी तक मानव बुद्धि द्वारा परिचालित यन्त्र की तरह एक ही भाव से काम करते आये हैं, और बुद्धिमान चतुर व्यक्ति इनके परिश्रम तथा कार्य का सार तत्व निचोड़ लेते हैं ।[3] स्वामी जी इसी परिप्रेक्ष्य में आगे कहते हैं कि अब स्थिति में बदलाव आया है । अब निम्न श्रेणी के लोग सम्मिलित रूप से अपने अधिकारों के लिए संगठित हो रहे हैं । यूरोप और अमेरिका में निम्न जातीय लोगों ने जागृत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है । भारत में भी इसके लक्षण प्रकट हो रहे हैं । निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा आजकल जो हड़तालें हो रही हैं वे इनकी इसी जागृति का परिणाम है । उच्च श्रेणियों का कर्त्तव्य है कि जन साधारण को जागृति करने के काम में उच्च श्रेणी के लोगों को भी लग जाना चाहिये । आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनमें ज्ञान का विकास करना होगा । इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ ही धर्म के गम्भीर तत्व भी इन्हें सिखाने होंगे । शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी सभी अपने व्यवसाय का त्याग नहीं करेंगे ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 255
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 147
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 106

विद्या के बल से वे अपने कार्य को और भी अधिक अच्छे ढंग से करने का प्रयत्न करेंगे ।[1]

स्वामी जी ने उच्च वर्ण के लोगों को भी सावधान किया ब्राह्मणों को आलस्य, मित्थ्याभिमानी, पुरोहितवाद आदि अनेकों दुर्गुणों से दूर रहना चाहिये । वे ब्राह्मणों से कहते हैं कि - अपना ब्राह्मणत्व दीप्त करो, अपने आस-पास के अब्राह्मणों को ऊपर उठाओ । उनकी दृष्टि में ब्राह्मण का प्रमुख आधार आध्यात्मिक प्रकाश से है अतः जो अपने को ब्राह्मण कहलाने का दावा करता है उसे अपना दावा प्रथमतः ब्राह्मण की आध्यात्मिकता का प्रकाश करके और दूसरे अन्य लोगों को अपने स्तर तक उठा करके सिद्ध करना चाहिए ।[2]

स्वामी जी का समाजवाद क्रांति की अवधारणा को स्वीकार नहीं करता । सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मार्क्स के विचारों से सर्वथा भिन्न हैं । मार्क्स अपने दर्शन में श्रमिकों को संगठित कर सशक्त क्रांति का आह्वान करते हैं । किन्तु स्वामी जी सहयोग और आदान - प्रदान की प्रक्रिया पर बल देते हैं । उच्च वर्ग के लोगों से निम्न वर्गों में सांस्कृतिक प्रसार, वेदान्तिक शिक्षा का प्रसार करने पर बल देते हैं। उन्होंने ब्राह्मणेत्तर समुदाय को भी सावधान किया । लड़ने झगड़ने की आवश्यकता नहीं है । यदि कुछ ग्रहण करना है तो उच्च सांस्कृतिक जातियों से संस्कृति ग्रहण करो ।[3]

उन्होंने अपने देशवासियों से कहा कि - यह राष्ट्रीय पोत कोटि-कोटि

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 106
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 284
3. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 285

आत्माओं को भवसागर से पार ले जा रहा है । आज संभवतः आपकी अपनी गलती से कुछ विक्षत हो गया है उसमे कोई छेद हो गया है । यदि इस राष्ट्रीय पोत में छिद्र है, यह समाज हमारा है, हम इसकी सन्तान हैं. आओ हम इसके छेद को भरदें। इस समाज के लिए एक भी कटु शब्द मत कहो । ध्यान सुधार पर अवश्य हो किन्तु विध्वंस नही ।[1] विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद में, स्वभावतः सामाजिक प्रथा और उसके पुनर्निर्माण की आवश्यकता शामिल थी जिससे कि देश की जनता समाज में अपनी उचित भूमिका निभा सके। स्वामी जी अतीत तथा उसके द्वारा पल्लवित आत्मसम्मान से राष्ट्र के गौरव को बनाए रखना चाहते थ । वे सामाजिक संस्थाओं को पूरी तरह नष्ट करने को सहमत नहीं थे बल्कि उनमें सुधार के पक्षपाती थे । उन्होंने कहा कि यदि किसी सामाजिक प्रथा को बदलना आवश्यक है तो सबसे पहले उसमें निहित आवश्यकता का पता लगाया जाय ।[2]

उन्होंने कहा कि भारत के सामाजिक संगठनों में नई-नई परिस्थितियों के अनुरूप निरन्तर परिवर्तन की मांग बनी रही है । इसी मांग के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के 3/4 भाग में अनेक सुधार समितियों और सुधारकों का उदय हुआ । जबकि सुप्त विशाल पोत को जगाने के लिए ये आघात और उत्तेजक उपचार आवश्यक थे। धर्म को एक उपचार के रूप में प्रयुक्त किया जाना आवश्यक था । धर्म में प्रयुक्त असंगत बातों को छोड़ना आवश्यक था ।[3] विवेकानंद जी एक गतिशील समाज में विश्वास रखते थे जो अतीत की अच्छी बातों को अपनाकर वर्तमान में परिवर्तन करें। साथ ही वे अतीत की बहुत सारी बातों से छुटकारा दिलाने के लिये वर्तमान समाज

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 122
2. स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखित पत्रों से उद्धृत
3. स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखित पत्रों से उद्धृत

में भारी परिवर्तन करने के लिये भी तैयार थे । स्वामी जी का दृष्टिकोण पूर्णतया सुधारवादी था । उसमें उग्रवाद, उश्रृंखलतावाद का कोई स्थान न था । मानवतावादी दर्शन होने के कारण स्वामी जी रक्तपात, क्रांति को सामाजिक विकास की प्रक्रिया को अभिशाप मानते थे ।[1]

स्वामी जी सामाजिक विकास की प्रक्रिया में जाति-प्रथा को उचित नहीं मानते थे । धर्म पर जाति को आरूढ करना एक गलत धारणा है वास्तव में धर्म भारत में एक विशेष वस्तु है वे जाति - प्रथा के लिये धार्मिक स्वीकृति की मान्यता का घोर विरोध करते हैं । जाति आनुवांशिक नहीं है । जाति प्रथा विभिन्न व्यक्तियों के विशेष कार्यक्षेत्र पर आधारित है । और यदि ब्राह्मण सोचता है कि - आध्यात्मिक संस्कृति उसका विशेष कार्य क्षेत्र है तो उसे शूद्र पर प्रतिबन्ध न लगाकर स्वतंत्र रूप से उसका मुकाबला करना चाहिए । वेदान्त धर्म जाति-प्रथा का विरोधी है ।[2] जाति एक सामाजिक प्रथा है और यह भारत में राजनीतिक संस्थाओं का परिणाम मात्र है। सभी जाति-पाँति बन्धन है । वह चाहे जन्म के आधार पर हों या योग्यता के आधार पर । सभी रूपों में जाति-प्रथा की स्वामी जी आलोचना करते हैं । वे मानते हैं कि वेदान्त धर्म दर्शन को आधार मानकर ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है ।[3]

स्वामी जी विशेषाधिकारों के कट्टर विरोधी थे । वे जाति-प्रथा को विशेषाधिकार का ही उदाहरण मानते थे । यद्यपि वे आधुनिक समाजवादियों की भाँति इस बात को पूरी तरह से स्वीकार करते हैं कि सभी व्यक्तियोंमें गणितीय आधार पर

---

1. विवेकानंद साहित्य,(दशमखण्ड)पृष्ठ - 104
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम् खण्ड), पृष्ठ - 241
3. स्वामी विवेकानंद, बी0के0आर0वी0 राव, पृष्ठ - 183

पूर्ण समानता सम्भव नहीं है - किन्तु वे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आधार पर विशेषाधिकार दिये जाने के पूर्णतया विरूद्ध थे । विशेषाधिकार का विचार मानव - जीवन के नाश का कारण है । पहले की भाँति दो शक्तियाँ निरन्तर कार्यरत हैं- एक जाति को बना रही है दूसरी उसे तोड़ रही है । समाज में विशेषाधिकारों के समाप्त होने पर ही ज्ञान का प्रकाश फैलता है । अद्वैत दर्शन के आधार पर वे कहते हैं कि सभी मानवों में एक ही शक्ति है किसी में अधिक प्रकट होती है तो किसी में कम । अत: अद्वैत का काम है इन विशेषाधिकारों को नष्ट करना ।[1] इस प्रकार स्वामी जी- जाति - विशेष, धर्म - विशेष के आधार पर सामाजिक विशेषाधिकारों की तीव्र आलोचना करते हुए सामाजिक समानता पर बल देते हैं जो मार्क्स द्वारा प्रस्तावित बुर्जवा वर्ग के विशेषाधिकारों के खण्डन की विचारधारा के अधिक समीप दिखाई पड़ती है ।

स्वामी जी दीन - दुखियों की दशा में सुधार के लिए अनेक योजनाएँ प्रस्तावित करते हैं । उनके लिये छोटे-छोटे कमरे बनवाने होंगे । जिसमें एक-एक कमरे में दो या तीन व्यक्ति रहेंगे । उन्हें अच्छे बिछौने और साफ कपड़े देने होंगे। उनमें एक डाक्टर रहेगा । सप्ताह में एक या दो बार सुविधानुसार वह उन्हें देख जाएगा । धीरे-धीरे उनकी सुविधाओं में अत्यधिक वृद्धि की जायेगी ।[2] स्वामी जी के सामाजिक स्वरूप की व्याख्या अत्यंत सकारात्मक है । वह पूर्णतया व्यवहारिक है। मार्क्स के दर्शन की भाँति स्वामी जी ने भी कई बार सामाजिक वर्गों के द्वारा शासन सत्ता सम्भालने की बात स्वीकार की है । मार्क्स के दर्शन में हम देखते हैं कि आदिम साम्यवादी समाज के बाद सामाजिक अवस्थाओं में सर्वोत्कृष्ट स्थिति सर्वहारा वर्ग

---

1. स्वामी विवेकानंद एण्ड हिजमैसेज, स्वामी तेजसानंद, पृष्ठ - 65
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 123

के हाथों शासन सत्ता प्राप्त हो जाने पर है । ठीक उसी प्रकार स्वामी जी अपने दर्शन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के शासन के बाद - मजदूर वर्ग का शासन स्वीकार करते हैं । इन विचारों में स्वामी जी मार्क्स के विचारों से पूरी तरह से सहमत दिखाई देते हैं ।[1]

इस प्रकार स्वामी जी भारतीय दरिद्र नारायण की दशा में सुधार के लिये समाजवादी राज्य की स्थापना करने के लिये अधिक दृढ़ दिखाई देते हैं । वे कहते हैं कि और सभी मतवाद प्रयोग में लाये जा चुके हैं और दोष युक्त सिद्ध हुए हैं । अब इसकी भी परीक्षा होनी चाहिए । सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियों को सुःख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख और दुःख का बंटवारा होना अधिक उपयुक्त है । शुभ और अशुभ की समष्टि संसार में समान ही रहती है । नये मतवादों से वह भार कंधे से कंधा बदल लेगा । इस दुःखी संसार में सबको सुख भोग का अवसर दो । जिससे दुःख और सुख के अनुभव के पश्चात वे शासन विधि और अन्य झंझटों को छोड़कर प्रभु के पास आ सकें ।[2] विवेकानंद जी ने जिस व्यवहारिक वेदान्त का उपदेश दिया था उसमें निहित अर्थ मानव संबंधों के लिए, उससे कहीं अधिक लाभकारी है जो हमें अनेक क्रांतिकारी वादों में मिलते हैं । आज भारतीय समाज की अवस्था में सुधार के लिए स्वामी जी द्वारा प्रस्तावित समाजवाद की उससे भी कहीं अधिक आवश्यकता है जब उन्होंने अनेक वर्षों पूर्व इसका उपदेश दिया था ।

स्वामी विवेकानंद जी द्वारा प्रस्तावित समाजवादी दर्शन में जहाँ अनेकों ग्राह्य पक्ष हैं वहीं कुछ शिथिलताएँ भी विद्यमान हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना भी आवश्यक है-

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 150
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 387

स्वामी जी का दर्शन धर्म की ओर अधिक झुका हुआ है यही कारण है कि जीवन की अनेकों जटिलतम समस्याओं को सुलझाने के लिये वे धार्मिक उपदेश ही अधिक देते हैं । अद्वैत वेदान्त दर्शन के आधार पर उपरोक्त सामाजिक समस्या को सुलझाया जाना नितान्त काल्पनिक प्रतीत होता है । मार्क्स का दर्शन यहाँ अधिक व्यवहारिक है वह धर्म को अफीम की भाँति स्वीकार करता है । अतः स्वामी जी के समाजवादी विचार अव्यवहारिकता और काल्पनिकता पर अधिक आधारित है ।

स्वामी जी इस बात का भी अनुमान लगा पाने में असमर्थ रहे कि - बुर्जुआ वर्ग और श्रमिक वर्ग मिलकर एक साथ यदि सत्ता को सम्हाले तो समाज में अत्यधिक सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है ।[1] मार्क्स की ही भाँति स्वामी जी भी यहाँ समाज के दोनों वर्गों के बीच सहयोग स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सके। स्वामी जी का दर्शन पूर्णतया राजनैतिक व्यवस्था को परिवर्तित कर सकने में सक्षम नहीं है वह असामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का पक्षपोषक है जो आध्यात्मिकता पर आधारित है ।

स्वामी जी में अपने दर्शन में अधिकारों पर बल न देकर कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया है किन्तु यह सर्वथा स्वीकार है कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही अन्योनाश्रय है । बिना कर्त्तव्यों के अधिकार नहीं और अधिकारों के बिना कर्त्तव्य पालन मात्र काल्पनिकता है । आज अनेक लोकतंत्रीय देशों में नागरिकों के अधिकारों के लिये अनेकों आन्दोलन चलाये जा रहे हैं । देश की शासन व्यवस्था में अधिकारों के लिए लिखित रूप से व्यवस्था की जा रही है । अधिकारों के बिना व्यक्तित्व निर्माण का लक्ष्य कभी पूरा नहीं हो सकता और व्यक्तित्व निर्माण के बिना राष्ट्रीय गौरव की स्थापना हो पाना असम्भव है ।

---

1. स्वामी विवेकानंद, बी0के0आर0वी0 राव, पृष्ठ - 166

स्वामी जी अपने दर्शन में क्रांति और आन्दोलन के मार्ग को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं करते हैं वे इसके स्थान पर सुधार और सहयोग का आह्वान करते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सहस्रों वर्षों से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग मात्र आत्मा की आवाज पर अपने अधिकारों को छोड़ कष्ट सहन करना क्यों स्वीकार करेगा इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी समाज में परिवर्तन की मांग हुई है तो क्रान्ति का सहारा अवश्य ही लेना पड़ा है । अतः स्वामी जी का यह विचार भी समाजवाद की आधुनिक परिकल्पना से मेल नहीं खाता ।

स्वामी जी के दर्शन में समाजवादी परिकल्पना का मुख्य आधार धार्मिक होने के कारण आधुनिक समाजवादी परिपेक्ष्य के अर्थ की पूर्णतया उपेक्षा की गई है यह उपेक्षा भी समाजवादी सिद्धान्तों से परे है ।

उपरोक्त कमियों को देखने के बावजूद यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि कोई भी विचारक अपने आप में पूर्ण नहीं होता । स्वामी जी का दर्शन भी इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत है । समाजवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तावित समाजवाद में अनेकों खामियाँ पायी जाती रही हैं । मार्क्स, लेनिन, स्टालिन सभी कहीं न कहीं अपूर्ण अवश्य रहे हैं । एक दुसरी और महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वामी जी के दर्शन को काल्पनिकता की संज्ञा नहीं दी जा सकती यह दर्शन मनुष्य का लौकिक-कल्याण तो करता ही है साथ ही पारलौकिक उन्नयन की दिशा में भी अग्रसर है इस दिशा में विवेकानन्द मार्क्स इत्यादि दार्शनिकों से कहीं आगे हैं ।

विश्व की महान समाजवादी शक्ति सोवियत रूस (वर्तमान-रूस) भी हिंसात्मक क्रान्ति के रास्ते से अलग हटकर गोर्बाच्योव द्वारा प्रस्तावित पेरेस्त्राइका और ग्लेसनोस्त्र के सुधारवादी कार्यक्रमों के द्वारा सामाजिक सुख और शांति प्राप्त कर सका है । इस

दिशा मे किये गये सुधारों से भी स्वामी जी के सुधारवादी दर्शन को श्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है ।

इस प्रकार स्वामी जी के विचारों में समाजवादी सिद्धान्त के सभी लक्षण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं । यह सत्य है कि वे पूर्णतया धार्मिक थे और वे अच्छी तरह जानते थे कि मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्म में विलीन हो जाना है अतः वे जन साधारण को जीवन की उसी दिशा में प्रेरित करना चाहते थे जिससे उसका सामाजिक कल्याण तो हो ही मोक्ष की दिशा में भी वह आगे बढ़ सके । इस प्रकार वे धर्म को व्यवहारिक जीवन से जोड़कर वेदान्तिक समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं जिसके आधार पर उन्हें अन्य समाजवादी दार्शनिकों से निःसन्देह श्रेष्ठ स्थान प्रदान करना निर्विवादित रूप से उचित है ।

"राष्ट्रवाद विषयक विचार"

पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता की प्रबल तरंग के द्वारा जिस समय भारतीय प्राचीन 'ब्रह्मविद्या' तथा सामाजिक रीति - रिवाजों का समूल परिवर्तन होने लगा था, उस समय भारत का प्रत्येक मनीषी प्राच्य एवं पाश्चात्य की शिक्षा व धर्म इत्यादि विषयों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये सचेष्ट हुआ । राम मोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र आदि मनीषियों ने बंगाल में उस सम्बन्ध में जिस प्रकार का आजीवन प्रयास किया, भारत में अन्यत्र भी उसी प्रकार अनेक महात्माओं के द्वारा प्रयास करने की बात सुनने में आती है । किन्तु श्री रामकृष्ण देव के आविर्भाव के पूर्व उनमें से कोई भी इस विषय का सम्पूर्ण समाधान नहीं कर पाया था । श्री रामकृष्ण देव ने अपने जीवन में भारतीय धर्म मतों का विधिवत् साधन कर तथा प्रत्येक साधना में

सफलता प्राप्त कर यह अनुभव किया था कि भारतीय धर्म भारत की अवनति का कारण नहीं है, उसके कारण अन्यत्र ढूढ़ना पड़ेगा । उन्होंने यह सिद्ध किया कि "प्राचीन काल में धर्म पर अवलम्बित रहकर भारतीय समाज रीति, रिवाज सभ्यता आदि ने भारत को गौरवान्वित किया था । अब भी धर्म के भीतर वह जागृत शक्ति विराजमान है तथा उसे अंगीकार कर जब हम समस्त विषयों में सचेष्ट होंगे तभी हमें प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त हो सकेगी ।[1]

श्री रामकृष्ण देव द्वारा प्रस्तुत यही मूल भावना उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द जी के राष्ट्रवादी विचारों में प्रस्फुटित हुई ।

हीगल की भाँति विवेकानंद का भी विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक तत्व की अभिव्यक्ति है । उनकी दृष्टि में धर्म भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण नियामक सिद्धान्त रहा है । उनका विचार था कि - जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है उसी प्रकार राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्व हुआ करता है, अन्य सभी तत्व उसी में केन्द्रित रहते हैं । भारत का तत्व है "धर्म" उन्होंने कहा कि प्राचीन भारत में बौद्धिकता और आध्यात्मिकता ही राष्ट्रीय जीवन की केन्द्र बिन्दु थीं, राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं । आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता और आध्यात्मिकता की तुलना में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ गौण रही । ऋषियों एवं धार्मिक उपदेशकों के आश्रमों के इर्द - गिर्द ही राष्ट्रीय जीवन का प्रस्फुटन हुआ । इसीलिये उपनिषदों में भी हमें पांचालों, काशयों, (बनारस), मैथिलों एवं मागधियों आदि की समितियों का वर्णन आध्यात्म दर्शन तथा संस्कृति के केन्द्र में रूप में मिलता है ।[2]

---

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, (प्रथम खण्ड), स्वामी सारदानंद, पृष्ठ - 466-467
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 120

स्वामी जी ने राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करने के लिये कार्य किया । स्वामी जी द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त पर आगे चलकर विपिन चन्द्र पाल और अरविन्द घोष ने कार्य किया । भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में स्वामी जी के राष्ट्रवादी विचार एक पथ प्रदर्शक का कार्य करते थे । भारत के गौरव को पुनर्जागृत करने के लिये उन्होंने कहा कि यह राष्ट्र कितने ही संस्कारों के बीच में से होकर युग - युगान्तर में कितने ही महापुरूषों को वक्ष पर धारण करता हुआ आज यहाँ पर आकर उपस्थित हुआ है, तथा इस राष्ट्र का वर्तमान व भविष्य इसके उसी प्राचीन इतिहास द्वारा विशेष रूप से नियंत्रित होगा ।[1] प्रत्येक व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र का भी एक विशेष जीवनोंद्देश्य होता है । किसी देश में जिस प्रकार इंग्लैण्ड में राजनीतिक सत्ता ही उसकी जीवन शक्ति है, कला - कौशल की उन्नति करना किसी दूसरे राष्ट्र का प्रधान लक्ष्य है, ऐसे ही दूसरे राष्ट्रों का भी कोई न कोई लक्ष्य अवश्य है । भारतवर्ष में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवन रूपी संगीत का प्रधान स्वर है । यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे - शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है उससे मुड़ जाने का प्रयत्न करें, और वह अपने इस कार्य में सफल हो जायें तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है । इसी प्रकार यदि हम धर्म को फेंककर अन्य किसी दूसरी शक्ति को अपनी जीवन शक्ति बनाने में सफल हो जायें तो परिणाम स्वरूप हमारा अस्तित्व ही विलुप्त हो जायेगा ।[2] स्वामी जी द्वारा प्रस्तुत यह आदर्श कालान्तर में अनेक स्थलों पर स्वतंत्रता आन्दोलन का केन्द्र रहा । उनका मानना था कि धर्म ही भारत की जीवन शक्ति है और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी तब तक संसार में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है, जो उसका ध्वंस कर सके । जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को

---

1. विवेकानंद चरित, श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 34।
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 115

भूली हुई थी तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही और अतीत की ओर दृष्टि डालते ही चहुँ ओर - पुनर्जीवन के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, भविष्य को भी इसी अतीत के सांचे में ढालना होगा अतीत ही भविष्य होगा । अतएव हिन्दू लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है ।[1]

हीगेलवादी परम्परा का अनुगामी होने के कारण स्वामी जी राष्ट्र को साध्य और व्यक्ति को साधक मानते हैं । उनका कहना था कि राष्ट्र ही सर्वोपरि है । वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे - उन्होंने कहा कि हम सभी अपने आपको भारतीय समझें न कि बंगाली, बिहारी, पंजाबी, गुजराती या मद्रासी । हम लोग सोंचे तो सम्पूर्ण भारत वर्ष के लिये देखें तों सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिये, जो भी कार्य करें वह सम्पूर्ण भारत वर्ष के लिये ।[2] वे "स्वर्गादपि गरीयसी" के सिद्धान्त को देव पूजा से बढ़कर मानते थे । उन्होंने कहा - "हे जननी, मैं मुक्ति नहीं चाहता तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का एक मात्र अवशिष्ट कर्म है ।[3]

विवेकानंद ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिये किया कि वे समझते थे आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरूदण्ड बनेगा उनका मानना था कि राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है । अतीत की उपेक्षा करना राष्ट्र के जीवन का

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 353
2. विवेकानंद - एक जीवनी, आशा प्रसाद, पृष्ठ - 208
3. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 352

ही निषेध करने के समान है । इसलिये भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना होगा । उन्होंने विचार व्यक्त किया, कि भारत खण्डहरों में पड़ी एक विशाल इमारत के सदृश है । पहले देखने पर आशा की कोई किरण नहीं दिखती वह एक विगत और भग्नावशिष्ट राष्ट्र है । जिस प्रकार किसी धनी व्यक्ति की चोरी हो जाये तो उसकी जीवन शक्ति का अंत नहीं हो जाता उसे मृत्यु नहीं कहा जाता, उसी प्रकार भारत की राजनीतिक शक्ति, दासता की जंजीरों में जकड़ जाने से उसकी संस्कृति का अंत नहीं हो सकता ।[1] स्वामी जी यह मानने को बिल्कुल तैयार नहीं थे कि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों में भूल रही है । यह स्वीकार कर लेना निरी मूर्खता है । उन्होंने कहा कि भारत की सजीवता अभी समाप्त नहीं हुई है । राष्ट्रीय जीवन धारा जाति का ध्येय अभी भी जीवित है ।[2]

स्वामी जी अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व करते थे । विश्व के अनेक देशों के द्वारा अपनी - अपनी सभ्यता को सर्वश्रेष्ठ कहे जाने से भिन्न मत रखते हुये वे कहते हैं -"कोई राष्ट्र हो सकता है, जो समुद्र की लहरों को जीत ले, भौतिक तत्वों का नियंत्रण करले जीवन की उपयोगितावादी सुविधाओं को पराकाष्ठा तक विकसित कर ले, किन्तु यह भी संभव है कि वह कभी यह अनुभव न कर पाये कि सर्वोच्च सभ्यता इसमें होती है, जो अपने स्वार्थ को जीतना सीख लेता है।" पृथ्वी के किसी भी देश की अपेक्षा यह स्थिति भारत में अधिक उपलब्ध है क्योंकि यहाँ शरीर सुख सम्बंधी भौतिक स्थितियाँ आध्यात्म के अधीनस्थ मानी जाती है और व्यक्ति प्रत्येक सजीव वस्तु में आत्मा का दर्शन करता है । इसी कारण हम भारतीयों में अदम्य धैर्य के साथ प्रतीपमान दुर्भाग्य को सहन करने की मृदु प्रवृत्ति दिखायी

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 3
2. भारत का भविष्य, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 18

देती है । यहाँ किसी भी अन्य जाति की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक ज्ञान और शक्ति की पूर्ण चेतना भी विद्यमान है । इसीलिये इस जाति और देश का अस्तित्व विद्यमान है । जहाँ से ज्ञान की अनन्त धारा बहती है ।[1]

स्वामी जी अपने राष्ट्रवादी विचारों में यहाँ की अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं को प्रकट करते हैं - वे भारत को संसार का सर्वाधिक नैतिक परायण राष्ट्र मानते हैं । वे कहते हैं कि एक हिन्दू के अनुसार अपने लिये घर बनाना स्वार्थ परायणता है । इसलिये वह ईश्वर की उपासना और अतिथि देव के सत्कार के लिये घर बनाता है । भोजन बनाना है । यदि कोई भूखा अतिथि आ जाता है तो वह अपने लिए भोजन सबसे अन्त में परोसता है । और यह भावना देश भर में व्याप्त है । कोई भी व्यक्ति भोजन और आश्रय की याचना कर सकता है और घरों के द्वार उसके लिये खुल जाते हैं ।[2] भारत देश से ही ज्ञान की धारा प्रवाहित हो सुदूर चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट करती है । उन्हें अपने कंधों को दलित करने वाले एक पार्थिव भार से मुक्ति पाने की प्रेरणा देती है ।[3]

स्वामी जी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के भारत में प्रसार के विरोध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं कि भारतीयमानव की आध्यात्मिकता स्थायी है । उससे उसे कोई छीन नहीं सकता । अपनी आत्मा को उज्ज्वल गन्तव्य की ओर बढ़ाते हुए दारूण भाग्य की नम्रता में तेज विद्यमान है । ऐसे देश के विचारकों

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 266
2. बोस्टन इवनिंग ट्रांस्किप्ट की सम्पादकीय, 5 अप्रैल 1894
3. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 266

को ईसाई - धर्म प्रचारकों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका धर्म ऐसा धर्म है, जो लोगों को भगवान के सभी जीवों के प्रति चाहे वे मनुष्य हों या पशु, सौम्य मधुर, विचारशील और प्रेमशील बनाता है । वे जोर देकर कहते हैं कि भारत के समक्ष संयुक्त राज्य अमेरिका या संसार के अन्य देश बौना मात्र है ।[1]

भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन करते हुए स्वामी जी यहाँ के रीति - रिवाजों का भी वर्णन करते हैं । वे कहते हैं कि भारतवासी प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के स्वदेश के इतिहास और परम्परा से पूर्ण परिचित हैं । उन्होंने कहा कि वे न तो अपने देश को भारत कहते हैं और न अपने को हिन्दू। उनके देश का नाम है हिन्दुस्तान । उनका कहना था कि हम लोगों का राष्ट्र चतुर है, रक्तपात में हमारी आस्था नहीं है ।[2]

अपने राष्ट्र की विशिष्टता का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने कहा कि हिन्दू राष्ट्र को विवाह का व्यसन नहीं है । इसलिये नहीं कि हम लोग नारी जाति से घृणा करते हैं, बल्कि इसलिय कि हमारा धर्म महिलाओं को पूज्य मानने की शिक्षा देता है । हिन्दू को शिक्षा दी जाती है कि वह प्रत्येक स्त्री को अपनी माता समझे। कोई पुरूष अपनी माता से विवाह नहीं करना चाहता ।[3]

स्वामी विवेकानंद जी ने अपने देश के जातीय विभाजन, लोगों के रीति-रिवाज तथा भाषाओं की भिन्नता आदि की व्याख्या की । प्रधानतः वहाँ चार उत्तरी

---

1. विवेकानंद साहित्य, [प्रथम खण्ड], पृष्ठ - 27।
2. विवेकानंद साहित्य, [दशम खण्ड], पृष्ठ - 27।
3. विवेकानंद साहित्य, [दशम खण्ड], पृष्ठ - 280

भाषाएँ हैं और चार दक्षिणी किन्तु सर्वत्र एक सामान्य धर्म है । उन्होंने कहा कि- अन्य देशों की भाँति भारत में एकता का सूत्र भाषा या जाति न होकर धर्म है ।[1] यूरोप में जाति से राष्ट्र बनता है किन्तु एशिया में विभिन्न मूल और विभिन्न भाषाओं के लोग यदि उनका धर्म एक हो, राष्ट्र बन जाते हैं । उत्तरी भारत के लोग चार बड़े वर्गों में विभाजित हैं । दक्षिणी भारत की भाषाएँ उत्तरी भारत की भाषाओं से इतने मौलिक रूप से भिन्न है कि उनमे किसी भी प्रकार का संबंध दिखायी नहीं देता ।[2]

स्वामी जी ने अपनी मातृभूमि की अद्भुत सुन्दरता का विवरण दिया, भारत में ही सबसे पहले आचार-शास्त्र कला, विज्ञान और साहित्य का उदय हुआ । उन्होंने अपने पाश्चात्य राष्ट्रों के भ्रमण में अपने अनेक भाषणों में संसार को भारत की देन के विषय में व्याख्या की - धर्म के क्षेत्र में उन्होंने कहा कि उसने ईसाई धर्म पर अत्यधिक प्रभाव डाला है, क्योंकि ईसा द्वारा दी गई सब शिक्षाएँ पूर्ववर्ती बुद्ध की शिक्षाओं में देखी जा सकती है । उन्होंने यूरोपीय और अमेरिकी वैज्ञानिकों की पुस्तकों से उद्धरण देकर बुद्ध और ईसा में बहुत सी बातों की समानता दिखलायी । ईसा का अन्य संसार से उनका वैराग्य, उनके शिष्यों की संख्या और स्वयं उनकी शिक्षा के आचार शास्त्र वही है जो बुद्ध के थे उनसे कई सौ वर्षों पूर्व ही हो चुके थे ।[3]

स्वामी जी अपने देशवासियों को अधार्मिक, अशिक्षित और संस्कार हीन मानने को बिल्कुल तैयार नहीं थे । वे कहते हैं कि हमारे यहाँ जाति का आधार गुण और

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 270
2. विवकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 273
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 283

धर्म है, धन का आधार नहीं है ।[1] पाश्चात्य राष्ट्रों के द्वारा व्यक्त की गई अपनी सांस्कृतिक विरासत पर आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि तुम्हारे पास कितनी भी दौलत क्यों न हो उससे भारत में कोई उच्चता नहीं प्राप्त होगी । जाति में सबसे गरीब और सबसे धनी बराबर माने जाते हैं, यह उसकी सर्वोत्तम विशेषताओं में से एक है ।[1] धार्मिकता हमारे देश का मूल सांस्कृतिक लक्षण होने के कारण हमारी साधना प्रणाली का लक्ष्य है - "सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उसका दर्शन कर लेना, उस स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण हो जाना, हिन्दुओं का धर्म है ।[2]

चिरकाल से जगद्गुरू रहने के कारण आज भी हम दूसरे राष्ट्रों से बहुत ऊँचे हैं । संगीत में भारत ने संसार को सात प्रधान स्वरों और उनके मापन क्रम सहित अपनी वह अंकन पद्धति प्रदान की है, जिसका आनन्द हम ईसा से लगभग तीन सौ पचास वर्ष पहले से ले रहे हैं । जब कि वह यूरोप में केवल ग्यारहवीं शताब्दी में पहुँची । भाषा विज्ञान में अब हमारी संस्कृत भाषा सभी लोगों द्वारा समस्त यूरोपीय भाषाओं का आधार स्वीकार की जाती है, जो वास्तव में अनमेलित संस्कृत के अपभ्रंशों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।[3] भारत ने पुरातन काल में सर्वप्रथम वैज्ञानिक व चिकित्सक उत्पन्न किये थे । उन्होंने विभिन्न रासायनिकों का पता लगा लिया था और विज्ञान के क्षेत्र में योगदान भी किया । गणित के क्षेत्र में बीजगणित, ज्यामिति और आधुनिक विज्ञान आदि का अविष्कार भारत में ही हुआ ।[4]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 280
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 15
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 284
4. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 280

उनके शब्दों में - मैं उस धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की ही शिक्षा दी है । हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं । हमारे देश ने पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को शरण दिया है । हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम् अवशिष्ट अंश को स्थान दिया था, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था ।[1]

एक सच्चे राष्ट्रवादी होने के कारण स्वामी जी अनेक स्थलों पर हिन्दू धर्म के महत्व पर विचार व्यक्त करते है । शिकागो धर्म सम्मेलन में स्वामी जी ने कहा कि प्रागैतिहासिक युग से चले आने वाले केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान हैं - हिन्दू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म ।[2]

यहूदी धर्म का स्थान ईसाई धर्म ने ले लिया । पारसी धर्म थोड़े से लोगों के बीच विद्यमान है । जबकि भारतीय धार्मिक परम्परा में एक के बाद एक न जाने कितने सम्प्रदायों का उदय हुआ और उन्होंने वैदिक धर्म को जड़ से हिला दिया हिन्दू धर्म को अनेकों संघर्षों से गुजरना पड़ा किन्तु प्रत्येक बार वह अधिक बलशाली होकर पुनः प्रकट हुआ और सभी धर्मों को अपने आप में आत्मसात कर लिया ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 3
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 7
3. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 8

हिन्दू धर्म की अनेक विशेषताओं को प्रकट करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि - यह धर्म श्रुति - वेदों से प्राप्त किया गया है । हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही प्रमाण देता है कि - मैंने आत्मा का दर्शन किया, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है और यही पूर्णत्व की एक मात्र शर्त है । वे आगे कहते हैं कि - हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न मत - मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के लिये संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं है ।[1]

हिन्दू धर्म के प्रधान तत्वों का आधार है मनन एवं चिन्तन युक्त दर्शन-शास्त्र तथा भिन्न-भिन्न वेदों में प्रतिपादित नैतिक उपदेश। इन वेदों का कथन है कि यह विश्व देश और काल की दृष्टि से अनन्त और सनातन है । वह न तो कभी प्रारम्भ हुआ और न तो कभी समाप्त होगा । वह चित्त-शक्ति इस जड़-जगत में विभिन्न अगणित प्रकारों से प्रकाशित हुई है । वह शक्ति ही विश्व में अनन्त रूपों में व्यक्त हुई है । परन्तु फिर भी वह अनन्त चित्त सत्ता स्वरूपत:, स्वयम्भू, सनातन एवं अपरिणामी है । काल की गति का शाश्वत सत्ता पर कोई असर नहीं होता । मानव बुद्धि के लिए सर्वथा अगम्य जो अतीन्द्रिय भूमि है, वहाँ न तो भूत है और न भविष्य ।[2]

अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है, और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है । विश्व के अन्य धर्मों की कमियों की ओर वे ध्यान आकृष्ट करते हुए

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 14
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 254

कहते हैं कि - अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं, और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है । किन्तु हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्म-तत्व का साक्षात्कार चिन्तन या वर्णन केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है । धर्म की विविधता को हिन्दू स्वीकार करते हैं।[1] हिन्दुओं की दृष्टि से धर्म - जगत भिन्न - भिन्न रूचि वाले स्त्री-पुरूषों की विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है ।

भारतीय धार्मिक विशिष्टता को व्यक्त करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि हम उस एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, जो अपनी सन्तान की रक्षा और पथ प्रदर्शन असीम प्रेम से किया करता है । ईसाईयों की भाँति हम भी सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं पर हम उससे भी आगे हैं । हम विश्वास करते हैं कि हम वही है - "सोऽहम्", उसी का व्यक्तित्व हममें अभिव्यक्ति है । वह हममें है और हम उसमें हैं ।[2] भारतीय राष्ट्रवाद में धर्म ही इस भाँति अनुप्रमाणित है कि भारतीय, राष्ट्र की रक्षा या देश-भक्ति की अधिक चिन्ता नहीं करता, वह केवल अपने धर्म की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहता है ।[3]

स्वामी जी ने विश्व के सामने यह विचार रखा कि भारत को धर्म सीखने की आवश्यकता अब नहीं है । यहाँ की धार्मिक क्षेत्र की सर्वोत्कृष्टता विश्व के समक्ष

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 19
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 256
3. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 286

अतीत से ही सिद्ध हो चुकी है । भारत सम्राट अशोक के समय से ही अपने धर्म प्रचारक बाहर भेजता रहा है । उन दिनों जब बौद्ध धर्म नया था और उसमें आस-पास के राष्ट्रों को सिखाने के लिये कोई बात थी । कालान्तर में स्वार्थ बढ़ जाने के कारण यह कार्य अवरूद्ध हो गया ।[1] ईसाई मिशनरियों के द्वारा भारत में धर्म प्रचार के कार्य की उन्होंने निन्दा की और कहा कि - भारत में धर्म का अभाव नहीं है । यहाँ तो वैसे भी आवश्यकता से अधिक धर्म हैं । ईसाई मत ईसा के अभाव में, इस्लाम मुहम्मद के बिना, बौद्धमत बुद्ध के बिना खड़ा नहीं रह सकता पर हिन्दू धर्म किसी धर्म पर आश्रित नहीं है । ईसाई अपने व्यवस्थापन को बिना वेदान्त के नहीं समझ सकते । वेदान्त सभी धर्मों का बौद्धिक सार है । वेदान्त के बिना सभी धर्म अंधविश्वास है । इसके साथ मिलकर सभी वस्तु धर्म बन जाती है । मुझे ऐसे धर्म का अवलम्बी होने का गौरव है जिसने इस विशाल संसार को न केवल सहिष्णुता की शिक्षा दी बल्कि सभी धर्मों को मानने का पाठ भी सिखाया । हम सभी धर्मों की सहिष्णुता और सत्यता में विश्वास करते हैं ।[2]

स्वामी जी अन्य धर्मों की अनेक स्थलों पर प्रशंसा करते हुए उनकी कमियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हैं । वे कहते हैं कि "ईसाई धर्म" जैसे सभी धर्मों का दोष यह है कि इसमें सभी के लिये एक ही नियमावली है ।[3] किन्तु हिन्दू धर्म सभी प्रकार की धार्मिक अभीप्सा और प्रगति की सभी कोटियों के लिये उपयुक्त हैं । वे आगे कहते हैं कि हिन्दू मस्तिष्क का झुकाव सदा नियमनीय अथवा साधारण

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 236
2. श्री रामकृष्ण वचनामृत (तृतीय खण्ड), श्री महेन्द्र नाथ गुप्त, पृष्ठ - 600
3. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 303

सत्य के सहारे विशेष सत्य तक पहुंचने की ओर रहा है, न कि आगमनिक धर्म को अधिक परिष्कृत करने की दृष्टि से। वे पर्यवेक्षण और सामाजीकरण पर विशेष बल देते हैं । स्वामी जी ने विचार व्यक्त किया कि "हमारे देश में प्रक्रिया के फलस्वरूप निर्मित होने वाले विज्ञानों की इतनी कमी है - इसके दो कारण है हमारे यहाँ की जलवायु की भयंकरता हम क्रियाशील होने की अपेक्षा आराम से बैठकर विचार करने के लिये बाध्य करती है और दूसरे यहाँ के पुरोहित और ब्राह्मण दूर देशों की यात्रा या समुद्र यात्रा नहीं करते हैं ।[1]

भारत को उन्नतिशील बनाने के लिये विदेश यात्रा आवश्यक है । दूसरे देशों की सामाजिक व्यवस्था का निरीक्षण करके ही हम अपने राष्ट्र को सुसंगठित कर सकते हैं । हमें दूसरे राष्ट्रों के मनोभाव जानने व उनसे विचार - विनिमय की परम आवश्यकता है ।[2] किन्तु हमें पाश्चात्य जातियों के गुणों को अपने सांचे में ढाल कर लेना होगा । जो कुछ भी हम सीखें अपने मूल तत्व को अर्थात् अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखकर सीखें ।[3] उदाहरण व्यक्त करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि खाना तो सभी देशों में खाया जाता है किन्तु हम पैर समेट पर खाते हैं, और यूरोपीय पैर लटकाकर खाते हैं, अगर मैं भी उन्हीं की तरह खाता हूँ तो मुझे भी पैर लटकाकर खाना पड़ेगा । ऐसा करने से तो निश्चित रूप से मेरी एक टांग यम के घर की ओर प्रस्थान करेगी । इसीलिये हमें उनका (यूरोपियों) का भोजन पैर समेट कर खाना चाहिये ।[4] इसी प्रकार हमें जो भी बातें सीखनी होंगी, अपने वास्तविक जातीय चरित्र

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 385
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 384
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 62
4. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 205

की रक्षा करके ही सीखनी होगी । हमें पश्चिमी रीति - रिवाजों का अध्ययन बड़े धैर्य के साथ करना होगा । उनके बारे में एकाएक कोई उन्मत धारणा बना लेना उचित नहीं है ।

भारतीय सभ्यता का यूरोपीयकरण एक असम्भव और नितान्त मूर्खतापूर्ण कार्य है । विलायती सभ्यता में भारतीयों को रंगने का प्रयास स्वामी जी की दृष्टि में एक निन्दित कार्य है । विलायती रंग मे रंगा व्यक्ति सर्वथा मेरूदण्ड विहीन होता है । वह बेमेल भावों की असंतुलित राशि मात्र है । वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं रह सकता ।[1]

स्वामी जी स्वीकार करते हैं कि - यूरोप के भौतिकवाद से भारत को लाभ हुआ है । इसने मनुष्य मात्र को इस बात का अधिकारी बना दिया है कि - वह स्वतंत्रता पूर्वक अपने जीवन पथ पर अग्रसर हो सके । इसने उच्च वर्णों का एकाधिकार दूर कर दिया है । तथा इसी के द्वारा यह सम्भव हो सका है कि लोग अमूल विधियों पर आपस में परामर्श तथा विचार - विनिमय भी करने लगे हैं । जिनको कुछ लोगों ने अपने अधिकार में कर रखा था । जो स्वयं उनका महत्व तथा उपयोग तक भूल बैठे हैं ।[2] पाश्चात्य जातियों से हम थोड़ा बहुत यह सीख सकते हैं कि भोग में किस प्रकार सफलता मिल सकती है । किन्तु यह शिक्षा ग्रहण करते समय हमें बहुत सावधान रहना चाहिये । आजकल हम पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित जितने लोगों को देखते हैं हमें उनमें से एक का भी जीवन आशाप्रद नहीं दिखाई देता ।[3] इस प्रकार

---

1. विवेकानंद साहित्य, [पंचम खण्ड], पृष्ठ - 47
2. विवेकानंद साहित्य, [पंचम खण्ड], पृष्ठ - 47
3. विवेकानंद साहित्य, [चतुर्थ खण्ड], पृष्ठ - 237

स्वामी जी स्वदेशी, स्वजाति, स्वधर्म को अपनाते हुए पाश्चात्य सभ्यता के दुर्गुणों को त्याग कर सावधानी पूर्वक विशिष्टताओं को ग्रहण करने के लिये कृतसंकल्प थे । वे इसी परिपेक्ष्य में आगे कहते हैं कि जाति - धर्म और स्वधर्म ही वैदिक सभ्यता और समाज की भित्ति है । इसका पतन होने पर देश का अध. पतन हो जायेगा। वर्तमान समय में जाति-धर्म का विकृत अर्थ अपना लिया गया है । पुराण और धर्म शास्त्रों को पढ़कर ही अपने देश के धर्म को ठीक से समझा जा सकता है ।[1]

भारत की उन्नति के लिये वे स्वीकार करते हैं कि - "भारत को पश्चिम से थोड़ा भौतिकवाद सीखना है पश्चिमी देशों को उन्हें थोड़ी आध्यात्मिकता सीखानी है ।"[2] उन्होंने कहा कि भारत में रजोगुण का सर्वथा अभाव है, इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में सत्वगुण का अभाव है इसलिये यह निश्चित है कि भारत से बही हुई सत्वधारा के ऊपर पाश्चात्य जगत का जीवन - निर्भर है और यह भी निश्चित है कि बिना तमोगुण को रजोगुण के प्रभाव से दबाये, हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा, और बहुधा पारलौकिक कल्याण में भी बाधा उपस्थित होगी ।[3] पर यहाँ एक भय यह है कि इस पाश्चात्य वीर्य - तरंग में चिरकाल से अर्जित कहीं हमारे अमूल्य रत्न न बह जायें ? और उस प्रबल भंवर में पड़कर भारत - भूमि भी कहीं ऐहिक सुख-भोग प्राप्त करने की रण-भूमि न बन जाये । असाध्य असम्भव एवं जड़ से उखाड़ देने वाली सभ्यता का अनुकरण कर हमारी "न घर का न घाट का" जैसी दशा तो न हो जायेगी और हम "इतो नष्ट स्ततो भ्रष्ट" के उदाहरण तो न बन जायेंगे ।[4]

---

1. स्वामी विवेकानंद हिज सेकेण्ड विजिट टू द वेस्ट, न्यू डिस्कवरीज वर्क, मेरी लुइस, पृष्ठ - 15
2. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 297
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 136
4. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 137

अपने कोलम्बो व्याख्यान के समय उन्होंने कहा कि यदि भिन्न-भिन्न जातियों की तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण विश्व सहिष्णु एवं निरीह भारत का जितना ऋणी है उतना किसी और देश का नहीं । "निरीह - हिन्दू" ये शब्द कभी तिरस्कार के रूप में प्रयुक्त होते थे, किन्तु आज ये शब्द इस बात का सूचक है कि हिन्दू बराबर से ही जगतपिता की सन्तान रहे हैं । भारत कर्म भूमि रही है, यह पुण्य भूमि है, धर्म ही भारत का मुख्य आधार है, जैसे अन्य देशों में राजनीति या समाज नीति ।[1] इतिहास का ज्ञान करने के बाद यह ज्ञात होता है कि जब कभी किसी प्रबल दिग्वजयी जाति ने संसार की अस्वस्थ जातियों को एक सूत्र में ग्रथित किया है, तब भारतीय आध्यात्मिकता की बाढ़ बाँध तोड़-फोड़ कर बह निकली है ।[2]

पाश्चात्य राष्ट्रों का भ्रमण करते हुए स्वामी जी वहाँ के लोगों के अनेक गुणों से मुग्ध हुए किन्तु वे वहाँ भी अपने भारतीय उद्देश्य को नहीं भूल सके । उन्होंने इंग्लिस्तान की महानता का उपयोग करके भारत का आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित करने की कल्पना की थी । इंग्लिस्तानी समाचार पत्रों ने विवेकानंद की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की उनकी तुलना भारतीय राममोहन राय और केशव सेन से ही नहीं, देवोपम व्यक्तियों में - बुद्ध और ईसा से की गई ।[3] अमेरिका और इंग्लैण्ड की यात्रा करते हुए वहाँ के निवासी उनके विचारों से कुछ इस तरह प्रभावित हुए कि वहाँ पर वेदान्त शिक्षा का नियमित सत्र आरम्भ हुआ । उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों से कहा कि भारत से आध्यात्मिक विचार प्राचीन काल से ही चारों दिशाओं में फैले । यह बात अब

---

1. भारत में विवेकानंद, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 4
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 60
3. विवेकानंद, रोमाँ रोलाँ, पृष्ठ - 99

ऐतिहासिक सत्य के रूप मे प्रकाशित हो चुकी है । सारा संसार भारत के आध्यात्म तत्व के लिये ऋणी है । यहाँ की आध्यात्मिक शक्ति ने अर्वाचीन समय में कितनी बड़ी सहायता पहुँचाई है यह बात अब सब लोग जान गए हैं ।[1]

इन विशिष्टताओं के होते हुए भी भारत के पतन और दारिद्रय तथा दुःख का प्रधान कारण यह है कि घोंघे की तरह अपना सर्वांग समेटकर उसने अपना कार्य क्षेत्र संकुचित कर लिया है । आर्येत्तर जातियों से ज्ञान - तत्व को छिपा कर रखा है । पाश्चात्य राष्ट्रों से अपनी तुलना नहीं की ।[2] जिस दिन से राजाराम मोहन राय ने इस संकीर्णता की दीवार तोड़ी उसी दिन से भारत में थोड़ा सा जीवन दिखाई देने लगा । पाश्चात्य राष्ट्रों का आदर्श है उपयोगिता, हमारा आदर्श है कला । पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त कर हमने कलापूर्ण लोटा तो फेंक दिया किन्तु उसके स्थान पर हमारे घरों में विदेशी नामचीनी के गिलास विराजमान हो गये हैं ।[3] हमने इस उपयोगिता के आदर्श को इस सीमा तक अपना लिया है कि अब वह हास्यास्पद लगने लगा है। उनमें हमें कला एवं उपयोगिता के समन्वय करने की आवश्यकता है । जापान यह समन्वय लाने में जल्दी सफल हो गया और उसने अभूतपूर्व प्रगति भी कर ली ।[4]

एक स्थल पर स्वामी विवेकानंद जी से यह प्रश्न किया गया कि - भारत के लोग यहाँ पर धर्म को ठीक से न समझ पाने के कारण कोई मुसलमान, कोई ईसाई

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 330
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 213
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 47
4. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 326

तो कोई कुछ और बनता जा रहा है । उन लोगों को धर्म का वास्तविक रूप समझाये बिना इंग्लैण्ड, अमेरिका सहित पाश्चात्य राष्ट्रों को वेदान्त धर्म की शिक्षा देने का क्या औचित्य होता है ?[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी स्वामी जी से प्रश्न किया गया कि यदि भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वोत्कृष्ट सभ्यता है तो उससे भी अधिक सभ्य भारतीय क्यों नहीं हो सके । पाश्चात्य राष्ट्रों के समक्ष वहाँ दुःख दारिद्र क्यों है ? स्वामी जी ने इन प्रश्नों के उत्तर में - कहा कि हम भारतवासी भौतिकवादी नहीं है । हमारे राष्ट्रवासियों का मूल गुण उनकी नैतिकता है । पर किसी भी राष्ट्र या जाति के विचार को किसी भी धर्म ने आगे नहीं बढ़ाया । वास्तव में इतिहास में कभी भी कोई ऐसी महान सफलता नहीं प्राप्त की गई, जिसको धर्म ने बाधा न पहुँचायी हो । ईसाई धर्म ने भी अपने आपको इसका अपवाद नहीं सिद्ध किया । डार्विन, मिल, ह्यूम आदि को भी ईसाई धर्माधिकारियों का समर्थन नहीं प्राप्त हुआ था । यही बात भारतीय सभ्यता और धर्म के क्षेत्र में भी लागू होती है । अतः भारतीय हिन्दू-धर्म की आलोचना करना उचित नहीं है ।[2]

भारत में जो दुःख और दारिद्रय दिखाई दे रहा है उसका मूल कारण - जीवन को इतने कठोर धार्मिक और नैतिक बन्धनों से जकड़ दिया जाना है जिससे उनका कोई लाभ नहीं । स्वामी जी मत - मतान्तरों और कुसंस्कारों को धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं । भारतीयों के अधः पतन के लिये उनका अहंकारी हो जाना है कि "वे सत्य गुणी हैं" । सत्य से पतित होने पर मनुष्य एक दम 'तम' में आ जाता है । यही स्थिति भारतीयों की हुई है ।[3] भारत की अवनति इसलिये

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 252
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 290
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 290

नहीं हुई कि हमारे पूर्व पुरूषों के नियम एवं आचार - व्यवहार, खराब थे, वरन् अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार व्यवहारों को न्याय की परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया । भारत का इतिहास पढने वाला प्रत्येक विचारशील पाठक यह जानता है कि भारत के सामाजिक विधान प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित हुए हैं, आरम्भ में ये नियम एक ऐसी विराट योजना के पूँजीभूत रूप थे, जिसे क्रमशः भविष्य में फलीभूत होना था । प्राचीन भारत के ऋषिगण इतने दूरदर्शी थे कि उनकी ज्ञानराशि के महत्व को समझने के लिये विश्व को अब भी सदियों तक प्रतीक्षा करनी होगी और उनके वंशधरों द्वारा इस महान सत्य उद्देश्य का पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकना भारत की अवनति का कारण है ।[1]

विश्व में अन्य राष्ट्रों से पिछड़ जाने का कारण क्या है? इस विषय पर स्वामी जी बड़ी गम्भीरता से विचार करते हैं और कहते हैं कि आज निन्यानवे प्रतिशत आदमी सम्पूर्णतः पाश्चात्य भावों और उपादानों से विर्निर्मित हो रहे हैं । विदेशी भावों को फेंक देना ही भारतीयों के हित में है । किन्तु हमे पाश्चात्य राष्ट्रों से उनका शिल्प- विज्ञान और भौतिक विज्ञान सीखना होगा हमें सकीर्ण दायरे से अब उठना होगा । अपने आपको जो शुद्ध हिन्दू समझने का हम गर्व करते हैं उसे छोड़ना होगा ।[2] हम भारत वासी कभी-कभी इतने अधिक मननशील हो जाते हैं हममें भाव व्यक्त करने की शक्ति ही बिल्कुल नहीं रह जाती । इसी कारण संसार के समक्ष भारत की भाव व्यक्त करने की शक्ति अव्यक्त ही रह गयी हमारे पास जो कुछ था उसे हम गुप्त रखने की चेष्टा करने लगे । यह सिलसिला इतना आगे बढ़ा कि अन्ततः यह जातीय स्वभाव ही बन गया इसी कारण आज हमारी जाति एक मरी हुई जाति

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 353
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 334

समझी जाने लगी है । पाश्चात्य राष्ट्रों से विस्तार और अभिव्यक्ति की शिक्षा लेकर हम भारतवासी पुन: उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होंगे ।[1]

स्वामी जी अपने देश की विशिष्टता को व्यक्त करने के साथ पूर्व और पश्चिम में अन्तर का ही वर्णन करते है ।

पूर्व वाले सन्यास मनन और ऐसे ही अन्य उपायों द्वारा अत्यंत पूर्ण व्यक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं । जबकि पश्चिम में सामाजिक व्यवस्था को और राजनीतिक व्यवस्था को परिपूर्ण बनाने के लिये व्यक्ति तैयार करना चाहते थे । किन्तु कोई भी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति केभलेपन पर टिकती है इस दृष्टि-कोष से भारतीय व्यवस्था श्रेष्ट है जहाँ पर व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्तित्व का धनी बनाने का प्रयास किया जाता है ।[2] पूर्व का आदर्श सामाजिक व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करना है पूर्व के लोग सूक्ष्म तत्वों पर बहस करने में लगे हैं जबकि पश्चिम के लोग पार्लियामेण्ट में सूडान में भारतीय सेना के खर्च पर बहस कर रहे हैं ।[3]

अतीत के इतिहास ने भारत के आन्तरिक जीवन का और पश्चिम की सक्रियता (अर्थात् बाह्य जीवन) का विकास किया है । अभी तक ये एक दूसरे से दूर रहे हैं, अब समय आ गया है कि वे परस्पर मिलें । यदि हम यहाँ भारत में अपने आपको ठीक कर लेते हैं, तो संसार में हमारी स्थिति अपने आप ठीक हो जायेगी।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 339
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 234
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 241

हम केवल राष्ट्रीय जीवन को पुनः स्थापित करना चाहते हैं । भारत का राष्ट्रीय आदर्श है "त्याग" और "सेवा" । इनकी धाराओं में तीव्रता की आवश्यकता है । इस देश में आध्यात्मिकता का क्षेत्र कितना ही ऊँचा क्यों न किया जाय वह पर्याप्त नहीं होगा ।[1]

यूरोपीय राष्ट्रों की बहिर्मुखी शक्ति जिस यूनानी शक्ति का परिचय देती है उसका और हिन्दू आध्यात्मिकता का संयोग भारत के लिये एक आदर्श समाज होगा। भारतीयों को अंग्रेजों की ईर्ष्याहीनता, अव्यक्त लगन और अटूट आत्म विश्वास की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये । जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखता, उसमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी । यूरोप से भारत को बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना होगा और यूरोप को भारत से अन्तः प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना होगा । इन दोनों के मेल से ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा । मुक्ति शब्द जो हमारे धर्म का मूलमंत्र है, वास्तव में, भौतिक, मुक्ति, मानसिक मुक्ति, और आध्यात्मिक मुक्ति का बोध कराती है ।[2]

इस प्रकार स्वामी जी के राष्ट्रवादी विचार उनके राष्ट्रीय प्रेम के परिचायक हैं । उन्होंने विश्व के सामने भारत का एक आदर्शात्मक रूप प्रस्तुत किया । उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद को न चाहते हुये भी भयंकर भावा वेश में कभी - कभी मान्यता प्रदान की । स्वामी जी मानव सेवा के प्रयोजन से ही राष्ट्र जागरण के अभिलाषी थे । इस पर भी उन्होंने कभी गाँधी जी के समान राजनीतिक कार्य में धर्म भावना के प्राधान्य

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 265
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 255

की चैष्टा नहीं की । उन्होंने सदैव स्वय और राजनीति के मध्य नंगी तलवार बनाये रखी ।[1] राष्ट्रवादी भावना प्रबल होने के कारण ही उन्होंने तत्कालीन शासन - प्रणाली मे कई दोषों का वर्णन भी किया । विदेशी लोग भारत का कल्याण करने मे बिल्कुल अज्ञ हैं । स्वामी जी ने उनपर बर्बरता का आरोप लगाया । मानव प्रेम तो केवल उनकी जिह्वा पर हैं उनके हृदय में और कुछ नहीं केवल हिंसा ही हिंसा है । वे गला काटते हैं और उनके हाथ खून से लाल हैं ।[2] विवेकानंद जी का विश्वास था कि इतिहास अपना प्रतिशोध ले लेता है । अंग्रेजों को ईश्वर के दण्ड का भागी होना पड़ेगा। ईसाईयों की संख्या ही कितनी है । स्वामी जी कहते है कि अंग्रेजों द्वारा किये गये अत्याचार का ईश्वर बदला ले लेंगे ।[3]

भारत में हम लोग ईश्वर के प्रतिशोध को भोग रहे हैं । गरीबों की आवाज को उपेक्षित किया गया जब जनता रोटी के लिये पुकार रही थी, तब पण्डित, पुरोहित, वर्ग सोने और चाँदी के पात्रों में खाते थे, और इसके बाद मुसलमानों ने वध और हत्या करते हुए आक्रमण किया, अत्याचार और हत्या करते हुए उन्हें पराभूत किया । वर्षों तक भारत बार-बार पराजित होता रहा । इन सबके बाद अंग्रेज आये । भारत में हिन्दुओं ने चारों तरफ मन्दिर ही मन्दिर छोड़े हैं, मुसलमानों ने भव्य-भवन छोड़े हैं, और अंग्रेजों ने चारों ओर शराब की टूटी हुई बोतलों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं छोड़ा है ।[4] स्वामी विवेकानंद जी भारतीयों को चेतावनी देते हुए सचेत करते हैं कि हमें इतिहास से सबक लेना चाहिये, मनुष्य ईश्वर के प्रतिशोध को भले ही

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 116
2. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 286
3. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम् खण्ड), पृष्ठ - 287
4. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 287

भूल जायें किन्तु इतिहास के प्रतिशोध को कभी नहीं भूलता ।[1] अतः यह निश्चित है कि एक दिन पूरी भारतीय - जाति, राष्ट्र का शोषण करने वाले वर्ग से अपनी बर्बादी का बदला अवश्य ले लेंगी इस प्रकार हमारा भारत पुनर्प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगा ।

'. : विवेकानंद जी के राष्ट्रवादी विचार हीगल द्वारा प्रस्तुत राज्य विषयक विचारों के अत्यधिक निकट है । स्वामी जी के राष्ट्रवादी विचार तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित थे । एक सन्यासी होने के कारण उनके लिये स्वाभाविक भी था कि जन-जागरण हेतु धार्मिक प्रवृत्ति को पुनर्जागृत करते । वे देशवासियों के धार्मिक और नैतिक पुनरूत्थान के कार्य को सुचारू रूप से चलाना चाहते थे । विवेकानंद भारतीय राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक है । उन्होंने देशवासियों से कहा "बंकिमचन्द्र को पढ़ो तथा उनके सनातन धर्म और उनकी देश भक्ति को ग्रहण करो, जन्म भूमि की सेवा को अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझो" ।[2] "हे वीर ! निर्भीक बनो, साहस धारण करो । इस बात पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो, और गर्व के साथ घोषणा करो ।" "मैं भारतीय हूँ और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है ।" तुम अपनी कमर में लंगोटी बाँध कर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोषणा करो, "भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारतीय समाज मेरा बाल्यकाल का पालना है, मेरे यौवन का आनन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग और मेरी वृद्धावस्था की वाराणसी है ।" मेरे बन्धु बोलो भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है ..... ।[3] आदि - आदि ।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 222
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 56
3. इण्डिया एण्ड हर प्राब्लम, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 148

इस प्रकार स्वामी जी ने राष्ट्रवाद को एक नये रूप में प्रस्तुत किया, भारतीयों को आत्म निर्भरता की शिक्षा दी । पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण से बचने को कहा, धर्म में विश्वास और कर्म मे लगने पर जोर दिया । उनके द्वारा दिये गए राष्ट्रवादी विचार देश के राजनीतिक विचार धारा के लिये एक दिव्य दृष्टि कहे जा सकते हैं ।

अन्तर्राष्ट्रवाद विषयक विचार

"प्रकृति एकरस है, विविधता अभिव्यक्ति में है । प्रकृति शब्द अंग्रेजी भाषा के नेचर शब्द का हिन्दी रूपान्तर है । "प्रकृति" शब्द संस्कृत भाषा का शब्द भी है जिसका व्युत्यात्मक अर्थ है - "विभेद" । सब कुछ एक ही तत्व है, लेकिन वह विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है । प्रकृति का उद्देश्य अन्ततः विविधता में एकत्व की स्थापना करना है ।[1] यही एकत्व की स्थापना स्वामी विवेकानंद के सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रवादी विचारों का सारांश है । वे राष्ट्रीय सीमा में बंधे नहीं थे । वे प्राच्य और पाश्चात्य में एकीकरण के पक्ष में थे । "वसुधैव कुटुम्बकम्" की स्थापना का लक्ष्य पूरा करने के लिए उन्होंने देश-विदेश में घूम-घूमकर "वेदान्त" की स्थापना की । स्वामी जी के अंतर्राष्ट्रवादी विचार भी आध्यात्मिकता पर आधारित हैं ।

'विश्व निर्माण की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि प्रत्येक स्थूल वस्तु अत्यंत सूक्ष्म उपकरणों से बनी है । सांख्य दर्शन के आधार पर जगत की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि - प्रकृति के द्वारा ही यह संसार अस्तित्व में आया है । जो अव्यक्त है व्यक्त रूप में या प्रकाशित रूप में भी वह भेदात्मक

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 163

नहीं है यह अव्यक्त रूप ब्रह्म है। ब्रह्म ही एकत्व से बहुत्व और पुनः बहुत्व से एकत्व में परावर्तित करता है यही सृष्टि के निर्माण का लक्ष्य है । विश्व निर्माण का यही उद्देश्य है ।[1]

आधुनिक विज्ञानवादी सोच होने के कारण स्वामी जी जगत की उत्पत्ति को भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही देखते हैं । उनकी दृष्टि में इस विश्व की उत्पत्ति कार्य - कारण सम्बन्ध पर आधारित है । वे कहते हैं कि कार्य और कारण अभिन्न हैं - भिन्न नहीं । कारण ही एक विशेष रूप धारण करने पर कार्य कहलाता है। सभी वस्तुओं का आदि और अंत प्रायः एक सा होता है । मानव जीवन मनुष्य के बीजाणु से आता है और फिर से बीजाणु में ही चला जाता है । नक्षत्र पुंज, नदी, ग्रह, उपग्रह सब कुछ नीहारिका मय अवस्था से आते हैं, और फिर उसी अवस्था में लौट जाते हैं । यही व्यक्त अर्थात् स्थूल अवस्था का कार्य है और सूक्ष्म भाव उसका कारण है । इसी तथ्य को समस्त दर्शनों के जनक स्वरूप महर्षि कपिल बहुत काल पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं "नाश· कारणलयः" - नाश का अर्थ है - कारण में लय हो जाना ।[2]

कार्य कभी कारण से भिन्न नहीं होता वह तो उसी कारण का स्थूलतर रूप में पुनः अविर्भाव मात्र है । वे आगे कहते हैं कि यह सभी वस्तुओं के विभिन्न रूप, जिन्हें हम उद्भिद् अथवा तिर्यग्जाति अथवा मानव जाति कहते हैं, अनन्त काल से घूमते - फिरते आ रहे हैं, बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष पुनः बीज में चला जाता

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 193
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 101

है । इसी प्रकार उठते गिरते हुए यह युग - चक्र चल रहा है । समाज, सृष्टि इसी प्रकार चल रही है । समस्त ब्रह्माण्ड एक रूप होने के कारण, सर्वत्र एक ही नियम लागू होता है ।[1] यह जगत ब्रह्माण्ड अपनी ही सूक्ष्मावस्था से उत्पन्न हुआ है । अब वह व्यक्त भाव हो गया है । वह फिर से अपने सूक्ष्म रूप में चला जायेगा, फिर से व्यक्त होगा । सूक्ष्म रूप व्यक्त होकर स्थूल से स्थूलतर होता जाता है जब तक कि वह स्थूलता की चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाता । चरम सीमा पर पहुँचकर वह फिर उलटकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने लगता है । यह क्रम विकासवाद ही इस सृष्टि पर लागू होता है । सारा ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में रहता है ।[2]

इसी क्रम में वे आगे कहते हैं - बुद्धि ही सृष्टि का प्रभु है, कारण है इस जगत ब्रह्माण्ड में जो बुद्धि अभिव्यक्त हो रही है वह उस सर्वव्यापी, क्रम संकुचित बुद्धि की ही अभिव्यक्ति है । उसी सर्वव्यापी विश्व जनीन बुद्धि का नाम है 'ईश्वर'। अतः ईश्वर की अभिव्यक्ति ही सम्पूर्ण विश्व में हो रही है । इसीलिये सभी शास्त्र घोषणा करते हैं कि हम ईश्वर से आये हैं और उन्हीं में लौट जायेंगे, अतः जड़, शक्ति, मन, बुद्धि या दूसरे नामों से परिचित विभिन्न जागृतिक शक्तियाँ उस विश्वव्यापी बुद्धि की ही अभिव्यक्ति है । वही जगत का उपादान और निमित करण है । क्रम संकुचित होकर वही अणु का रूप धारण करता है । और क्रम विकसित होकर वहीं पुनः ईश्वर बन जाता है । यही जगत का रहस्य है ।[3]

वास्तविक शक्ति एक है, केवल माया में पड़कर अनेक हो गयी है, अनेक

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 102
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 103
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 107

के पीछे मत दौड़ो, बस, उसी एक की ओर अग्रसर होओ । हसः शुचि षट्ट सुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोण । नृष दूरसह तसह योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत--। अर्थात् - वह (वही आत्मा) आकाशवासी सूर्य, अन्तरिक्षवासी वायु, वेदिवासी अग्नि, और कलशवासी सोमरस है । वहीं मनुष्य, देवता यज्ञ और आकाश मे है, वहीं जल मे, पृथ्वी पर यज्ञ में और पर्वत पर उत्पन्न होता है । वह सत्य है, वह महान है।[1]

"अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपं रूप प्रति रूपा बभूव ।
एक स्तथा सर्व भूतान्तरात्मां रूपं - रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूप-रूपं प्रतिरूपो बभूव
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।"

अर्थात् जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत में प्रविष्ट होकर दाह्य वस्तु के रूप भेद से भिन्न रूप धारण करती है, उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अन्तरात्मा नानावस्तु भेद से उस वस्तु का रूप धारण किये हुए है, और सबके बाहर भी है । जिस प्रकार एक ही वायु जगत में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से तद्रूप हो गया है, उसी प्रकार सब भूतों की वही एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस रूप की हो गयी है और उनके बाहर भी है ।[2]

स्वामी जी विश्व ब्रम्हाण्ड में एकत्व स्थापित कर सम्पूर्ण विश्व मे एकता स्थापित करने का आह्वान करते हैं । वे विज्ञान और आध्यात्म दोनों को व्यवहारिक कहते हैं और दोनों के सामजंस्य पर बल देते हैं - उनके अनुसार - एक समय ऐसा आयेगा जब समस्त मानव जाति इसी प्रकार व्यवहार - कुशल हो जायेगी । उदाहरणार्थ-

---

1. कठोपनिषद, पृष्ठ - 2/2/2
2. कठोपनिषद, पृष्ठ - 9-10

एक पतीली में जल गरम होकर उबलने जा रहा है - उस समय एक कोने मे एक बुदबुद उठ रहा है, दूसरे कोने में एक और उठ रहा है । ये बुदबुद क्रमशः बढ़ते जाते हैं - और अन्त में सब मिलकर एक प्रबल हलचल पैदा कर देते हैं । यह संसार भी ऐसा ही है । प्रत्येक व्यक्ति मानो एक बुदबुद ही है और विभिन्न राष्ट्र मानो कुछ बुदबुदों की समष्टि हैं । क्रमशः राष्ट्रों में मेल होता जा रहा है । एक दिन ऐसा आयेगा, जब राष्ट्र नामक कोई वस्तु नहीं रह जायेगी - राष्ट्र-राष्ट्र का भेद दूर हो जाएगा ।[1]

स्वामी जी का विश्वास है सारी विभिन्नताओं के अंदर ईश्वर के एकत्व पर विश्वास किया जाय, तो सब प्रकार से संसार का कल्याण किया जा सकता है। और यही वेदान्त का सर्वोच्च आदर्श है ।[2]

प्रत्येक व्यक्ति वैज्ञानिक विषय की भाँति जब आध्यात्मिक विषय में भी तीव्र रूप से व्यवहार कुशल हो जायेगा तब एकत्व और समन्वय समस्त संसार में व्याप्त हो जायेगा । सारी मानवता जीवनोमुक्त हो जाएगी । अपनी ईर्ष्या, घृणा, मेल और विरोध के होते हुए भी हम सभी एक ही लक्ष्य की ओर संघर्ष कर रहे हैं । हम सबको लेते हुए एक वेगवती नदी समुद्र की ओर बही जा रही है । छोटे-छोटे कागज के टुकड़े, तिनके आदि की भाँति हम इसमें बहे जा रहे हैं । हम भले ही इधर-उधर जाने की चेष्टा करें, पर अन्त में हम भी जीवन और आनन्द के उस अनन्त समुद्र में पहुँच जायेंगे, जहाँ से हमारी उत्पत्ति हुई है ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 146
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 90
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 146-147

विश्व परिकल्पना के उपरांत यह सिद्ध हो ही जाता है कि हम सभी प्राणी ईश्वर की सन्तान है । सभी देशों के प्राणियों के बीच कोई खण्ड नहीं है, कोई विभाजन नहीं है, जिस तरह हम अपने शरीरस्थ प्राण को नियन्त्रित कर सकते हैं उसी प्रकार दूर देश के मनुष्य के प्राण का भी नियन्त्रण कर सकते हैं । सभी प्राणियों के अन्दर जब ईश्वर व्याप्त है तो सबके प्राणों के बीच खण्ड नहीं है । आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक मानसिक, नैतिक और तात्विक सभी दृष्टियों से सब एक ही हैं, जीव मात्र एक लहर एवं स्पन्दन है । बाह्य भौतिक प्रकृति को जो स्पन्दित कर रहा है, वही तुम्हारे भीतर भी स्पन्दित हो रहा है ।[1]

एक ही ईश्वर की सन्तान होने के कारण मानव - मानव के बीच प्रेम का उदय होना निश्चित है । शंकराचार्य जी की भाँति स्वामी विवेकानंद जी भी स्वीकार करते हैं कि माया का पर्दा हटने के बाद चिदानन्द स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होगा तो हम सबमें एकत्व भाव स्वाभाविक रूप से आ जायेगा । न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में बल्कि राजनीति और समाजिक सभी क्षेत्रों में भी जो समस्याएँ बीस वर्ष पहले केवल राष्ट्रीय थीं इस समय उनकी मीमांसा केवल राष्ट्रीय आधार पर नहीं की जा सकती। उक्त समस्याएँ क्रमशः कठिन होती जा रही है । और विशाल आकार ग्रहण कर रहीं है । केवल अंतर्राष्ट्रीय आधार पर ही उनको हल किया जा सकता है, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय - संघ, अंतर्राष्ट्रीय विधान ये ही आजकल के मूलमंत्र स्वरूप हैं।[2]

वेदान्तिक विश्लेषण के अनुसार आधुनिक भौतिकवाद चाहे वह यूरोपीय-अमरीकी हो या मार्क्सवादी दोनों ही पश्चिम के कट्टर, अयुक्तिपूर्ण व अवैज्ञानिक मतवादों

---

1. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 30
2. भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव, विवेकानंद, पृष्ठ - 36

तथा उनके प्राचीन लड़ाकू चर्च के रूप मे स्थित संस्थाओं के विरूद्ध प्रतिक्रिया भाव है ।[1]

इस भौतिकतावादी प्रवृत्ति के कारण न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण विश्व जाति और सम्प्रदाय की संकीर्ण दीवारों में जकड़ उठा है । इस भयानक स्थिति से छुटकारा पाने के लिये आध्यात्मिकता की आर मोड़ना ही एक मात्र समस्या का हल है । इस प्रकार स्वामी जी विश्व स्तर पर शांति की स्थापना के लिए वेदान्त का प्रचार करते रहे। वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव मात्र के कल्याण के लिए चिन्तित रहे । इसी कारण पाश्चात्य राष्ट्रों के द्वारा किये जा रहे अत्याचारों का विरोध करने के बाद भी मानव-मानव के बीच की दीवार गिराने का उन्होंने प्रयास किया । उन्होंने भारतीयों को अनेक स्थलों पर उपदेश दिया कि वे अपनी निद्रा त्यागकर मानवतावादी दर्शन के आधार का पुर्न निर्माण करें ।

स्वामी विवेकानन्द की स्वदेश में मानवीय विकास की परिकल्पना एक अलगावपूर्ण राष्ट्रीय सन्दर्भ में न थी, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विराट सन्दर्भ में थी । उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की धारणा को अन्तर्राष्ट्रीय सत्य के रूप में स्वीकृत होने के काफी पहले ही इसकी हिमायत की थी । उन्हीं के शब्दों में - "समग्र संसार का अखण्डत्व, जिसको ग्रहण करने के लिए संसार प्रतीक्षा कर रहा है, हमारे उपनिषदों का दूसरा महान भाव है । प्राचीन काल की हठबन्दी और पार्थक्य इस समय तेजी से कम होते जा रहे हैं ।[2] हमारे उपनिषदों में मानवीय विकास के लिए अनेक कारणों का उल्लेख किया गया है जिसमें अज्ञानता को सभी दु:खों का मूल कारण बताया गया है ।[3] सामाजिक तथा आध्यात्मिक सभी

---

1. स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ - 23
2. भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव, विवेकानंद, पृष्ठ - 135
3. हिन्दू धर्म, स्वामी विवेकानंद, पृष्ठ - 10

क्षेत्रों में अज्ञानता के कारण ही हम एक दूसरे से घृणा करते हैं । अज्ञानता के विनाश के बाद ही मानव - मानव के बीच प्रेम का उदय होगा ।

मनुष्य के क्षुद्र अहं के पीछे अनन्त और नित्य शुद्ध मुक्त आत्मा है उसे मनुष्य के जीवन और कर्मों के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहिये । स्वामी विवेकानंद ने अपने मानवतावाद का आधार मानव की गहराइयों के तत्वज्ञान को बनाया जिसे वेदान्त में आध्यात्म विद्या कहा जाता है और जिसे प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक तथा मानवतावादी स्वर्गीय सर जूलियस हक्सले ने "मानवीय सम्भावनाओं का विज्ञान की संज्ञा दी थी और आशा व्यक्त की थी कि आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान उसी दिशा में विकसित होगा । यह एक मानवशास्त्र है, जिस पर भारत वर्ष ने अब से तीन हजार वर्षों से भी पहले अपने शाश्वत साहित्य उपनिषदों में शोध और विकास किया था। इस विज्ञान के प्रणेता थे महान ऋषिगण, जिनमें पुरूष थे, नारियाँ थीं, यहाँ तक कि बच्चे बुद्धिजीवी, शासन और विद्यार्थी भी थे । जिनकी एकमात्र धुन थी सत्य की खोज और मानव का कल्याण । उनकी मनोवृत्ति, द्रृष्टिकोण और स्वभाव आज के भौतिक विज्ञानियों से काफी कुछ मिलते - जुलते हैं । दोनों के बीच अन्तर सिर्फ इतना है कि जहाँ आज के भौतिक विज्ञानी बाह्य जगत में शोध करते हैं, इन प्राचीन भारतीय ऋषियों ने मनुष्य की आन्तरिक - प्रकृति के रहस्यमय जगत पर शोध किया था पर उनके पीछे वैसी ही परिपूर्ण तथा आलोचनात्मक द्रृष्टि थी । वे लोग मानव व्यक्तित्व की अटल गहराइयों तक पैठे और यह पता लगाया कि - मनुष्य के पंच भौतिक शरीर के पीछे, स्नायु - तन्त्र के पीछे, मानसिक प्रणाली के पीछे एक अमर, अनन्त और आध्यात्मिक केन्द्र भी है । मानव व्यक्तित्व के इस ज्ञान को "शुद्ध विज्ञान" कहते हैं और इसे अपने जीवन व कर्म में अपनाने की तकनीक विधि को इसका 'व्यवहारिक विज्ञान' । अपनी इन खोजों के फलस्वरूप उन्होंने महान 'वेदान्त - दर्शन' का विकास किया ।[1] वे आगे कहते हैं कि मानव शिशु के भीतर जो गहन सम्भावनाएँ छिपी

---

1. स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ - 9-10

हैं, उनमें से कुछ को पता लगाने से उन्हें, व्यक्त करने के उपायों व तकनीकों को अपनाने में सम्पूर्ण मानव जाति की उन्नति निर्भर है ।

एष सर्वेषुभूतेषुगूढ़ोत्मना न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिवः ।।[1]

अर्थात् यह (अनन्त) आत्मा सभी जीवों में छिपी हुआ है, (अतः) प्रकाशित नहीं होती, परन्तु सूक्ष्म दृष्टा मेधावीगण अपनी सूक्ष्म व पैनी बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार करते हैं । इस आधार पर स्वामी जी ने कहा कि आध्यात्मिकता के साथ समस्त मानवीय सम्भावनाएँ शिशु के भीतर छिपी हैं, वे सोई रहती हैं वेदान्त का कथन है कि वह इन महान सम्भावनाओं को व्यक्त करने में शिशु की सहायता करना चाहता है । शिशु के नेत्रों के अन्तराल में वे शक्तियाँ तथा प्रतिभाएँ झाँक रही हैं, जो आगे चलकर एक ओलम्पिक चैम्पियन, एक महान, वैज्ञानिक, एक बुद्धिमान राष्ट्रनायक, एक सर्जक कलाकार अथवा एक महान सन्त के रूप में अभिव्यक्त होंगी । परन्तु इन सम्भावनाओं का अनुभव हमारी इन्द्रियों या मन के द्वारा नहीं किया जा सकता । वे एक ऐसे स्तर में निहित है, जो कि हमारे ऐन्द्रिय अनुभूति से ठीक उसी प्रकार परे है जिस प्रकार एक छोटे से बीज में छिपी एक महान वृक्ष की सम्भावना । इसका भारतीय कुण्डलिनी योग कुण्डली कृत शक्ति के रूप में वर्णन करता है बीज अंकुरित होने के बाद जैसे-जैसे एक विराट वृक्ष के रूप में बढ़ता जाता है, वह क्रमश हमारे इन्द्रिय - ज्ञान के समक्ष प्रगट भी होता जाता है ।[2]

विवेकानंद जी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रत्येक दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय

---

1. कठोपनिषद् - पृष्ठ - 1-3-12
2. स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ - 11

साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। यहाँ विविध रूपों में उनके विचारों का अध्ययन किया जाना भी आवश्यक है -

सामाजिक अंतर्राष्ट्रवाद:-

स्वामी जी सम्पूर्ण विश्व की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये वैचारिक क्रांति का सूत्रपात करना चाहते थे । उन्होंने कहा कि चाहे वह यूरोपीय भौतिकतावाद हो या मार्क्सवादी भौतिकवाद दोनों निरे भौतिकतावाद ही है । ये एक बौद्धिक यन्त्र मात्र है । ये मानव तथा मानवीय परिस्थितियों के अध्ययन में सर्वथा विकृति मात्र साबित होते है । भौतिकवाद से मानवतावाद की आशा करना व्यर्थ है ।[1] जिस प्रकार हीगेल का कहना है कि स्पिनोजा का मतवाद ही सभी दार्शनिक तत्वों की जड़ है। उसी प्रकार वेदान्त दर्शन को सम्पूर्ण विश्व के समक्ष रखकर भौतिक दर्शन से सामंजस्य स्थापित कर सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाया जा सकता है ।[2] सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए गरीबों की दशा में परिवर्तन लाना अत्यंत आवश्यक है । आज यूरोप की उन्नति का मूल कारण गरीबों और निम्न जातियों के भीतर विद्या और शक्ति का संचार होना है । गरीब ही सामाजिक व्यवस्था का मेरूदण्ड है । इनमें शिक्षा और शक्ति का विस्तार कर सामाजिक व्यवस्था को बदला जा सकता है ।[3]

स्वामी जी न केवल अपने देश की सामाजिक समस्याओं के प्रति चिन्तित थे बल्कि प्रत्येक देश की सामाजिक समस्याओं के प्रति चिन्तित दिखाई देते हैं । वे अफ्रीका के निग्रो लोगों की दशा पर दुःख व्यक्त करते हैं । उन्होंने अमरीका इत्यादि देशों की प्रशंसा, उनकी आर्थिक नीति, औद्योगिक संगठन, शिक्षा व्यवस्था,

---

1. भारतीय सामाजिक चिन्तन, प्रो0 जैन एवं कुमार, पृष्ठ - 159
2. विवेकानंद चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, पृष्ठ - 195
3. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 200

संग्रहालय, विज्ञान की प्रगति, आरोग्य संस्थाएँ और समाज कल्याण के लिये किया।किन्तु समाज सेवा के नाम पर झूठे प्रचार की उन्होंने भर्त्सना भी की । उन्होंने न केवल पाश्चात्य दम्भ को विनष्ट करने का प्रयास किया बल्कि भारतीय दम्भ को विनष्ट करने के लिए वे और भी अधिक आतुर रहते हैं । वे कहते हैं - कि एक ओर हिन्दू धर्म में मानव की महिमा का जैसा गुणगान है वैसा संसार के किसी भी धर्म में नहीं मिलता वहीं दूसरी ओर संसार का कोई भी धर्म निरीह सर्वहारा की गर्दन पर पाँव रखकर ऐसे नहीं कुचलता जैसा हिन्दू धर्म करता है । धर्म का दोष नहीं है दोष है, उनके महन्तों और ठेकेदारों का । इस प्रकार उनका मन विश्व के गरीब और निरीह लोगों के लिये द्रवित हो जाता था ।[1]

स्वामी जी नैतिक कायरता से तीव्र घृणा करते थे । वे इसे अपराध प्रेरक शक्ति की संज्ञा देते हैं । उन्होंने अमेरिकावासियों की परिश्रमशीलता की प्रशंसा की है । वे कहते हैं कि "अमेरिका में पुरूषों से अधिक स्त्रियाँ शिक्षित हैं । विज्ञान और दर्शन में वे बड़ी पण्डित हैं, इसी कारण वे मेरा इतना सम्मान करती हैं । वहाँ पुरूष रात-दिन मेहनत करते हैं । स्त्रियाँ स्कूलों में पढ़कर और पढ़ाकर विदुषी बन जाती है । अमेरिका में जिस ओर दृष्टि डालो स्त्रियों का ही साम्राज्य दिखाई देता है, परन्तु भारतीय सामाजिक परिवेश में स्त्रियों की दशा अत्यंत दयनीय है ।[2] उन्होंने कहा कि मैंने अमेरिकी मस्तिष्क को नये विचारों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील पाया है । यहाँ हर बात अच्छाई और बुराई के आधार पर जाँची जाती है । अमेरिका के लोग बहुत अतिथि सत्कारी हैं । वहाँ सभी के बीच स्वाभाविक लगाव है ।[3]

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 87
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 87
3. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 260

इंग्लैण्ड के विषय में वे कहते हैं कि - यहाँ सभ्यता बहुत पुरानी है- ज्यों - ज्यों सदियाँ बीती हैं, उसमे बहुत विस्तार हुआ है । उनके बहुत से पूर्वाग्रह बनाए हैं । उन पूर्वाग्रहों पर विजय प्राप्त करने की उन्हे आवश्यकता है ।[1] उन्होंने जापनियों की देशभक्ती और कलाप्रियता की भी प्रशंसा की । भारतीयों को जापानियों से सामाजिक नैतिकता और राजनीतिक नैतिकता सीखने की आवश्यकता है ।[2] स्वामी जी मानते हैं कि - हमेशा यूरोप सामाजिक तथा एशिया आध्यात्मिक शक्तियों का उद्गम स्थल रहा है - एवं इन दोनों के सम्मिश्रण से ही जगत का सम्पूर्ण इतिहास बना है । अत. पूर्व एवं पश्चिम को एक दूसरे का अवलम्ब बनना ही पड़ेगा उन्होंने भारत और यूरोप को दो पूर्ण यौवन देह-यष्टियों के रूप में दो महान प्रयोगों के रूप में देखा, जिनमें से कोई भी अभी सम्पूर्ण नहीं हुआ है । इन दोनों को परस्पर सहायक होना चाहिये । साथ ही साथ एक दूसरे का निर्बाध विकास भी स्वीकार करना चाहिये ।[3]

स्वामी जी पश्चिमी राष्ट्रों में स्वतंत्रता के नाम पर मनमानी और अनुशासन हीनता को पसन्द नहीं करते थे । उन्होंने कहा कि पश्चिमी राष्ट्रों में सामाजिक जीवन एक अट्टहास के समान है, पर उसके नीचे छिपा है, एक करूण कुंदन । खेल तमाशा जो कुछ है वह सतत पर है वास्तव के भीतर करूण वेदना भरी है । भारत में ऊपरी सतह पर शोक और देन्य दिखाई देता है किन्तु भीतर बैठा है निश्चिन्तता और आमोद - प्रमोद । इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी प्राच्य और पाश्चात्य दोनों क्षेत्रों के सद्गुणों को अपनाकर तथा दोनों ही क्षेत्रों के दुर्गुणों को त्यागकर सम्पूर्ण विश्व म एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे । यही उनके सामाजिक

---

1. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 237
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 249
3. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 138

अतर्राष्ट्रवाद का उद्देश्य है ।[1]

राजनीतिक अंतर्राष्ट्रवाद:-

स्वामी विवेकानंद जी पाश्चात्य राष्ट्रों के राजनीतिक प्रगतिशीलता से अत्यधिक प्रभावित थे । किन्तु वे वहाँ की वोट की राजनीति से खिन्न दिखाई देते हैं । अपरिमित घूस देकर वोट लेना तथा बैलेट की सहायता से आधिपत्य प्राप्त करने को भयानक अपराध मानते थे ।[2] उनका कहना है कि अधिकाश देशों मे भेड़िया धसान शासन का ही अनुकरण किया जाता है । पाश्चात्य देशों मे, पार्लियामेन्ट, सीनेट, वोट, मेजोरटी, वैलेट आदि पर तीखा प्रहार करते हुए वेकहते हैं कि यहाँ पर शक्तिमान पुरूष जिस ओर चलने की इच्छा करते हैं समाज भी उसी ओर चलता है, समाज भेड़ों की तरह उनका अनुकरण करते हैं । वहाँ राजनीति के नाम पर दिन में लूट होती है । जिसके हाथ में रूपया है, वे राज्य शासन अपनी मुठ्ठी में रखते हैं, प्रजा को लूटते हैं । स्वामी जी प्रतिनिधि - लोकतांत्रिक व्यवस्था को एक श्रेष्ठ व्यवस्था मानते हैं ।[3] समाज में शान्ति की स्थापना के लिए राजनीतिक स्थायित्व व सुदृढ़ता की नितान्त आवश्यकता होती है । शासन का विकेन्द्रीकरण जन कल्याण के लिए आवश्यक होता है । सभी विषयों में जिसकी रक्षा दूसरों द्वारा होती है, उसकी आत्मरक्षा की शक्ति कभी स्फुटित नहीं होती । इसी प्रकार देवतुल्य राजा की बड़े यत्न से पाली हुई प्रजा भी कभी स्वायत्त शासन नहीं सीखती । सदा राजा का मुँह ताकने के कारण वह धीरे-धीरे कमजोर और निकम्मी हो जाती है । इस प्रकार का पालन और रक्षण ही किसी भी राजनीतिक समाज के लिये सत्यानाश का कारण होता है ।[4] भारतीय

---

1. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ - 139
2. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 61
3. विवेकानंद साहित्य, (दशम खण्ड), पृष्ठ - 61
4. विवेकानंद साहित्य, (नवम खण्ड), पृष्ठ - 203

राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप सामाजिक साम्यवादी है । जिसपर आध्यात्मिक व्यक्तिवाद का प्रकाश पड़ रहा है । स्वामी जी समष्टि और व्यष्टि के बीच अर्थात् व्यक्ति और समाज के बीच सामजस्य स्थापित करते हैं । इस प्रकार आदर्शवाद और व्यक्तिवाद के बीच का मार्ग मानवतावाद का अवलम्ब कर वे सभी राष्ट्रों की शासन व्यवस्था को मानवीय विकास के लिए प्रोत्साहित करते है ।

राजाध्यक्ष के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि - राजा अपनी प्रजा का माता - पिता है । प्रजा उसकी सन्तान है । राजा को पक्षातीत भाव से प्रजा का अपनी सन्तान की तरह पालन करना चाहिये ।[1] वही व्यक्ति को भी समाज का एक महत्वपूर्ण अंग समझकर उसके आदेशों का पालन करना चाहिये । समष्टि (समाज) के जीवन में व्यष्टि (व्यक्ति) का जीवन है । समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है । समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है । यही अनन्त सत्य जगत का मूल आधार है । अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखते हुए उसके सुख में सुख और दुःख में दुःख मानकर धीरे-धीरे आगे बढ़ना ही व्यष्टि का एकमात्र कर्त्तव्य है । इस नियम का पालन करने से वह अमर हो जाता है और उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु । अतः प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि स्वाधीनता के साथ-साथ राजाज्ञा का पालन पूरी ईमानदारी से करें ।[1] राजा को याद रखना होगा कि उसमें शक्ति इसलिये संचित हुई कि वह फिर प्रजा में हजार गुनी बंट जाय । समाज का नेतृत्व चाहे विद्या बल से प्राप्त हुआ हो चाहे बाहु-बल से अथवा धन-बल से, पर उस शक्ति का आधार प्रजा ही है ।[2]

आर्थिक अंतर्राष्ट्रवादः-

स्वामी विवेकानंद मानवतावादी विचारधारा के प्रवर्तक होने के कारण भौतिकतावाद

---

1. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 216
2. विवेकानंद साहित्य, (नवम् खण्ड), पृष्ठ - 221

को उतने ही अर्थ में स्वीकार करते हैं । जिससे जन साधारण के लिए रोटी की पूर्ण व्यवस्था हो सके । वे जनता के आधात्मिक कल्याण के लिए अधिक प्रयासरत रहे। इसी कारण उन्होंने बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन को स्वीकार नहीं किया । उच्च आदर्श और उत्कृष्ट व्यावहारिकता का सुन्दर सामंजस्य उनके विचारों में जहाँ प्राप्त होता है वहीं उन्होंने अपने आदर्श को कभी नहीं त्यागा । उपयोगितावादी दर्शन की आलोचना उन्होंने विभिन्न आधारों पर की है ।

उपयोगिता के आधार पर हम किसी भी नैतिक नियम पर नहीं पहुँच सकते है । दूसरी मुख्य बात यह है कि यह सिद्धान्त व्यक्ति को सामाजिक स्तर तक सीमित करता है । यह सिद्धान्त मनुष्य की ऐन्द्रिय उपयोगिता को प्रमुखता देता है और अतीन्द्रिय सुख की उपयोगिता को अव्यवहारिकता की संज्ञा देता है । अधिकतम सुखों की प्राप्ति में दूसरों का अहित होना स्वाभाविक है । इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि यदि आनन्द ही मानव जीवन का लक्ष्य है तो क्यों न दूसरों को सता कर ही, कष्ट पहुँचाकर सुख उठाया जाय । इस प्रकार उपयोगिता का आधार अत्यंत संकीर्ण है ।[1] स्वामी जी मानते हैं कि उपयोगिता का यह सिद्धान्त वर्तमान सुख को ही महत्वपूर्ण मानता है । यह अतीत को उपेक्षित कर भविष्य के प्रति भी अदूरदर्शी है । स्वामी जी मानते हैं कि यह पूँजीवादी दर्शन है जो समाज के थोड़े से लोगों को जो सबल हैं शक्तिशाली हैं उन्हीं के हितों की पूर्ति करता है । समाज के दलित, गरीब बेसहारा व्यक्ति के हितों की उपेक्षा करता है । यह मानव सम्बन्धों को ससीम बनाते हैं जबकि मानवीय सम्बंध असीम हैं क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है । अतः समाज को सदैव नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की आवश्यकता पड़ती रहेगी । वह हमेशा भौतिक जगत में ही लिप्त नहीं रह सकता वह उसे कितना भी आनन्ददायक क्यों न लगे ।[2]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 196
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 197

समाज में विभिन्न तरह के लोग होते हैं कुछ लोग ऐसे है जो भोजन में ही सुख प्राप्त करते है कुछ लोगों को विशिष्ट वस्तुओं के स्वामित्व में सुख प्राप्त होता है पर कुछ लोगों को परमानन्द का आध्यात्मिक चिंतन करने में सुख प्राप्त होता है । बहुत कम मनुष्य ऐसे मिलेंगे जिन्हें कुत्ते और भेड़ियों के समान उल्लास प्राप्त होता है । निम्न कोटि के मनुष्यों को इन्द्रिय जनित सुखों में ही आनन्द मिलता है । किन्तु जो लोग सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं उन्हें चिन्तन, दर्शन, कला, विज्ञान में आनन्द मिलता है एकमात्र परमात्मा का ही अस्तित्व होने के कारण धार्मिक चिंतन का अनुशीलन करना चाहिये ।[1] उपयोगितावादी दर्शन को मिल की भांति स्वामी जी नैतिकता का आधार प्रदान करते हैं क्योंकि नैतिकता के दर्शन पर ही विश्व में अच्छे और महान व्यक्ति हुए हैं । जो अपने विचारों से विश्व को हिला देते हैं नैतिकता और आध्यात्मिकता पर आधारित समाज में प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण होगा यही स्वामी जी के जीवन का उद्देश्य भी है ।[2]

स्वामी जी ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध किया । उन्होंने विश्व बाजार के नाम पर आर्थिक गुलामी की तीव्र आलोचना की । आज सारी दुनिया बहुल है । विश्व में विविधता पायी जाती है वहीं साम्राज्यवादी शक्तियाँ पंचमेल संस्कृति की स्थापना के लिए तैयार हैं । इस शताब्दी में आचार-विचार, रहन-सहन, जीवन पद्धतियों का ऐसा विश्व व्यापी एकीकरण हुआ है कि - अनेक समाजों और देशों की विशिष्टताएं यहाँ तक कला और संगीत तक भी विलीन हो गए ।[3]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 198
2. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 199
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 184

स्वामी जी ने सृष्टि के वैविध्य के नियम को स्वीकार करने के कारण यह बार-बार कहा कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वाधीनता का पूरा-पूरा अधिकार है । प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वाधीनता को, स्वतंत्रता को अधिक पसन्द करता है । अतः उन्होंने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवादिता की निन्दा करते हुए मानव में विश्व-बन्धुत्व की भावना के विकास पर बल दिया ।[1]

स्वामी विवेकानंद जी न केवल अत्याधुनिक थे वरन् उन्होंने विगत इतिहास में घटित मानवीय विकासों को भी अपने आप मे समेट लिया था वे प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही संस्कृतियों मे रचबस गए थे । यही कारण है कि जहाँ उनमे राष्ट्रवाद के सभी गुण विद्यमान थे वहीं अंतर्राष्ट्रवादिता से भी वे अछूत नहीं थे । उनके युक्ति संगत व सार्वलौकिक उपदेश सम्पूर्ण विश्ववासियों के लिये कल्याणकारी है ।

एक परिव्राजक के रूप में सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण करते समय उनके हृदय में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की कामना थी । उनके अभियान का मूल उद्देश्य जिसे वे एक क्षण के लिए भी नहीं भूले थे - अपने देशवासियों के शरीर और आत्मा की रक्षा करना, अपनी आवाज को समस्त संसार के विपन्न और दलित जनों की पुकार बनाकर सभी राष्ट्रों को संगठित कर देना था ।[2]

स्वामी जी को अपने लक्ष्य में निश्चित रूप से काफी सफलता मिली । आज भी विश्व शांति के प्रयासों में स्वामी जी के विचारों की प्रासंगिकता है । देश-विदेश में उनके विचारों का व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाता रहा है । इसके अनेकों

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 198
2. विवेकानंद, रोमां रोलां, पृष्ठ संख्या - 89

कारण हैं - "अमरीकी जनता विवेकानंद का अध्ययन इसलिये करती है कि पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक के चार वर्षों तक वे वहाँ के तीव्र एवं सक्रिय जनजीवन तथा विचार जगत के साथ अत्यत घनिष्ठता पूर्वक घुलमिल गये थे और इसके फलस्वरूप अमरीकी जनमानस व चेतना पर एक अमिट छाप छोड़ गए थे । इंग्लेण्ड में भी उन्होंने काफी सक्रियतापूर्वक कार्य किया था और जर्मनी यूनान आदि अन्य यूरोपीय देशों का दौरा किया था । 1902 ई0 में उनके देहावसान के तीन वर्ष बाद ही रूस मे भी उनके ग्रन्थों का अध्ययन होने लगा था । रूसी विचारकों में टालस्टाय ने ही विवेकानद व उनके गुरूदेव श्री रामकृष्ण का सर्वाधिक प्रभाव अनुभव किया था और उन्होंने अपने निजी ग्रन्थालय में उनकी पुस्तकों में विविध टिप्पणियाँ लिखकर यह प्रभाव व्यक्त किया है ।[1]

स्वामी जी - मानव की जातीय, राष्ट्रीय या साम्प्रदायिक आदि संकीर्ण पहलुओं के स्थान पर उसके सार्वभौमिक पक्ष को उजागर करते हैं । उस सार्वभौमिक पक्ष ने उन्हें सम्पूर्ण मानव जाति के जीवन के सभी क्षेत्रों में, एक तीव्र लगाव के रूप में अभिव्यक्त किया है । इस सार्वभौमिकता ने उनमें जीवन को एक अत्यंत गहराई के साथ तथा बौद्धिक प्रेरणा के साथ आध्यात्मिक उद्दीपना प्रदान करने वाले मानवतावाद का प्रतीक बना दिया है और उनके मानवतावाद की इस व्याख्या के पीछे निहित है - मानवात्मा के भीतर उनकी गहरी पैठ और मानव की सच्ची महिमा व गरिमा के बारे में उनकी यह अनुभूति कि मनुष्य के इस क्षुद्र अहं के पीछे जो अनन्त और नित्य शुद्ध मुक्त आत्मा है उसे मनुष्य के जीवन तथा कर्मों के माध्यम से विकसित या अभिव्यक्त करना चाहिये ।[2]

---

1. स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ - 4
2. सोशियो-पोलिटिकल व्यूज ऑफ स्वामी विवेकानंद, बी0के0 राय, पृष्ठ - 148

आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने जिन उर्जा स्रोतों को खोल दिया है, उनसे मेल खाने के लिए तथा उन्हें आत्मसात करने के लिए जगत एक ऐसे आध्यात्मिक प्रगति की आवश्यकता महसूस कर रहा है जो दिव्य उर्जा के स्रोतों को उन्मुक्त कर सके । भौतिक विज्ञान ने मानव-मानव के बीच की भौतिक दूरियाँ समाप्त कर दी हैं । परन्तु मानव-मानव के बीच मानसिक व वैचारिक दूरियाँ अब भी दूर होनी बाकी हैं और दूसरी ज्ञान व तकनीकी शक्ति के बावजूद ये मानसिक दूरियाँ कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही हैं । इस बात का पता दुनिया के सभी हिस्सों में सतत बढ़ते हुए हिंसा, अपराधों, अनाचारों तथा यहाँ तक कि किशोरापराधों में भी वृद्धि के द्वारा तथा आधुनिक समाज को हिला देने वाले यौन व नशे के विस्फोटों के द्वारा चलता है ।[1] स्वामी जी उपरोक्त स्थिति को संसार की एक भयानक बीमारी मानते हैं ।

स्वामी विवेकानंद जी ने भारत तथा विश्व की अनेक समस्याओं और विचारधाराओं को करीब से देखने का प्रयास किया । वेदान्त के आधार पर सभी समस्याओं का समाधान करने के लिए उन्होंने पाश्चात्य देशों का भ्रमण किया । उन्होंने विगत शताब्दी के अन्तिम दिनों में इन दुःखद परिस्थितियों को विकसित होते देखा था और चेतावनी दी थी कि अगले शताब्दियों में ये प्रबलतर होती जायेंगी । उन्होंने आधुनिक सभ्यता की भोग केन्द्रित प्रवृत्ति को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने की जरूरत पर बल दिया तथा वेदान्तिक मानवतावाद के दर्शन के साथ ही साथ मानव में निहित अनन्त सम्भावनाओं की परिकल्पना तथा मानव द्वारा इसके अपने जीवन में उपलब्ध कर पाने की सहज क्षमता का प्रचार किया था ।[2]

---

1. विवेकानंद का मानवतावाद, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ - 14
2. युग प्रवर्तक विवेकानंद, स्वामी अपूर्वानन्द, पृष्ठ - 20

आधुनिक युगीन मानव की स्थिति दिग्भ्रमित पथिक की भाँति है । पाश्चात्य मनुष्य के भीतर धार्मिक तथा पारमार्थिक अथवा मानवीय तथा सांसारिक या नैतिक तथा सदाचार के सभी मूल्यों के प्रति एक छिन्द्रान्वेषी दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया है। एक तरफ जहाँ उसमे ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास में कमी आयी है वहीं दूसरी ओर धरती में स्थित मानव के प्रति भी श्रद्धा एवं विश्वास को ठेस पहुँची है । आज का मानव भौतिकतावाद में पूरी तरह से डूबा हुआ है इसी कारण से अत्यधिक मात्रा में आन्तरिक तनावों, अभावों तथा मानसिक विकृतियों की सृष्टि हुई है ।[1]

इन समस्याओं से मुक्ति प्राप्त करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय आदर्श की स्थापना की आवश्यकता है । यह आदर्श पूर्व-पश्चिम के बीच विवाद को समाप्त करने में ही स्थापित किया जा सकता है । यह स्थापना तभी सम्भव है जब हमारा दृष्टिकोण समन्वयवादी हो । पश्चिम कहता है कि हम अशुभ पर विजय प्राप्त करके ही उसका नाश करते है । भारत कहता है कि "हम अशुभ का नाश करते है, सहन करके यहाँ तक कि वह हमारे लिये आनन्द की वस्तु बन जाता है । शायद दोनों ही आदर्श महान है । हमें एक दूसरे के आदर्शों को नष्ट करने की चेष्टा छोड़ देनी चाहिये। हमें विभिन्न आदर्शों पर विवाद समाप्त करना होगा । जिससे विश्व के समक्ष एक श्रेष्ठतम आदर्श की स्थापना हो सके ।[2]

स्वामी जी का स्वप्न था कि गाँव की भलाई के लिए "मनुष्य अपने कुल को छोड़ दे । देश की भलाई के लिए अपने गाँव को छोड़ दे । मानव समाज की भलाई के लिए अपने देश को छोड़ दे और विश्व की भलाई के लिए अपना सर्वस्व

---

1. स्वामी विवेकानंद की मानवतावादी, स्वामी रंगनाथानंद, पृष्ठ - 20-21
2. विवेकानंद साहित्य, (सप्तम खण्ड), पृष्ठ - 145

छोड़ दे ।"[1] उन्होंने कहा कि "किसी जाति विशेष के प्रति न मेरा अनुराग है और न ही विद्वेष ।" मैं जैसा भारत का हूँ वैसा ही समग्र जगत का हूँ । ऐसा कौन सा देश है जो मुझ पर विशेष अधिकार रखता हो ? क्या मैं किसी जाति के द्वारा खरीदा हुआ दास हूँ ।[2] मैं केवल भारतीय नहीं हूँ मेरे कार्य केवल भारतीय नहीं हैं मैं अतर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य हूँ और मेरे कार्य भी अंतर्राष्ट्रीय हैं ।[3] इस प्रकार विवेकानंद जी विश्व के समक्ष एक श्रेष्ठ आदर्श रखते हैं जिसपर चलकर विश्व-बन्धुत्व की परिकल्पना साकार हो सकती है ।

सार्वभौमिकतावाद

ईश्वरत्व और 'मनुष्यत्व' यही दो भाव हैं जो सम्पूर्ण विश्व को एकत्व प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं । सभी मनुष्य रंग-रूप, बुद्धि, विवेक, विद्या, शारीरिक बल में पार्थक्य होने पर भी मनुष्य हैं । हम सभी में 'मनुष्यत्व' का एक भाव है । जो अमूर्त है । वह इन्द्रियगोचर न होने पर भी उसे सभी महसूस करते हैं यही मानवता है । उसका अस्तित्व असंदिग्ध है । यह भाव देश-काल से सीमित नहीं है । यह उस असीम ईश्वर के समान ही असीमित है ।[4] 'मनुष्यत्व' का भाव 'ईश्वरत्व' से जुड़ा हुआ है । सभी मनुष्य विभिन्न मार्गों से होते हुए उस एक ईश्वर की ओर अग्रसर हो रहे हैं । ईश्वर भी सभी देश-काल की सीमा से मुक्त हैं । अतः

---

1. विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 320
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 345
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 390
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 144

यही दो ऐसे भाव हैं जो मानव को मानव से जोड़ते हैं । इन्हीं के माध्यम से विश्वबन्धुत्व की स्थापना की जा सकती है । ये ही सार्वभौमिक हैं, सर्वत्र हैं, आदि हैं अनंत हैं, अजन्मा और अन्तर्निहित हैं ।[1]

आध्यात्मिक दृष्टिकोण होने के कारण स्वामी विवेकानंद जी राष्ट्रीय स्तर से ऊपर उठकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त अलगाववादिता की समस्या का समाधान करने के लिये अत्यधिक व्याकुल थे । वे यह भी भली-भाँति जानते थे कि मात्र राजनीति के द्वारा यह विभेद दूर कर पाना असम्भव है । अत:.वे "विश्व धर्म का आदर्श" स्थापित कर ही इस समस्या का समाधान करना चाहते थे । इस प्रकार उन्होंने साम्राज्य - वादिता का विरोध कर सार्वभौमिकतावाद का प्रचार किया । वे मानते हैं कि राजनीति में नहीं धर्म में बड़ी शक्ति है । धर्म मनुष्य के चिन्तन और जीवन का सबसे उच्च स्तर है । मानवता, प्रेम और घृणा का ज्ञान धर्म के द्वारा ही हुआ है । धर्म प्रेरणा से ही मनुष्य ने अनेक कल्याणकारी कार्य किए हैं । इसी प्रकार धर्म प्रेरणा से ही मनुष्य इतना अधिक निष्ठुर हो जाता है । विविध - धर्मों के बीच संघर्ष होने के बाद भी अन्तत: संसार में शांति और समन्वय की घोषणा की गई है ।[2] यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इस धार्मिक संघर्ष के समय मे शान्ति समन्वय का राज्य स्थापित हो सकेगा । वर्तमान शताब्दी के अन्त में इस विषय को लेकर संसार में एक विवाद सा चल पड़ा है । यदि जीवन संग्राम की भीषणता में मनुष्य के मन की प्रबल स्नायुवेक उत्तेजनाओं को कम करना लगभग असम्भव है, बाह्य जगत में शान्ति और समन्वय स्थापित किया जाना अत्यंत कठिन है, तो मनुष्य के अन्तर्जगत

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 145
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 139

में शांति और साम्य स्थापित किया जाना उससे भी हजार गुना कठिन है ।[1]

"सार्वभौमिकतावाद" की स्थापना एक "सार्वभौमिक धर्म" की स्थापना करके की जा सकती है । "सार्वभौमिक धर्म" स्थापित करके ही मनुष्य मन को शांति प्रदान कर समान्वित किया जा सकता है । "सार्वभौमिक धर्म" की स्थापना के लिए आवश्यक है कि सभी धर्मों के दार्शनिक भाग, पौराणिक भाग व अनुष्ठानिक भाग का समन्वय किया जाय ।[2] उच्चतम ज्ञान के साथ उच्चतम हृदय और अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त प्रेम को समन्वित किया जाय । उस अनन्त सत्ता के साथ एकीभूत होना ही एकमात्र धर्म है । ईश्वर के गुण - अनन्त सत्ता, अनन्द ज्ञान, अनन्त आनन्द - ये तीनों एक हैं ये आपस में समन्वित हैं, यह समन्वय ही मानव-मानव के जीवन का भी लक्ष्य है ।[3] सभी प्राणी ब्रह्म का अंश हैं, ससीम, व्यक्ति मनुष्य अपना उत्पत्ति स्थल भूल गया है । व्यष्टीकृत और विभेदीकृत सत्ताओं के रूप में हम अपने को नितान्त पृथक समझने लगते हैं । इस परिपेक्ष्य में स्वामी जी वेदान्त का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि - "वेदान्त का मूल सिद्धान्त एकत्व अथवा अखण्ड भाव है, द्वित्व कहीं नहीं है । सभी कुछ वही एक सत्ता मात्र है ।[4] विश्व में केवल एक ही आत्मा है, अन्य निम्न स्तर की जीवात्माएं उसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं । वेदान्त शिक्षा देता है कि तुम सभी एक हो । मैं अज, अविनाशी, आनन्दमय, सर्वज्ञ, शक्तिमान नित्य ज्योतिर्मय आत्मा हूँ, हमें यही चिन्तन करना चाहिये ।[5]

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 140
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 144
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 98
4. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 8
5. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 13

स्वामी जी कहते हैं कि - विश्व ब्रह्माण्ड में एकत्व की बात दर्शन - मनोविज्ञान ही नहीं भौतिक विज्ञान भी स्वीकार करता है । आज सभी वैज्ञानिक जगत में एकत्व के तत्व को स्वीकार करते हैं । सभी स्वीकार करते हैं कि एक ही जीवन है, एक ही जगत है । जीवन अनेक नहीं, जगत अनेक नहीं है, यह बहुत्व उस एकत्व की ही अभिव्यक्ति है ।[1] यह एकत्व प्रेम के द्वारा ही स्थापित हो सकता है । प्राचीन उपनिषद में हम देखते हैं कि "ईशावास्यमिदं सर्वं यात्किंय जगत्यां जगत" अर्थात् - जगत में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर से आच्छन्न है ।[2] ब्रह्मरूप जगत को जानकर ही मानव मुक्ति प्राप्त कर लेता है सार्वभौमिक ईश्वर को प्राप्त कर लेता है ।

सार्वभौमिक विचारों की श्रृंखला में मुख्य विषय है कि आत्मा क्या है ? आत्मा अनन्त है, अविभाज्य है । सभी की आत्मा में ईश्वर विराजमान है । यही ईश्वर हर मनुष्य को स्वयं अपने आपका, अपने अस्तित्व का अनुसंधान करने के लिए प्रेरित करता रहता है । आत्मा ही सभी रहस्यों का सार है । यही अव्यक्त और रहस्यमय है । "यही मैं हूँ यही तुम भी हो," हमारे जीवन का मुख्य लक्ष्य इसी अव्यक्त को व्यक्त करना है ।[3] सत्य के अनुसन्धान के लिए वे नर-नारियों से सत्य का अनुसंधान करने का आह्वान करते हैं ।

"सोऽहम्-सोऽहम्" का मनन करो ।[4] सब की प्राप्ति होने पर देश-काल,

---

1. विवेकानंद साहित्य, (अष्टम खण्ड), पृष्ठ - 14
2. ईशोपनिषद, पृष्ठ - 11 । 11
3. विवेकानंद साहित्य, (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ - 14
4. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 20

मन विचार की सीमा नहीं रह जाती । वहाँ कार्य - कारणवाद नहीं रह जाता । वहाँ इच्छा, वासना इत्यादि का भी कोई स्थान नहीं रह जाता ।[1] मुक्ति के मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओं में - दुर्बलता, अज्ञानता, अहंकार, स्वहित, स्वधर्म और स्वदेश की संकीर्णता है । मुक्ति प्राप्त करने वाला मनुष्य अपनी चेतना को सार्वभौम चेतना में लीन कर देना चाहता है । वह जगत प्रपंच के सभी सम्बन्ध तोड़ देना चाहता है । वह अपने सभी सम्बन्धों की माया काटकर संसार से दूर भाग जाना चाहता है ।[2] विवेकानंद जी का यह पूर्ण विश्वास है कि ये सभी समस्याएँ क्रमशः समाप्त हो जायेंगी । आज विश्व की समस्याएँ इतनी अधिक विकराल रूप धारण करती जा रही है कि मात्र अंतर्राष्ट्रीय आधार पर उदार दृष्टि से विचार करके ही उन्हें हल किया जा सकता है । अंतर्राष्ट्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय संघ, अंतर्राष्ट्रीय विधान ये ही आजकल के मूलमंत्र स्वरूप हैं । आज एकत्व का भाव सर्वत्र विस्तृत होता जा रहा है । विज्ञान में भी जड़-तत्व के सम्बन्ध मे ऐसे ही सार्वभौम भाव अविष्कृत हो रहे हैं ।[3]

स्वामी जी कहते हैं कि - मेरा आदर्श थोड़े से ही शब्दों में कहा जा सकता है -"मनुष्य जाति को उसका दिव्य स्वरूप का उपदेश देना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अभिव्यक्त करने का उपाय बताना । संसार के वीरों को बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय के आदर्श को अपनाना होगा । लाखों नर-नारियाँ पवित्रता के अग्निमंत्र में दीक्षित होकर भगवान में दृढ़ - विश्वास रूपी पददलित, दरिद्र और पतित के प्रति सहानुभूति रखें।"[4] हमें अधिकार की नहीं दायित्व की भावना रखनी चाहिये।

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 80
2. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 135
3. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 136
4. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 408

हम पृथ्वी पर छोटे-छोटे स्थानों को घेर लेते हैं तथा और स्थानों को अपवार्जित करने की चेष्टा करते हैं, पर हम आकाश में ऐसा नहीं कर सकते ।[1]

सार्वभौमिकता का मूल आधार समानता है । जिस प्रकार संसार के प्रत्येक कण में, जीव में, मनुष्यों में एक मात्र ब्रह्म समाहित है अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम सभी को समान भाव से देखें केवल समत्व का दर्शन करें । निन्दा, स्तुति, भला, बुरा और शीत - उष्ण सभी हमें समान रूप से गाह्य होने चाहिये । सर्वप्रथम हमें देह और मन रूपी कुसंस्कार को त्यागना चाहिये । सभी देह, मन के पीछे - आत्माओं की आत्मा, विश्व की आत्मा, जीवनों का जीवन है। हमारी वास्तविक आत्मा विद्यमान है । अविद्या ही सब प्रकार के अनिष्टों का मूल है । जब तक हमारे मन में यह भावना विद्यमान है कि हम ईश्वर से भिन्न हैं तब तक भय हमारे अन्दर विद्यमान रहेगा किन्तु एकत्व का ज्ञान होने पर वह अपने आप समाप्त हो जायेगा।[2] ज्ञानी जन अविद्या का नाश कर ब्रह्ममय हो जाते हैं वे जानते हैं कि सुख-दुःख केवल इन्द्रियों में हैं, ये हमारे प्रकृत स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकते आत्मा देश, काल और निमित से परे है इसीलिये सीमातीत और सर्वव्यापी है ।[3]

सर्वत्र ईश्वर की अनुभूति ज्ञानी व्यक्ति को ही होती है । ज्ञानी व्यक्ति बुद्धिवादी होता है इसी कारण वह जानता है कि न तो वह हिन्दू है और न बौद्ध न ईसाई अपितु वह तीनों में है वह हर वस्तु को अस्वीकार कर देता है । वह जानता है न आस्था, पवित्रता, स्वर्ग, नरक, जाति, सम्प्रदाय नहीं केवल आत्मा है ।[4] ज्ञानी

---

1. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 262
2. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 251
3. अमृतवाणी, श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का बृहद् संग्रह, पृष्ठ - 305
4. विवेकानंद साहित्य, (षष्ठ खण्ड), पृष्ठ - 260

व्यक्ति जानता है कि ईश्वर विभिन्न साधकों द्वारा विभिन्न नामों से उपासित होते हैं । संसार में जितने भी धर्म हैं उनकी उपासना प्रणाली में विभिन्नता होते हुए भी वे वस्तुतः एक ही हैं । किसी - किसी स्थान पर लोग मन्दिर का निर्माण करते हैं ईश्वर की उपासना करते हैं तो कहीं अग्नि की । इनके स्वरूप में विभिन्नता होते हुए भी ये वास्तव में अभिन्न हैं । इसी प्रकार से साकार, निराकार, आस्तिकता, नास्तिकता सभी के बीच ज्ञानी जन समान भाव रख ईश्वर के साक्षात्कार की अनुभूति करते हैं ।[1]

किसी भी जाति के, कुलके हों, हीन हों समर्थ हों सभी मनुष्य नर-नारी और शिशु को ध्यान रखना चाहिये कि श्रेष्ठ में, धनी में, निर्धन में, सभी की अन्तरात्मा में उसी एक ब्रह्म का निवास है और यही सबको एक समान आत्मोन्नयन की अनन्त सामर्थ्य देता है । 9 जनवरी 1896 ई0 में न्यूयार्क में"सार्वभौम धर्म का आदर्श" विषय पर अपना व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा कि ईश्वर का दर्शन ही सब धर्मों का उद्देश्य है । ज्ञान, कर्म, भक्ति ये सब विभिन्न पथ तथा उपाय हैं परन्तु गन्तव्य स्थान एक ही है और वह है ईश्वर का साक्षात्कार ।[2]

मानव - मानव के बीच सार्वभौमिक भाव का आग्रह करते हुए स्वामी जी सभी धर्मों के एक समन्वित विधान की परिकल्पना करते हैं । वे कहते हैं कि बहुत पुराने समय से ही मनुष्य स्वीकार करता आया है कि सभी धर्म सत्य हैं । भारतवर्ष, एलेक्जेण्ड्रिया, यूरोप, चीन, जापान, तिब्बत और अंततः अमेरिका में भी एक समन्वित-धर्म को सूत्रबद्ध करने, सब धर्मों को एक ही प्रेम-सूत्र में ग्रन्थित करने की सैकड़ों चेष्टाएँ

---

1. विवेकानंद साहित्य, (पंचम खण्ड), पृष्ठ - 248
2. विवेकानंद साहित्य, (चतुर्थ खण्ड), पृष्ठ - 115

हो चुकी हैं किन्तु किसी व्यवहारिक प्रणाली का अवलम्बन न करने के कारण यह प्रयास व्यर्थ साबित हुआ है । धर्म का समन्वित विधान यथार्थ में तभी कार्यकारी सिद्ध हो सकता है जब एक ऐसा समन्वय किया जाय जब समन्वय के भीतर रहते हुए भी सभी धर्म अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सके । वह समन्वय किसी भी धर्मा-वलम्बी व्यक्ति की विशिष्टता को नष्ट न करे, उसके अन्य लोगों के साथ सम्मिलित होने का पथ बता दे । किन्तु आज तक व्यवहारिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का समन्वय आपसी मतवादों के कारण सिद्ध नहीं हो पाया है और कलह, संघर्ष करने वाले सम्प्रदायों की ही सृष्टि हुई है ।[1]

सभी प्राणियों को सर्वत्र ईश्वर की अनुभूति हो सके इसके लिए स्वामी जी ऐसे सार्वभौमिक धर्म की रूपरेखा खींचते हैं जिसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म सम-भाव से रहे।[2] स्वामी जी ने यह भी स्वीकार किया है कि इस प्रकार का सार्वभौमिक धर्म पहले से ही विद्यमान है । हम लोग विश्व बन्धुत्व और साम्य के अनुसन्धान में सारी पृथ्वी पर घूमते - फिरते हैं किन्तु वास्तव मे जो यथार्थ कर्मी हैं जो अपने हृदय में विश्व बन्धुत्व का अनुभव करते हैं वे लम्बी चौड़ी बातें नहीं करते । उनके क्रियाकलाप, गतिविधियों और सारे जीवन पर ध्यान देने से यह समझ में आ जाता है कि उनके हृदय वास्तव में मानव जाति के प्रति बन्धुता से परिपूर्ण है वे सबसे प्रेम और सहानुभूति करते हैं ।[3] वे जानते हैं कि मानव शरीर की अपेक्षा और कोई बड़ा तीर्थ नहीं है इस शरीर में जितना आत्मा का विकास हो सकता है उतना और कहीं नहीं । स्वामी जी सभी धर्मों और सम्प्रदायों के बीच उपजे अन्तर्द्वन्द पर चिन्तित थे और मानते थे कि हम सभी अपने व्यवहारिक जीवन में - प्रेम, शांति, मैत्री साम्य,

---

1. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 147
2. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 150
3. विवेकानंद साहित्य, (तृतीय खण्ड), पृष्ठ - 144

सार्वजनीन भातृभाव आदि को क्रियान्वित करने मे असमर्थ रहे है । पैत्रिक-धर्म, राष्ट्रीय धर्म की मानसिक विकृति के कारण विभिन्न देशों के धर्मों के बीच सामजस्य स्थापित करना कठिन कार्य हो गया है । अतः आवश्यकता इस बात की है कि ईश्वर की सभी धर्मों में अनुभूति कर सर्व धर्म समभाव की स्थापना की जाय ।[1]

स्वामी जी के सार्वभौमिक विचारों का सार तत्व सभी मानव सहित सूक्ष्मतर जीवों में ईश्वर की उपस्थित का अनुभव करना था । वे मानवतावादी दार्शनिक होने के कारण ही सभी मानव जाति के बीच प्रेम और एकता का भाव स्थापित करना चाहते थे । वे मानते हैं कि अपनी पूजा के समय परमात्मा के पितृ-भाव को स्वीकार कर लेने से ही कोई लाभ नहीं है सच्चा धर्म तो तभी स्थापित हो सकता है जब हम अपने दैनिक जीवन में भी प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझें। ग्रन्थों की रचना इसलिये हुई है कि वे हमें किसी उच्च जीवन का मार्ग प्रशस्त करें । वे मानव व्यक्तित्व की तुलना काँच की चिमनी से करते हैं और कहते हैं कि प्रत्येक के अन्तराल में वही शुभ ज्योति है - दिव्य परमात्मा की आभा पर काँच के रंगों और उसकी मोटाई के अनुरूप उससे विकीर्ण होने वाली ज्योति की किरणें विभिन्न रूप ले लेती हैं । प्रत्येक केन्द्रीय ज्योति का सौन्दर्य और आभा समान है - प्रतिभासिक असमानता केवल व्यक्त करने वाले भौतिक साधनों की अपूर्णता के कारण है आध्यात्मिक राज्य में हमारा ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर विकास होता जाता है - त्यों-त्यों वह माध्यम भी अधिकाधिक प्रतिभासिक होता जाता है ।[2]

1: विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 200

2: विवेकानंद साहित्य, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ - 257

स्वामी विवेकानंद के राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तावित राजनीतिक विचार आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण अनेक स्थलों पर समयोपयोगी नहीं सिद्ध होते । यही कारण है कि इन विचारों में अनेक शिथिलताएँ परिलक्षित होती हैं । इसी कारण उनके राजनीतिक विचारों की आलोचनाएँ भी की जाती रही हैं । इन आलोचनाओं का प्रमुखतया आधार इस प्रकार है -

सर्वप्रथम स्वतंत्रता विषयक विचारों के परिपेक्ष्य में उनके विचारों में स्पष्टता का सर्वथा अभाव है । वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टिकोणों से जोड़कर साथ लेकर चलते हैं । यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि मनुष्य मात्र की व्यक्तिगत स्वतंत्रता भौतिक जीवन से सम्बन्धित होती है और जीवन मुक्ति सम्बन्धी स्वतंत्रता का तात्पर्य आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष से है । इन दोनों ही विषयों को आध्यात्मिक धरातल पर नहीं देखा जा सकता । आधुनिक राजनीतिक स्वतंत्रता सम्बंधी विचार स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तावित मुक्ति सम्बन्धी परिकल्पना से काफी अलक-थलग है । इस दृष्टिकोण से पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों में मिल, स्पेन्सर, लास्की, ग्रीन इत्यादि की कोटि में विवेकानंद की गणना नहीं की जा सकती। स्वामी विवेकानंद जी अपने मुक्ति सम्बन्धी परिकल्पना में कहीं-कहीं तो यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य प्रकृति के बनाये नियमों पर चलने के लिये बाध्य है उसका जीवन एक साधन मात्र है किन्तु वे दूसरी ओर यह भी स्वीकार करने में नहीं चूकते कि संघर्ष ही जीवन को सुगम मार्ग प्रदान करता है संघर्ष और विरोध के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन में विकास करता है अंततः व्यक्ति को विरोध, प्रतिरोध व संघर्ष करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये । इस प्रकार उनके स्वतंत्रता के विचारों में स्पष्टता का पूर्णतया अभाव दिखाई देता है ।

स्वामी जी की समाजवादी समाज की परिकल्पना भी आध्यात्मिक आधार पर ही टिकी हुई है । मार्क्स की भाँति उनके विचारों में क्रमबद्धता नहीं दिखाई देती । भारतीय सांस्कृतिक मनोवृत्ति का होने के कारण वे यहाँ की जाति - व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था की बेड़ियों को तोड़ने का दुस्साहस नहीं कर सके । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में जाति-व्यवस्था को बनाये रखने पर बल दिया है । जिसके कारण वे वर्ग विहीन समाज की कल्पना नहीं कर पाये । उनका यह कहना कि सभी जातियाँ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रमशः शासन करेगीं। यह प्रत्येक जाति द्वारा किये गए शोषण व तानाशाही का समर्थन करना है । स्वामी जी सामाजिक परिवर्तन के लिये क्रांति का विरोध करते हैं और मानते है कि वैचारिक - परिवर्तन के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन लाया जाना अधिक उपयुक्त है यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि शासन व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्तन हिंसा एवं क्रांति के बिना असम्भव होते है - वर्तमान राजनीतिक परिवेश में वैचारिक परिवर्तन की बात करना एक कोरी कल्पना और अदूरदर्शिता का प्रतीक है । स्वामी जी का ऐसा मानना है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग सदैव अपने हित को ही साधने में लगा रहता है निम्न वर्ग की उपेक्षा व शोषण कर ही ये जातियाँ इतनी ऊँची उठ सकी हैं । उनका यह विचार भी उचित नहीं प्रतीत होता उच्च वर्ग के द्वारा निम्न वर्ग के लिए अनेक कल्याणकारी कार्य किये जाते रहे हैं । इस प्रकार स्वामी जी को कार्ल मार्क्स की भाँति समाजवादी विचारक के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

इसी प्रकार स्वामी जी के राष्ट्रवादी विचारों में उग्रराष्ट्रवाद दिखाई देता है । जो किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता है । अपने राष्ट्र का यशोगान करने में वे यहाँ की कुव्यवस्थाओं को भी उपेक्षित कर देते हैं । जबकि यह बात अक्षरशः सत्य है कि भारतीय सामाजिक संकीर्णता व अव्यवस्था, राजनीतिक, प्रशासनिक कमजोरियों और सांस्कृतिक जातीय दंभ के कारण ही भारत वर्षों तक सामाजिक और

राजनीतिक दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहा है। देश में गरीबी, बेकारी, अशिक्षा का साम्राज्य व्याप्त रहा है । प्राकृतिक संसाधनों के होते हुए भी देश की उन्नति नहीं हो सकी है । दूसरी ओर विश्व के अनेक देश अल्प मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों के होते हुए भी अपनी मेहनत, कर्त्तव्य निष्ठा के बल पर विश्व में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं । स्वामी जी द्वारा हिन्दू - धर्म का आँख मूंद कर समर्थन किया जाना व सम्पूर्ण विश्व में वेदान्त का प्रचार तथा विश्व के दूसरे धर्मों को हिन्दू-धर्म के समक्ष छोटा सिद्ध किया जाना उनके सर्व-धर्म समभाव व धर्मनिरपेक्षता की नीति में अन्तर्विरोध पैदा करता है । इस प्रकार उनके राष्ट्रवादी विचारों को भी पूर्णतया दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता ।

'अंतर्राष्ट्रवाद' और 'राष्ट्रवाद' दोनों विचारधाराओं को एक साथ लेकर नहीं चला जा सकता । इस दृष्टिकोण से विवेकानंद के अंतर्राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार भी मात्र कल्पना की वस्तु बन कर रह जाते हैं । यह सत्य है कि आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक युग में अनेक अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का सृजन किया गया है । इस दृष्टिकोण से स्वामी जी की अंतर्राष्ट्रीय - विधान, अंतर्राष्ट्री संघ की कल्पना एक मील का पत्थर अवश्य साबित होती है किन्तु इसका कोई व्यवहारिक औचित्य नहीं दिखाई देता । इसी प्रकार स्वामी जी ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्ति की सोच को विस्तृत करने का कार्य तो अवश्य किया है किन्तु एक राजनीतिक समीक्षक की भाँति इस विषय पर क्रमबद्ध ढंग से अपने विचारों को प्रस्तुत करने में वे सफल नहीं सिद्ध हो सके ।

स्वामी जी का "सार्वभौमिकतावाद" भी भौतिक जीवन से मेल नहीं खाता। लौकिक जीवन में मनुष्य को जीवन संग्राम के अनेक भीषणतम कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है । जिसमें अपने - पराये, राष्ट्र-परराष्ट्र व अनेकों प्रकार के भेदभावों को नजरअंदाज कर पाना असम्भव हो जाता है । 'मनुष्यत्व' और 'ईश्वरत्व' के भाव को

प्रत्येक हृदय द्वारा आत्मसात कर पाना भी एक कठिन कार्य है । इन दोनों भावों के द्वारा व्यक्ति उस सार्वभौमिक साम्राज्य में पहुँच जाता है जिसे अनेक धर्म शास्त्रियों ने मोक्ष की संज्ञा प्रदान की है । इस प्रकार मोक्ष प्राप्त व्यक्ति का सांसारिकता से कोई सरोकार नहीं रह जाता । अत: विवेकानंद के सार्वभौमिकतावाद का प्रयोग मनुष्य के लौकिक व भौतिक जीवन में नहीं दिखाई पड़ता ।

उपरोक्त विचारों की कमियों को देखते हुए स्वामी विवेकानंद को आधुनिक राजनीतिक विचारकों की श्रृंखला मे रखा जाना उचित नहीं प्रतीत होता । स्वामी जी का दृष्टिकोण पूर्णता आध्यात्मिक था, वे एकमात्र धार्मिक विचारक के रूप में ही स्वीकार किये जा सकते हैं ।

यद्यपि यह सत्य है कि स्वामी जी के राजनीतिक विचारों में अनेकों कमियाँ हैं किन्तु इस आधार पर उन्हें राजनीतिक विचारकों की श्रेणी से अलग नहीं किया जा सकता । प्रत्येक विचारक अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है । स्वामी जी पर भी यही बात पूर्णतया लागू होती है । उनका जन्म परतंत्र भारत में हुआ था । तात्कालिक परिस्थितियों में स्वतंत्रता, राष्ट्र इत्यादि विषयों पर खुलकर विचार व्यक्त करना सम्भव नहीं था । यही कारण है कि स्वतंत्रता जैसे विषय को आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित कर उन्होंने प्रत्येक मानव की आत्मा को जागृत करने का कार्य किया । जो कि अत्यंत कठिन कार्य था । स्वामी जी पर पूर्णतया धर्म भिक्षु होने का आरोप लगाया जाना भी न्यायोचित नहीं प्रतीत होता । स्वामी जी देश की परिस्थितियों से कभी भी अनभिज्ञ नहीं रहे । राष्ट्र की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही उन्होंने प्रत्येक भारतीय को अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये प्रेरित किया । ईसाई - मिशनरियों के द्वारा राष्ट्र का सांस्कृतिक परिवर्तन करने का कार्य

किया जा रहा था । इस प्रकार देश संक्रमण के दौर से गुजर रहा था । ऐसे समय में आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीयों को पूर्ण भारतीय बनाया जाय उन्हें अपने देश की उपलब्धियों व गौरवपूर्ण अतीत से परिचित कराया जाय, ताकि वे पाश्चात्यीकरण की अंधी दौड़ से बच सके । इस दृष्टिकोण से उनके विचार श्रेष्ठता की कोटि में आते हैं । स्वामी जी पर उग्र राष्ट्रवादी होने का आरोप भी नहीं लगाया जाना चाहिये । उन्होंने अपने देश में उच्च वर्ग के द्वारा किये गए शोषण की व्यापक निन्दा की और वे पूर्ण समानता पर आधारित सामाजिक - व्यवस्था की स्थापना के लिए समाजवाद की कामना करते हैं । सांस्कृतिक परिवर्तन एक स्थायी परिवर्तन होता है । हिंसा एवं क्रांति की निन्दा आज के युग में प्रासंगिक हो गई है । आज विश्व में सभी राजनीतिक मंचों पर हिंसा की निन्दा की जा रही है । इस प्रकार इन विषयों पर स्वामी विवेकानंद जी के विचार दूरदर्शिता के प्रतीक हैं ।

स्वामी जी द्वारा व्यक्त अंतर्राष्ट्रवादी और सार्वभौमिकतावाद सम्बन्धी विचार भी पूर्णतया काल्पनिक नहीं है । अपने इन विचारों के द्वारा वे न केवल भारतीयों को बल्कि विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सोचने के लिए बाध्य करते हैं । उनके "राष्ट्रवादी" और "अंतर्राष्ट्रवादी" विचारों में भी कोई विरोधाभास नहीं है । यहाँ दोनों ही संदर्भों की अपनी - अपनी सीमा और आवश्यकता है । स्वामी जी का लक्ष्य व्यक्ति को सांसारिक जीवन व्यतीत करने के उपरांत पारलौकिक चरमोत्कर्ष की ओर ले जाना था । स्वामी जी विश्व-बन्धुत्व के दुष्प्रचार को भी पसन्द नहीं करते थे। वे वास्तविक रूप में व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ना चाहते थे । क्योंकि वे यह भली-भाँति जानते थे कि यदि यह कार्य सम्पन्न हो जाय तो विश्व की अनेक समस्यायें स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी । यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब प्रत्येक प्राणी यह महसूस करे कि सभी जगह, सभी की आत्मा में ईश्वर का वास है । हम सब उस ईश्वर की संतान हैं जीवन मुक्ति ही

हमारे जीवन का लक्ष्य है । यही विचार सार्वभौमिक रूप से सर्वत्र व्याप्त होने पर विश्व का कल्याण सम्भव है । अपनी इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर उन्होंने सार्वभौमिकतावाद का सृजन किया ।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद जी का स्थान न केवल आधुनिक, राजनीतिक विचारकों में है बल्कि वे इन विचारकों की कोटि में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के अधिकारी हैं ।

*****

अध्याय - सप्तम
निष्कर्ष।

विवेकानंद के कर्ममय जीवन एवं शक्तिमयी वाणी ने युगों से संचित तामसिकता को दूर कर जाति की सुप्त चेतना को जागृत कर दिया । सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक इत्यादि सभी क्षेत्रों मे आज उन्हीं के विप्लवी चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है । भारत के इस बहुमुखी जागरण के मूल में विवेकानद की जो अमूल्य देन है, उसे स्वाधीनता सग्राम के अन्याय पुरोहितगण भी मुक्त कण्ठ से प्रशसा करते हैं। वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के महान प्रवर्तकों मे से थे । राष्ट्रीय आन्दोलन मे अल्पाधिक मात्रा में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले आन्दोलन कर्त्ताओं ने स्वामी विवेकानद जी से शिक्षा प्राप्त की थी । स्वामी जी ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आधुनिक भारत को बहुत अधिक प्रभावित किया ।

आज आर्थिक साम्य को भित्ति बनाकर जो समाज तंत्रवाद भारत की भूमि पर प्रकट हो रहा है तथा जिस आदर्श की नींव पर गणतांत्रिक राष्ट्रगठन के कार्य में देश के नेतागण जुटे हुए हैं, उसका भी उज्ज्वल चित्र स्वामी जी के मानस पटल पर बहुत पहले अंकित हो चुका था । यद्यपि स्वामी जी ने अपने आप को 'समाजतंत्रवादी' के रूप में घोषित किया था, पर उनकी समाजवाद की यह कल्पना आज के जड़वादियों के निरीश्वर साम्यवाद से मूलतः भिन्न थी । उन्होंने दृढ़ कण्ठ से कहा है - एकमात्र वेदान्त ही समाजतंत्रवाद की युक्ति संगत दार्शनिक भित्ति होने लायक है । वे कहते हैं, "मानव समाज की उन्नति चाहने वाले व्यक्तिगण, कम से कम उनके परिचालकगण, यह समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, कि उनके धन साम्य एवं समान अधिकार पर आधारित मतवादों की एक आध्यात्मिक भित्ति रहना संगत है, और एकमात्र वेदान्त ही यह भित्ति होने योग्य है ।" इस प्रयोग में उन्होंने आगे भी कहा है कि "सामाजिक,

राजनीतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में यथार्थ मगल स्थापित करने का केवल एक सूत्र विद्यमान है, और वह सूत्र है केवल इतना जान लेना कि "मैं और मेरा भाई एक है" । सब देशों में, सभी युगों में, सभी जातियों के लिये यह महासत्य समान रूप से लागू है ।" उन्होंने वेदान्त के आत्मिक एकत्व पर आधारित साम्य को मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयोग करने के लिये कहा है । वे कहते है कि "अब व्यावहारिक जीवन में उसके प्रयोग का समय आ गया है । अब और उसे 'रहस्य' बनाये रखने से काम नहीं चलेगा । अब और वह हिमालय की गुहाओं में, वन-अरण्यों मे साधु-सन्यासियों के पास न रहेगा, लोगों के देनन्दिन जीवन में उसको कार्यान्वित करना होगा । राजा के महल में, साधु सन्यासी की गुफा में, मजदूर की झोपड़ी में, सर्वत्र, सब अवस्थाओं में - यहाँ तक कि राह के भिखारी द्वारा भी वह कार्य में लाया जा सकता है ।"

उन्होंने एक ऐसे आदर्श राष्ट्रगठन की कल्पना की थी, जिसमें ब्राह्मण युग का ज्ञान, क्षत्रियों की सभ्यता, वैश्यों की प्रसार की शक्ति तथा शूद्रों का साम्य-आदर्श ये सब पूरी-पूरी मात्रा में बने रहेंगे, पर इनके दोष न रहेंगे । वे कहते हैं कि - ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य युगों की प्रधानता अब अस्ताचल को चली गयी हैं, अब तो शूद्र युग का आविर्भाव होगा, कोई उसे रोक नहीं सकेगा । इसीलिये उन्होंने ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों को सम्बोधित करते हुए मर्मस्पर्शी भाषा में कहा है, "तुम लोग अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान में 'नवभारत' का उदय होने दो । उसका उदय हल चलाने वाले किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से हो । बनिये की दुकान से, भड़भूँजे की भट्टी के पास से वह प्रकट हो । कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले । वह 'नव भारत' अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो । "आज हम भारत के गणतांत्रिक गठन में इसी का प्रतिबिम्ब देखते हैं । उन्होंने और भी कहा है, "मैं अपने मनश्चक्षुओं

से देख रहा हूँ कि भावी सर्वांग पूर्ण भारत वेदान्तिक मस्तिष्क और इस्लामी देह लेकर, इस विवाद - विश्रृंखला को चीरते हुए, महामहिमान्वित और अपराजेय शक्ति से युक्त होकर जागृत हो रहा है ।" अर्थात् वेदान्तिक जिस प्रकार जाति धर्म का विचार न करते हुए सभी नर-नारियों को एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति या आत्मस्वरूप समझता है, इस्लाम धर्म का अनुयायी, समाज की दृष्टि से अपने धर्मावलम्बियों को उसी प्रकार भातृभाव से देखता है और उनके तदनुरूप व्यवहार करता है । कहना न होगा कि वेदान्त की आत्मिक एकता एवं अभेदत्व पर आधारित साम्यमैत्री और समदर्शन तथा इस्लाम का सामाजिक साम्य, भातृत्व और समदर्शित्व ये दोनों मिलाकर एक सर्वांगपूर्ण भारत की सृष्टि करेंगे । समन्वयाचार्य श्री रामकृष्ण की इस्लाम धर्म की साधना की सार्थकता भी इसी में स्पष्ट रूप से सूचित होती है । भारत में यह जो धर्मनिरपेक्ष ऐहिक गणतांत्रिक राष्ट्र गठित हुआ है, जिसमें कि सभी धर्म अपनी-अपनी विशिष्टता की रक्षा करते हुए शान्तिपूर्वक रह सकते हैं, उसे यदि हम रामकृष्ण विवेकानंद के सर्व-धर्म समन्वय का ही राष्ट्रीय रूपायण कहें, तो यह कोई अत्युक्ति न होगी ।

समाज के यथार्थ सुधार और उन्नति का मार्ग दिग्दर्शित करते हुए विवेकानंद ने जो कहा है, वह सभी समाज सुधारकों के विशेष मनन का विषय है । वे कहते हैं कि प्राच्य और पाश्चात्य देशों के आदर्श अलग-अलग हैं । भारत धर्ममुखी है, अन्तर्मुखी है, पाश्चात्य भूखण्ड बहिर्मुखी है । पाश्चात्य देश यदि धर्म के क्षेत्र में तनिक सी भी उन्नति करना चाहता है, तो वह समाज की उन्नति के माध्यम से ही वैसा करेगा, और प्राच्य देश यदि सामाजिक क्षेत्र में थोड़ी सी भी शक्ति अर्जित करना चाहता है, तो वह धर्म के माध्यम से करेगा । आधुनिक सुधारकगण सबसे पहले भारत के धर्म को नष्ट कर देना चाहते हैं, उसके बिना उन्हें सुधार का कोई दूसरा मार्ग नहीं दिखता । उन्होंने उस दिशा में प्रयत्न भी किये हैं, पर वह विफल मनोरथ

हुए हैं । इसका कारण यह है कि उनमें से केवल कुछ इने-गिने लोगों ने ही अपने धर्म का उत्तम रूप से अध्ययन और उसकी आलोचना की है। 'समस्त धर्मों के प्रस्रवण' को समझने के लिये जिस साधना की आवश्यकता होती है, उनमें से कोई भी उस साधना मेंसे होकर नहीं गया है । हिन्दू समाज की उन्नति के लिये धर्म को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है । ऐसी बात नहीं कि हिन्दू का धर्म प्राचीन रीति-नीति और आचार प्रथाओं का समर्थन करता रहा है, इसीलिये उसके समाज की ऐसी दशा हुई है । समाज की इस दुर्व्यवस्था का कारण तो यह है कि धर्म को सामाजिक क्षेत्र में जिस प्रकार कार्यान्वित करना चाहिये था, वैसा नहीं किया गया । ऋषिचरित, यथार्थ जीवन, जो शक्ति का केन्द्र तथा देवत्व और मानवत्व की मिलन भूमि है - वहीं राह दिखायेगा । इनको केन्द्र बनाकर ही भिन्न-भिन्न उपादान संघबद्ध होंगे और बाद में प्रचंड तरंग के समान समाज पर गिरकर सब कुछ बहा ले जायेंगे - सारी अपवित्रता दूर हो जायेगी । यह अवस्था, लोगों को अधिक धर्मनिष्ठ होने की शिक्षा देकर, धीरे-धीरे लानी होगी । वही समाज सर्वश्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्य कार्यान्वित हो सकता है ।

विवेकानंद प्रवर्तित 'रामकृष्ण संघ' स्वामी जी के इसी उदार आदर्श को भारत के जातीय जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्यशील बनाने के लिये, नाना विघ्नबाधाओं के बावजूद भी उनकी पताका को सुदृढ़ हाथों से धारण करके चला जा रहा है ।

भारतीय नर-नारियों के बीच जातीय संस्कृति की नींव पर आधारित, चरित्र-गठन मूलक विभिन्न शिक्षाओं का प्रवर्तन करना तथा प्राचीन युग के नालन्दा, तक्षशिला, अदिन्तपुरी और विक्रमशिला के आदर्श के ढाँचे में वर्तमान काल के उपयुक्त एक सर्वांग सुन्दर विश्वविद्यालय की रचना करना - यह भी स्वामी जी ने इस संघ की व्यापक कार्यतालिका में सन्निविष्ट किया था । आज रामकृष्ण - संघ की ओर से

जनसाधारण की सहानुभूति और सहायता से देश के विभिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न स्तरों के आधुनिक विद्यालय, महाविद्यालय, शिल्प-मन्दिर, सस्कृत, शिक्षालय, छात्रावास, ग्रन्थाकार, संस्कृति भवन, पुस्तकों और पत्रिकाओं के प्रकाशन, सहायता केन्द्र, धर्मार्थ चिकित्सालय, सेवा भवन इत्यादि अनेक प्रकार की सस्थाएँ संगठित हो उठी हैं। वे संघ तथा संघ के सन्यासियों की देखरेख में उत्तम रूप से परिचालित हो रही है । आज भारत के विभिन्न स्थानों में रामकृष्ण संघ के तत्वाधान में संघ के आदर्शानुसार नारी शिक्षा मूलक विविध संस्थाएँ भी संगठित हो रही हैं । आज भारत और भारत्तेतर देशों में रामकृष्ण संघ के कुल मिलाकर ।।9 केन्द्र है उनमे से 88 केन्द्र भारत में और 3। केन्द्र विदेशों में हैं । इन सब मठों और मिशन, केन्द्रों के माध्यम से एक ओर जिस प्रकार मानव समाज की उन्नति के लिये तरह-तरह के कार्य अनुष्ठित हो रहे हैं, दूसरी ओर संघ के सन्यासीगण पूर्व और पश्चिम के बीच एक संयोग सेतु स्थापित कर, भारतीय संस्कृति के आदर्श का प्रचार कर रहे हैं और इस प्रकार मानव के विचार-जगत में भी एक विपुल परिवर्तन लाकर विश्वशान्ति का पथ सुगम बना रहे हैं । वर्तमान भारत में शिक्षा और धर्मविषयक जिन सब संघों का उद्भव हुआ है, उनमें रामकृष्ण संघ की सबसे अधिक उल्लेखनीय है । रामकृष्ण के आदर्शों से अनुप्राणित सन्यासियों के नेतृत्व में परिचालित ये केन्द्र यह प्रमाणित कर रहे हैं कि जो चिरन्तन सत्य है, वे तभी कार्यशील और कल्याणकारी होते हैं । जब वे मानव जीवन में सदासर्वदा आचारित होते हैं और इस प्रकार कालोपयोगी बनाकर मानव समाज के समक्ष रखे जाते हैं । पाश्चात्य भूमि में अवस्थित रामकृष्ण संघ के ये केन्द्र मानव जाति के बीच आपसी सद्भाव और शान्ति के स्थापन का मार्ग सुगम बनाकर एक महान दायित्व निभा रहे हैं ।

संघ के माध्यम से और व्यक्तिगत रूप से सभी दिशाओं में भ्रमण कर स्वामी विवेकानंद जी ने समाज में व्याप्त समस्याओं पर विधिवत रूप से विचार प्रस्तुत

कर कहा कि अंग्रेजी ने ही जातीयता और धार्मिकता के भावों को विशेष रूप से महत्व देकर सामाजिक वातावरण को अस्थिर किया । देश में जातिगत - भेदभाव, अस्पृश्यता, धार्मिक मतवाद, अशिक्षा आदि सामाजिक समस्याओं ने देश को आन्तरिक रूप से कमजोर कर डाला है । इन सभी सामाजिक समस्याओं का निदान किये बिना भारत कभी भी उन्नति नहीं कर सकता है । सामाजिक समस्याओं के समाधान कर देने से ही देश में राजनीतिक समस्याओं के समाधान का मार्ग सुगम हो सकेगा । यही दृष्टिकोण स्वामी विवेकानंद जी का था । वे भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना राजनीतिक स्तर पर करना चाहते थे । अतः देश में जनजागरण करने के लिए तथा आत्म निर्णय की चेतना जगाने के लिये स्वामी विवेकानंद जी ने राजनीतिक विषयों पर भी विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत किये ।

मनुष्य की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए भी वे राष्ट्रीय गौरव को प्रमुखता प्रदान करते हैं । स्वामी जी ने भारतवर्ष के पूरे अतीत को अर्थात् इसके वैदिक व वैदिकोत्तर संस्कृति को तथा आधुनिक काल में उसके पश्चिमी संस्कृति से मिलन को भी स्वीकार किया था। वे राष्ट्रीय गौरव को स्वीकार करने के साथ ही साथ परजाति-विद्वेष और परराष्ट्र विद्वेष की निन्दा भी करते हैं । पाश्चात्य देशों में चार वर्षों के कठोर आध्यात्मिक व सांस्कृतिक क्रियाकलापों के द्वारा उन्होंने पाश्चात्य मानवतावाद को आध्यात्मिकता की ओर मोड़कर उसे जाति व सम्प्रदाय की सीमाओं से बाहर निकाला था ।

जगद् कल्याण की कामना हृदय में धारण कर उन्होंने अमरीकी भौतिकतावाद अथवा मार्क्सवादी भौतिकतावाद दोनों की ही आलोचना की । वे कहते हैं कि आज पाश्चात्य विज्ञान ने एक भयावह रूप ले लिया है । जो मानव के अशेष कल्याण का निदान हो सकता था, वही आज विश्व के ध्वंस का कारण बना हुआ है । विश्व

शान्ति की दोहाई देते हुए कतिपय शक्तिशाली हिंसोन्मत जातियाँ हाथों में आणविक अस्त्र ले आमने-सामने खड़ी हुई हैं । प्रश्न यह उठता है कि क्या यही शांति का यथार्थ मार्ग है । वैदिक युग से लेकर वर्तमान काल तक सब देशों और सभी युगों के त्रिकालदर्शी महापुरूषों ने मुक्त कण्ठ से विश्ववासियों को सुनाया कि 'हिंसा के द्वारा कभी भी हिंसा की निवृत्ति नहीं होती । वैरभाव के द्वारा वैरभाव दूर नहीं होता "यही सनातन धर्म है ।" जो लोग हिंसा और अस्त्र की सहायता से मुक्ति और शांति की खोज करते हैं, उनकी अवस्था इस मानव रक्त - लोलुप हिंस व्याघ्र की तरह होती है । यह सर्वविदित है कि आज जो हाथ विश्व के ध्वंस के लिए उठते हैं, कल यदि मानव के अन्तर का सोया हुआ देवत्व जाग उठे, तो वे ही हाथ विश्व के कल्याण के लिए नियोजित कण्ठ होंगे । वे आगे कहते है कि हमने कभी भी बन्दूक या तलवार की सहायता से किसी भाव का प्रचार नहीं किया । आधुनिक जड़वादी वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि तुम, मैं चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र सभी जड़ की समष्टि रूप एक अनन्त सागर की छोटी-छोटी उर्मियाँ हैं । वेदान्त तो और भी आगे बढ़कर कई शताब्दियाँ पूर्व यह घोषित कर चुका है कि इस जड़समष्टि के पीछे विश्वव्यापी एक अद्वितीय चेतन सत्ता विद्यमान है, जिसे हम परमात्मा या ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं । वास्तव में जड़-चेतन का ही एक दूसरा नाम है । नाम और रूप से युक्त होकर जिस प्रकार एक ही जल फेन, बुदबुद, तरंग आदि रूपों से प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार वही एक अनादि चिन्मय सत्ता (सच्चिदानंद) नामरूप के माध्यम से इस वैचित्र्य बहुल विश्व संसार के रूप में प्रकाशित हुई है । रूपरूपतः जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं है । वेदान्त और विज्ञान विभिन्न दिशाओं से तत्व की खोज में अग्रसर होकर आज एक ऐसे मिलन - केन्द्र में पहुँचे हैं, जहाँ यह स्वीकार किया जा रहा है कि यह समग्र विश्व एक अखण्ड सच्चिदानन्द सत्ता का ही विविध विकास है । स्वामी विवेकानंद ने अपनी दूर दृष्टि से देखा था कि पूर्व के वेदान्त और पश्चिम के विज्ञान के समवाय से निकट भविष्य में एक ऐसी महान संस्कृति

का उद्भव होगा, जो विविध धर्मों और संस्कृतियों के वैशिष्ट्य की रक्षा करती हुई एकत्व के आधार पर अनन्त विस्तार का मार्ग उन्मुक्त रखेगी, जो आपसी हिंसा और ध्वंसात्मक स्वार्थ वृत्ति को जन्म न देकर मानव जाति को विश्वभातृत्व के स्वर्ण सूत्र से गूँथ देगी और इस प्रकार उसे क्रमो गति के पथ पर आगे बढ़ाने में सब प्रकार से सहायता देगी । यह अभेद ज्ञान अथवा एकत्व - अनुभूति ही अनन्त - प्रेम, विश्व-भ्रातृत्व और नैतिक धर्म का मूल स्रोत है । शान्तिप्रिय मानव आज वेदान्त की इस उदार गम्भीर अभयवाणी को सुनने के लिए उदग्रीव हो उठा है । वेदान्त और विज्ञान का विवाद आज तिरोहित हुआ है । आज विश्ववासियों को वेदान्त और विज्ञान के समन्वय पर आधारित एकत्व और शान्ति की वाणी सुननी होगी । भारतवासियों को इसी महान दायित्व का स्मरण कराते हुए स्वामी विवेकानंद ने उदान्त स्वर में कहा है, "अति प्राचीन काल से ही यहाँ विभिन्न धर्मों के नायकगण अवतीर्ण हुए हैं । उन्होंने ही सनातन धर्म की पवित्र आध्यात्मिकता की बाढ़ से सारे संसार को बारम्बार सराबोर किया है । यहाँ से उत्तर - दक्षिण, पूर्व - पश्चिम सब ओर दार्शनिक ज्ञान की प्रबल तरंगें प्रवाहित होंगी और सारे जगत की इहलोक - सर्वस्य सभ्यता को आध्यात्मिक जीवन प्रदान करेंगी । अन्याय देशों के लाखों नर-नारियों के हृदय में जड़वाद का जो प्रबल दावानल दहक रहा है, उसे बुझाने के लिए जिस अमृतसलिल की आवश्यकता है, वह यहीं वर्तमान है । बन्धुओं ! विश्वास कीजिये, भारत ही संसार को आध्यात्मिक तरंग से प्लावित करेगा । वे पुनः कहते हैं "जागो" भारत ! जागो ! अपनी आध्यात्मिकता से संसार को जीत लो ! तुम्हारा नवजागरण और जातीय जीवन का दायित्व तभी चरितार्थ होगा, जब तुम अपनी युग-युग से संचित आध्यात्मिक शक्ति द्वारा विश्व पर विजय पा सकोगे ।

इस प्रकार चालीस वर्ष से भी कम उम्र में स्वामी विवेकानंद महा समाधि में लीन हो गए । परन्तु उनकी आयु की गणना वर्षों से नहीं की जा सकती । केवल

दस वर्ष के कार्यकाल में वे मानवजाति को जो अनमोल विचार दे गए, उनके पूर्ण विकसित होने में पन्द्रह सौ वर्ष लग जायेगे । उन्होंने अपने जीवन में जो कार्य किये-उसके दो पहलू हैं - राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय । इन दोनों क्षेत्रों में उन्होंने जो कार्य किया तथा जो शिक्षा दी वह वास्तव मे अलौकिक है ।

*****

-: सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. अपूर्वानन्द स्वामी : धर्म प्रसंग में स्वामी शिवानंद
2. अपूर्वानन्द स्वामी : युग प्रवर्तक स्वामी विवेकानंद
3. अवस्थी, अमरेश्वर और अवस्थी, राम कुमार : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन
4. उपाध्याय, रामजी : भारतीय धर्म और संस्कृति
5. ए0आर0 देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ-भूमि
6. गम्भीरानंद स्वामी : युगनायक विवेकानंद (प्रथम भाग)
7. गम्भीरानंद, स्वामी : युगनायक विवेकानंद (द्वितीय भाग)
8. गांगुली, मनमोहन : स्वामी विवेकानंद एक अध्ययन
9. गुप्त, महेन्द्रनाथ : स्वामी विवेकानंद - बाल्य जीवनी
10. गुप्त, महेन्द्रनाथ : श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग)
11. गुप्त, महेन्द्रनाथ : श्री रामकृष्ण वचनामृत (द्वितीय भाग)
12. गुप्त, महेन्द्रनाथ : श्री रामकृष्ण वचनामृत (तृतीय भाग)
13. गम्भीरानंद, स्वामी : श्री रामकृष्ण - भक्त मालिका
14. जैन एवं कुमार : भारतीय सामाजिक चिन्तन
15. ठाकुर, केशवकुमार : भारत में अंग्रेजी राज के दो सौ वर्ष
16. तेजसानंद, स्वामी : रामकृष्ण संघ आदर्श एवं इतिहास
17. तेजसानंद स्वामी : रामकृष्ण संघ आदर्श एवं नैतिकता
18. तिवारी, भरत कुमार : विवेकानंद का दार्शनिक चिन्तन
19. तेजसानंद, स्वामी : स्वामी विवेकानंद एण्ड हिज मैसेज
20. देवराज, नन्द किशोर : भारतीय दर्शन
21. दत्त, रजनी पाम : आज का भारत
22. नरवणे, वी0एस0 : आधुनिक भारतीय चिन्तन

23.	पी0वी0 कार्णे	:	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड)
24.	पी0वी0 कार्णे	:	धर्मशास्त्र का इतिहास (द्वितीय खण्ड)
25.	प्रसाद, आशा	:	स्वामी विवेकानंद - एक जीवनी
26.	पाल, विपिन चन्द्र	:	आधुनिक भारत
27.	पाल, वी0सी0		द स्प्रिट ऑफ इण्डियन
28.	फारूकहर, जे0एन0	.	मार्डन रिलीजस मूवमेन्ट इन इण्डिया
29.	फारूकहर, जे0एन0	:	क्राउन ऑफ हिन्दुइज्म
30.	बेसेन्ट, एनी	:	बिल्डर ऑफ न्यू इण्डिया कॉमनवेल्थ
31.	भगिनी, निवेदिता	:	विवेकानंद - संचयन
32.	मिश्र, अर्जुन	:	दर्शन की मूल धाराएँ
33.	मजूमदार, सत्येन्द्रनाथ	:	विवेकानंद चरित
34.	मैक्समूलर	:	श्री रामकृष्ण हिज़ लाइफ एण्ड सेइंग्स
35.	यूसुफ अली	:	कल्चरल हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया
36.	यशपाल, ग्रोवर	:	आधुनिक भारत का इतिहास - एक नवीन मूल्यांकन
37.	रोलां, रोमां	:	स्वामी रामकृष्ण
38.	रोलां, रोमां	:	विवेकानंद
39.	रंगनाथानंद स्वामी		स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद
40.	राय, सत्या	:	भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद
41.	राय, सत्या	:	भारत में राष्ट्रवाद
42.	राय, वी0के0	:	सोशियो, पॉलिटिकल व्यूज ऑफ विवेकानंद
43.	रोलां, रोमां	:	द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानंद
44.	राव, वी0के0आर0वी0	:	स्वामी विवेकानंद
45.	लिंसम, टी0एस0 अविनाश	:	एजूकेशनल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद

46.	लुइस, मेरी	:	स्वामी विवेकानंद हिज सेकेण्ड विजिट टू द वेस्ट न्यू डिस्कवरीज वर्क
47.	वर्मा, ओम प्रकाश एवं जय सिंह	:	भारतीय सामाजिक चिन्तन एवं आन्दोलन
48.	विवेकानंद, स्वामी	:	भगवान श्रीकृष्ण और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता
49.	वर्मा, ओम प्रकाश	:	भारतीय सामाजिक चिन्तन और आन्दोलन
50.	विवेकानंद, स्वामी	:	जाति, संस्कृति और समाजवाद
51.	विवेकानंद, स्वामी	:	भारत में विवेकानंद
52.	विवेकानंद, स्वामी	:	हिन्दू धर्म
53.	विवेकानंद, स्वामी	:	शिक्षा, संस्कृति और समाज
54.	वर्मा, वी0 पी0	:	विवेकानंद एण्ड मार्क्स ऐज सोशलिज्म
55.	विवेकानंद, स्वामी	:	आत्म तत्व
56.	विवेकानंद, स्वामी	:	भगवान रामकृष्ण धर्म एवं संघ
57.	विवेकानंद, स्वामी	:	भारतीय नारी
58.	विवेकानंद, स्वामी	:	नया भारत गढ़ो
59.	विवेकानंद, स्वामी	:	प्राच्य और पाश्चात्य
60.	विवेकानंद, स्वामी	:	आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग
61.	विवेकानंद, स्वामी	:	भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव
62	विवेकानंद, स्वामी	:	भारत का भविष्य
63.	वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद	:	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन
64.	वार्ष्णेय, लक्ष्मी शंकर	:	फोर्ट विलियम कॉलेज
65.	वार्ष्णेय, लक्ष्मी शंकर	:	दि ग्रोथ एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दी लिटलेचर
66.	विवेकानंद, स्वामी	:	पत्रावली

67.	विवेकानंद, स्वामी		चिन्तनीय बातें
68.	विवेकानंद, स्वामी	.	इण्डिया एण्ड हर प्राब्लम
69.	शर्मा, चन्द्रधर	:	भारतीय दर्शन का आलोचन एवं अनुशीलन
70.	शुक्ल, रामलखन	.	आधुनिक भारत का इतिहास
71	शास्त्री, मगलदेव		भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा)
72.	श्रीवास्तव, एम0पी0	.	प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एव दर्शन
73.	सुन्दर लाल	.	भारत में अंग्रेजी राज (प्रथम भाग)
74.	सुन्दर लाल	:	भारत मे अंग्रेजी राज (द्वितीय भाग)
75.	सरकार, यदुनाथ	:	द रूलर ऑफ द मुगल अम्पायर
76.	सिंह, रामधारी 'दिनकर'	:	भारतीय संस्कृति के चार अध्याय
77.	सरकार, यदुनाथ	:	द मुगल एडमिनिस्ट्रेशन
78.	सारदानंद, स्वामी	:	श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम खण्ड)
79.	सारदानंद, स्वामी	:	श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (द्वितीय खण्ड)
80.	सारदानंद, स्वामी	:	श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (तृतीय खण्ड)
81.	सिंह, शैल कुमारी	:	रिलीजस एण्ड मॉरल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद
82.	सक्सेना, ओंकार	:	श्री रामकृष्ण - विवेकानंद प्रसंग
83.	स्पीयर, पार्सिवल	:	आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
84.	हंसराज, ऋहेवर	:	योद्धा सन्यासी विवेकानंद
85.	प्रकाशक - रामकृष्ण मठ, धन्तोली नागपुर	:	अमृतवाणी - श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का वृहद् संग्रह
86.	प्रकाशक - रामकृष्ण मठ, धन्तोली नागपुर	:	श्री रामकृष्ण देव की वाणी
87.	प्रकाशक - रामकृष्ण मठ, धन्तोली नागपुर	:	शक्तिदायी विचार - विवेकानंद

88. प्रकाशक - रामकृष्ण, धन्तोली नागपुर : विवेकानंद की वाणी

89. अरोडा, वी0के0 द सोशल एण्ड पालिटिकल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद

-: प्रमुख धर्म - ग्रन्थ :-

1. शंकर भाष्य से उद्धृत अंश

2. ऋग्वेद से उद्धृत अंश

3. श्रीमद्भगवद्गीता से उद्धृत अंश

4. मनुस्मृति से उद्धृत अंश

5. पूर्व मीमांसा सूत्र से उद्धृत अंश

6. दीक्षित प्रभा : स्वामी विवेकानंद (लेख - दिनमान सितम्बर 1976)

7. उपनिषदों से उद्धृत अंश

-: विवेकानंद साहित्य - जन्मशती संस्करण :-

1. प्रकाशक - मुमुक्षानद स्वामी अध्यक्ष - अद्वैत आश्रम मायावती, पिथौरागढ़ हिमालय चतुर्थ संस्करण 1996 विवेकानंद साहित्य - प्रथम खण्ड

2. वही : विवेकानंद साहित्य - (द्वितीय खण्ड)

3. वही . विवेकानंद साहित्य - (तृतीय खण्ड)

4. वही : विवेकानंद साहित्य - (चतुर्थ खण्ड)

5. वही : विवेकानंद साहित्य - (पंचम खण्ड)

6. वही : विवेकानंद साहित्य - (षष्टम खण्ड)

7.	प्रकाशक - मुमुक्षानंद स्वामी अध्यक्ष - अद्वैत आश्रम मायावती, पिथौरागढ़ हिमालय चतुर्थ संस्करण 1996	विवेकानंद साहित्य - (सप्तम् खण्ड)
8.	वही	विवेकानंद साहित्य - (अष्टम् खण्ड)
9.	वही	विवेकानंद साहित्य - (नवम् खण्ड)
10	वही	विवेकानंद साहित्य - (दशम खण्ड)
11.	नटराजन, एस0	ए सेन्चुरी आफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया

*****